







प्रीति पतिता आ हस  
(एक पानीन चित्र)

“दीजो पिय की जाय सँदेस ।”



# भारत के पक्षी

(साहित्य, कला और मानव-जीवन से सम्बद्ध  
अध्ययन सहित)

राजेश्वरप्रसाद नाशयण सिंह

प्रस्तावना:

जवाहरलाल नेहरू



पब्लिकेशन्स डिवीजन  
सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली





आषाढ-श्रावण (जुलाई १९५८)

मूल्य

१२ रुपये ५० नये पैसे

## प्रस्तावना

जब मुझे बताया गया कि श्री राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह ने भारत के पक्षियों पर एक किताब लिखी है तो मुझे खुशी हुई और मैं ने उसमें दिलचस्पी ली। मुझे इस बात पर ताज्जुब और कुछ अफसोस भी होता रहा है कि भारत में चिड़ियों, जानवरों, फूलों और पेड़ों के बारे में और चीजों की बनिस्बत किस कदर कम दिलचस्पी ली जाती है। पश्चिमी देशों में इन विषयों पर वैज्ञानिक और लोकप्रिय पुस्तकें बहुत मिलती हैं। असल में, वहाँ इस तरह की किताबों की गिनती हजारों में है और नई-नई किताबें भी बराबर निकलती ही रहती हैं।

ज्ञासतौर से, बच्चों के लिए इन विषयों पर बड़ी ही आकर्षक किताबें निकल रही हैं और उनकी खपत भी खूब है। अक्सर योरोपीय बालक चिड़ियों और जानवरों, यहाँ तक कि फूलों और पेड़ों के बारे में भी बहुत कुछ जानता है। हमारे बच्चों, या बड़ों में भी, कितने ऐसे होंगे जो इन चीजों के बारे में काफी जानकारी रखते हों ? मैं समझता हूँ, ऐसे लोग बहुत न होंगे।

यह सचमुच अफसोस की बात है, क्योंकि इस तरह हम जीवन के एक ऐसे आनंद से वंचित रह जाते हैं जिसे कोई भी हमसे छीन नहीं सकता, चाहे हम शुश्रूक्षित हो या बदकिस्मत। यूँ तो इस दुनिया में परेशानियाँ भरी हैं लेकिन कितना सौंदर्य भी है। अगर हम पुसीबतों और परेशानियों से बच नहीं सकते तो प्रकृति की सुन्दरता और विविधता में रस लेकर कम से कम इस पाटे को पूरा तो कर ही सकते हैं।

भारतीय चिड़ियों का अध्ययन करनेवाले एक प्रसिद्ध विद्वान ने एक बार कहा था कि "जिस इन्सान के कानों ने चिड़ियों के मोहक संगीत में रस लेना नहीं सीखा, वह अकेला सफर करता है जबकि उसको अच्छे

साथी मिल सकते हैं"। मुझे याद है, जब मैं देहरादून जेल में था तो नियमित रूप से साल में दो बार प्रवासी चिट्ठियों को आसमान में उड़का जाते देखता था। शुरू जाड़ों में, ये चिट्ठियाँ दूर-दूर के देशों से हिमालय को पार कर भारत की गर्म जलवायु में चली जाती थीं और वसन्त में उत्तरी देशों को लौट जाती थी। इन उड़ानों को देखकर मुझे खुशी और आश्चर्य होता था - कितनी दूर से वह हर साल उसी रास्ते से जाते थे। जब हम अहमदनगर किले की जेल में रखे गए थे तब वह जगह बिल्कुल उजाड़ और अनाकर्मिक थी। चिट्ठियाँ भी वहाँ नहीं जाती थी। लेकिन कुछ समय बाद मैं ने देखा कि पथरीली ज़मीन में से तरह-तरह के नन्हे-नन्हे जंगली फूल उग आए हैं। मेरे साथी, वासफावली को फूलों के बारे में कुछ जानकारी थी, और हम दोनों इन छोटे फूलों को बहुत दिलचस्पी से देखते थे और कभी-कभी उन्हें चुनकर खाते भी थे।

बहुत सी घटनाओं में से इन दो का ज़िक्र मैंने इसलिए किया है कि यह जाहिर हो कि मामूली दुनिया से उल्ला होने पर भी प्रकृति के अनन्त रूपों को देखकर हमारा जीवन कैसे पूर्ण बन सकता है। बरसात के मौसम में बादल कैसे खूबसूरत होते हैं, उनके बदलते हुए रंगों को देखकर जो खुशी हासिल होती है, वह कभी भिटती नहीं। चिट्ठियाँ जाती हैं और हमारी साथी और मित्र हो जाती हैं। एक फूल भी हमें दुनिया की खूबसूरती की याद दिलाता है।

कुल्लू घाटी में मनाली है। वहाँ मैं अभी कुछ दिन रहा। मनाली के ऊपर हिमालय की बर्फ से ढकी चोटियाँ हैं, जिनके नीचे इस ओर तो पैड़ों से ढके मैदान हैं, और उपर है - ऊँचा, बजर पठार, जो लाहौल और स्पिती से होता हुआ तिब्बत तक चला गया है। मनाली में मैंने अपने यहाँ के खूबसूरत पहाड़ी पक्षी देखे और देवदार के विशाल वृक्षों के नीचे सैर की। वहाँ और भी कितनी ही तरह के सजीले और शानदार पेड़ थे। बाज (ओक), काज (बीच), अखरोट (वाल्नट), कनार (बेस्टनट),

अंगु (रेश), किरमोली (मैपल), कैल (पाइन) आदि कितने ही पेड़ वहा थे । लेकिन सब से शानदार हिमालय के देवदार वृक्ष थे, जो हमारे पहाड़ों में विशेष रूप से पाए जाते हैं । मनाली के वासवास, बहुत से देवदार के पेड़ हजार साल से भी ज्यादा पुराने हैं । मनाली में मेरे साथी चिड़ियां थीं और फूल और बड़े-बड़े वन-वासी वृक्ष । इन चन्द दिनों में मेरा जीवन इन सब के कारण भरा-पूरा रहा और ज़रा भी मेने ज़ेलापन महसूस नहीं किया ।

लेकिन यह किताब तो चिड़ियों के बारे में लिखी गई है । इन सुन्दर जीवों की कितनी बेशुमार किस्में हैं । चिड़ियों को दूर से देख लेना और एक तरह के आनंद का अनुभव कर लेना ही काफी नहीं है । अगर हम उन्हें पहचाने, उनके नाम - या जो नाम हम उन्हें देते हैं - उनको जाने, और उनको गाते बहबहाते सुनकर उनको पहचान सके, तो हमारा आनंद और भी बढ़ जाया । अगर हम उनके साथ इस तरह हिलमिल जायें तो हर जगह वह हमारी साथी हो जाती है ।

इसलिए मुझे बड़ी खुशी है कि भारत के पक्षियों पर यह किताब हिंदी में प्रकाशित हुई है । श्री राजेश्वरप्रसाद ने साहित्यिक प्रसंगों और अनेक चित्रों के द्वारा इस पुस्तक का सौंदर्य और भी बढ़ा दिया है । मुझे उम्मीद है कि यह किताब खूब पढ़ी जाएगी और पक्षि-ज्ञात के बारे में, जिसकी भारत में बहुतयात है, अधिकाधिक लोगों की रुचि बढ़ेगी । मैं वाशा करता हूं कि हिंदी में, बच्चों के लिए भी पक्षियों के बारे में अच्छी और आकर्षक पुस्तकें लिखी जाएंगी ।

अनादोल तासले

नई दिल्ली,

५ जून, १९५८



# निवेदन

उर्दू के एक प्रसिद्ध शायर (आजाद) ने प्रकृत कवि की मानसिक अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा था—

डूबा हुआ हूँ सर को गरेवां में डाल के,  
उडता मगर हूँ खोले हुए पर खयाल के—  
जिस तरह बाज लाये कबूतर को मार कर,  
यों लाता आसमां से हूँ मजमूँ उतार कर ।

आममा से मजमू उतार लाने की क्षमता तो मुझ में नहीं है, पर यह अवश्य है कि पक्षियों को देखकर मेरे हृदय का घट भी भावो से भर उठता है । दाना चुगता हुआ कपोत का जोड़ा एक सुखी गार्हस्थ्य जीवन का चित्र आँखों के सामने ले आता है, उड़ते हुए तोते उन विगत दिनों की याद दिलाते हैं, जब इस देश के हर घर में शुक-सारिकाओं के पिंजरे टंगे होते थे । तोतो का एक जमघट देखकर मेरे हृदय में जो भाव उत्पन्न हुए थे, वे उस लेख का आवार हैं, जिसमें तोतो की एक काल्पनिक सभा का मैंने उल्लेख किया है ।

पक्षी हमेशा से मानव-हृदय में भावों का उद्रेक करते आए हैं । आदिकवि वाल्मीकि के हृदय में काव्य की सृष्टि एक पक्षी के कारण ही तो हुई, जब एक बहेलिये के वाण से श्रौंच का वध देखकर अनायास उनके मुख से अभिशाप के कुछ शब्द अनुपटुप छन्द में निकल पड़े थे । कहते हैं, कविता का आरम्भ इन्हीं दो पक्तियों से हुआ था

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं अगमः शाश्वतो समाः  
यत्क्रौंच मियुनादेकं अवधिः काममोहितम् ।<sup>१</sup>

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में एक आवश्यक निवेदन यह है कि अधिकांशतः इसका प्रत्येक परिच्छेद एक स्वतन्त्र लेख है । किसी पक्षीविशेष को देखकर जब जो भाव हृदय में जगे, उन्हें मैंने लिपिबद्ध कर लिया । इस पुस्तक के लिखने की मेरी यही प्रणाली रही है । वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ-साथ मेरी इन भावनाओं का समावेश ग्रन्थ के

---

१—“हे निषाद, आने वाले किसी भी युग में तुम्हें प्रतिष्ठा प्राप्त न हो, क्योंकि तुमने काममोहित श्रौंच युगल में से एक का वध कर दिया है !”

विभिन्न स्थलो पर साफ-साफ परिलक्षित है । मित्रो का कहना है कि इससे पुस्तक की रोचकता बढ़ गई है, पर इस बात की वास्तविक समीक्षा तो विषय के ज्ञाता तथा विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे ।

हिन्दी पाठको में पक्षी-जाति के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न करना इस पुस्तक का मुख्य ध्येय है । यही कारण है कि इस पुस्तक की लेखन प्रणाली इस विषय की अन्य पुस्तको से कुछ भिन्न है । जिस तरह केवल व्याकरण के द्वारा किसी भाषा के आन्तरिक एवं वास्तविक सौन्दर्य का ज्ञान असंभव है, उसी प्रकार पक्षी के वैज्ञानिक विश्लेषण मात्र से ही उस का पूरा परिचय नहीं मिलता । इसके लिए उसकी जीवन सम्बन्धी बातों का ज्ञान भी उतना ही जरूरी है । यही कारण है कि पक्षियों के आकार-प्रकार या रहन-सहन के वर्णन तक ही मैंने अपनी इस रचना को सीमित नहीं रखा है । उनके जीवन में जो गहरा रोमास छिपा हुआ है, उस पर प्रकाश डालने की भी चेष्टा की है । रूप-रेखा मात्र का सीमाबद्ध ज्ञान हमें उस अग्रज की भांति, जो आज से प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व बम्बई में जहाज से उतरते ही एक हाथी को देख कर उसे मच्छर समझ बैठा था, भ्रम में डालने वाला है । मानव-जीवन में पक्षी-जगत जिस तरह घुलमिल गया है, उसका भी भरसक वर्णन मैंने किया है । विभिन्न पक्षियों की सभी जातियों और उपजातियों के सम्बन्ध में न लिख कर मैंने केवल मुख्य उपजातियों का ही उल्लेख किया है । भारतीय जीवन और साहित्य तथा चित्रकला पर उनका जो प्रभाव पड़ा है, उसकी खास तौर पर चर्चा की है । मतलब यह कि यह पुस्तक न तो भारतीय पक्षियों की सूची है, न सन्दर्भ-ग्रन्थ ही । यह पक्षी-सम्बन्धी मेरे वर्षों के अध्ययन का एक रिकार्ड या संग्रह है । इस पुस्तक से पाठको में यदि पक्षी-जगत के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न हुई तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा ।

दरअस्त पक्षी-संसार का पूरा ज्ञान हमें अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है क्योंकि जब-तब हमारे दृष्टि पथ पर ऐसे अनजान पक्षी आ जाया करते हैं जिनके सम्बन्ध में पक्षी-साहित्य मौन है, मसलन हाल ही में रांची के श्री हिचकौक के बाग में देखा गया वह कौआ, जिसकी रूप-रेखा तो कौए की है पर रंग बिल्कुल सफेद है और जो प्रतिदिन अन्य कौओं के साथ-साथ वहां आया करता है (देखिए, "स्टेट्समैन" अप्रैल २७, १९५८) । गरज यह कि अभी हमें इस दिशा में बहुत काम करना है ।

आदरणीय श्री जवाहरलाल जी नेहरू का मैं हृदय से आभारी हूँ कि अत्यन्त कार्य व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया । वह उन लोगों में हैं, जो विविध सांसारिक क्षणों में फंसे रह कर भी, प्रकृति से अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करते । पर्वत के हिममण्डित शिखर, नदी के स्रोत, वृक्ष के फूल, पक्षियों का कलरव उनके हृदय में आदि मानव की भांति ही गुदगुदी पैदा करते हैं, और उर्दू के किसी शायर के शब्दों में प्रकृति-सुन्दरी से वह यथार्थ भाव से कह सकते हैं कि—

गो मैं रहा रहीने-सितम हाथ रोजगार,  
लेकिन तेरे छयाल से गाफिल नहीं रहा ।

मैं उन मित्रों का भी आभारी हूँ जिन्होंने चित्रों को उपलब्ध करा कर इस पुस्तक की सजावट में सहयोग प्रदान किया है, खासकर हर हाइनेस महारानी

पटियाला का कतिपय रंगीन चित्रों के लिए, क्विलन के श्री टी० एस० लाल का 'गल' पक्षियों के चित्रों के लिए तथा मैनापुर के श्री एम० कृष्णन का दाविल एव वगुलो के सुन्दर चित्रों के लिए । कुमारी डाक्टर सीतालाल द्वारा खींचे गए तोते और हसावर के तथा श्री पी० सी० चतुर्वेदी के नारस, लहतोरा, नीलकण्ठ और उल्लू के रंगीन चित्रों ने पुस्तक का सौन्दर्य बढ़ाया है, बम्बई की नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी के द्वारा हरे फाखतो की तस्वीर प्राप्त हुई तथा श्री ह्यूम मार्शल की पुस्तक से कुछ अन्य चित्र—इन सबों के लिए मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ ।

३२, क्वीन विक्टोरिया रोड,  
नई दिल्ली  
७ जून, १९५८

—राजश्वरप्रसाद नारायणसिंह





# विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
पक्षी विकास और उपयोगिता	१
पक्षियों का जीवन	७
भारतीय साहित्य में पक्षी	२५
भारतीय पक्षी और चित्रकला	३३
कोयल	३७
पपीहा	४३
श्यामा	४६
दोयल या बहगल	५२
दामा	५३
चड़ल	५४
भुजगा और भृगराज	५६
बुलबुल	५६
फटिकजल	६५
कौशा	६७
कनूतर	७८
हारिल	८२
फाखता या पड़क	८६
तोता	९१
मैना	१००
कस्तूरा	१०६
शकरखोरा	१०७
फुदकी या दर्जिन	१०६
बया	११०
बसता	११३
महोख	११५
कठफोडवा	११६
अदाबील	११७
बतासी	१२०
गौरैया	१२२
सतबहिनी	१२५
लाल मुनिया	१२८
गुलाबचश्म	१२६

बबूना, पिद्दा, पतेना	१२६
स्वर्ग के पक्षी	१३१
पीलक	१३६
हुदहुद	१३८
मुटरी या महलाठ	१४२
किलकिला	१४३
वाज्र बहरी शिकरा	१४५
गरुड	१४६
चील	१५२
उल्लू	१५३
गीघ	१५६
घनेश	१६१
चिप्पक	१६४
तीतर	१६५
भटतीतर तथा लवा	१६७
सोहन चिडिया	१६८
चकोर	१६८
मोर	१७१
शीतकाल के पक्षी —	१७६
लहतोरा	१७७
रामगगरा	१७८
सहेली	१७८
थिरथिरा	१७८
चहा	१८०
चपका	१८१
बटेर	१८१
वतख	१८२
चैती	१८३
तिदारी	१८३
बुडार	१८३
सवन	१८३
सीखपर	१८३
सुरखाव	१८४
गल	१८६
हमावर	१८६
सजन	१८१
नीलकंठ	१८५
कुररी या टिटहरी	१८६

जल-तट के पक्षी :—

वगला

लगलग या महावक

सारस

दाविल और बुज्जा

पहाड के पक्षी :—

वनमुर्ग

उपसहार

पक्षियों की नामताबिका

गृष्ठ संख्या

२०२

२०८

२१२

२१५

२१७

२१८

२२२

२२५

२२६

## चित्र-सूची

प्रोषित-पतिका और हस (प्राचीन चित्र रगीन)	मुख पृष्ठ के सामने
तोता हाथ में लिए राजकुमारी (प्राचीन चित्र रगीन)	मुख पृष्ठ पर
पक्षी हमारे विनोद का साथी था (प्राचीन चित्र कागडा शैली)	पृष्ठ २४ के सामने
काग, कौन सन्देश तुम लायो, तब बोलिया सुहावन (प्राचीन चित्र कागडा शैली)	पृष्ठ २५ के सामने
	चित्र सख्या
घर की ओर	१
नेहरू जी कबूतर छोड़ते हुए	२
शान्ति का सन्देशवाहक कबूतर	३
रूठे हुए	४
प्रणय-मिक्षा	५
भुजगा	(रगीन) ६
एक प्रकार की पहाड़ी कोयल	(रगीन) ७
हारिल	(रगीन) ८
हरे फास्ते	(रगीन) ९
दो सो रहे हैं और एक पहरा दे रहा है	१०
अपना अडा अन्यत्र ले जाने हुए एक पक्षी	११
बच्चों को भोजन देते हुए	१२
गौरैया का एक जोड़ा	१३
उस्ताद मसूर द्वारा चित्रित एक पक्षी	१४
पालतू तोते	(रगीन) १५
तोता	(रगीन) १६
दर्जिन	(रगीन) १७
कठफोडवा	(रगीन) १८
मछमरनी	(रगीन) १९
जहागीर के युग में चित्रित एक पक्षी (प्राचीन चित्र)	२०
बाज द्वारा शिकार का चित्र (प्राचीन चित्र)	२१
शाह बुलबुल	२२
बुलबुल और उसका परिवार	२३
कौआ अपने घोंसले पर पहुँचते हुए	२४
उल्लू	(रगीन) २५
धनेश	(रगीन) २६

काला तीतर	(रंगीन)	२७
भटतीतर	(रंगीन)	२८
सोहन चिड़िया	(रंगीन)	२९
चकोर	(रंगीन)	३०
कबूतरों का जोड़ा		३१
लोटन कबूतर पख फैलाकर जमीन पर लोटते हुए		३२
लक्का कबूतर		३३
तोता		३४
दर्जी पक्षी अपने घोंसले पर		३५
बया का घोसला		३६
छोटा वसन्ता		३७
हुदहुद		३८
उड़ता हुआ मोर	(रंगीन)	३९
मोर	(रंगीन)	४०
लहतोरा	(रंगीन)	४१
लवा	(रंगीन)	४२
सुरखाव	(रंगीन)	४३
बहरी		४४
वाज		४५
पक्षीतिर्यम (तिरुकलुकुन्दरम) में पवित्र चोलों को पुजारी आहार दे रहा है		४६
उल्लू, सपरिवार		४७
गीघ, शिकार की टोह में		४८
तिदारी	(रंगीन)	४९
बुढ़ार	(रंगीन)	५०
लालसर	(रंगीन)	५१
सीखपर	(रंगीन)	५२
चैती	(रंगीन)	५३
तीतर		५४
चकोर		५५
श्वेत मयूर		५६
नाचता हुआ मोर		५७
स्थानान्तरण के पहले एक पड़ाव पर समूह में बैठे हुए पक्षी		५८
लहतोरा अपने घोंसले पर		५९
सहेली		६०
चहा		६१
हमावर-नमूह	(रंगीन)	६२
काला हंस	(रंगीन)	६३

नीलकण्ठ	(रगीन)	६४
टिटहरी	(रगीन)	६५
सिलही	(रगीन)	६६
नकटा	(रगीन)	६७
गल पक्षी का जोड़ा		६८
गल पक्षी आकाश में		६९
गल पानी में तैरते हुए		७०
हसावर समूह		७१
हस-युगल काश्मीर की एक झील में		७२
हंसों की जलक्रीड़ा		७३
पनकौआ तिनका ले जाते हुए		७४
बगुला सरोवर के किनारे		७५
बगुला आकाश में		७६
सारस	(रगीन)	७७
करकरा (छोटा सारस)	(रगीन)	७८
चीर	(रगीन)	७९
मोर-चीर	(रगीन)	८०
मोनल	(रगीन)	८१
धनमुर्ग	(रगीन)	८२
बगुला उड़ते हुए		८३
निशा बगुलो की जोड़ी		८४
बगुले का वच्चा आकाश में		८५
श्वेत बगुला शिकार की टोह में		८६
दाविल		८७
बुज्जा		८८
नीली आख वाला काकानुआ		८९
वाज को हाथ में लिए गुरु गोविन्द सिंह (प्राचीन चित्र	रगीन)	९०
वाज को हाथ पर लिए एक महाराजा (प्राचीन चित्र	रगीन)	९१



## पक्षी : विकास और उपयोगिता

सृष्टि का आरम्भ कब और कैसे हुआ, इसका पता आज तक कोई न पा सका, और न स्रष्टा के सम्बन्ध में ही निश्चित रूप से कोई कुछ कह पाया। आदि काल से ही लोग इसके अन्वेषण में लगे रहे हैं, तरह-तरह की अटकलवाजियां लगाई गई हैं, पर जैसा कि अकबर साहब ने कहा है कि—

सदियों से फिलसफे की चुना औ चूर्नी रही,  
लेकिन खुदा की बात जहां थी, वहाँ रही।

दर्शन शास्त्र के पंडित तथा सृष्टि-शास्त्र-वेत्ता इन प्रश्नों का उत्तर, युग-युग की इन समस्याओं का समाधान, ढूँढते ही रहे हैं। बड़े-बड़े मेधावी जनो का प्रयत्न आज भी जारी है और इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रयत्न में वे एक हद तक सफल भी हुए हैं। पर निश्चित तथ्य पर वे आज तक भी नहीं पहुँच पाए हैं।

ससार परिवर्तनशील है, उसका रूप-परिवर्तन अवश्य होता है, पर वह विनष्ट नहीं होता। ससार की हर चीज प्रतिक्षण आगे की ओर बढ़ रही है, उसे लाख कोशिशों करके भी हम न तो रोक सकते हैं, न पीछे की ओर मोड़ ही सकते हैं। नदी-प्रवाह की भाँति यह सृष्टि अग्रगामी है।

इसलिए प्राणिशास्त्र के पंडितों का यह मत है कि इस ससार के सारे जीव-जन्तुओं की रूप-रेखा में सृष्टि के आदि से ही परिवर्तन होता आया है। जिसे हम आज जिस रूप में देख रहे हैं, आज से हजारों साल पहले उसका वह रूप न था। तभी तो डार्विन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि मनुष्य के पूर्वजों में ऐसे प्राणी थे जो आकृति में एक प्रकार के वन्दर दिखते थे। पर प्राचीन मतावलम्बियों को यह बात पसन्द न आयी थी और महाकवि अकबर ने तो उन्हें खरी-खोटी तक सुना दी थी, लिखा था—

डार्विन साहब हकीकत से निहायत दूर थे,  
मैं न मानूँगा कि मूरिस आपके लगूर थे।

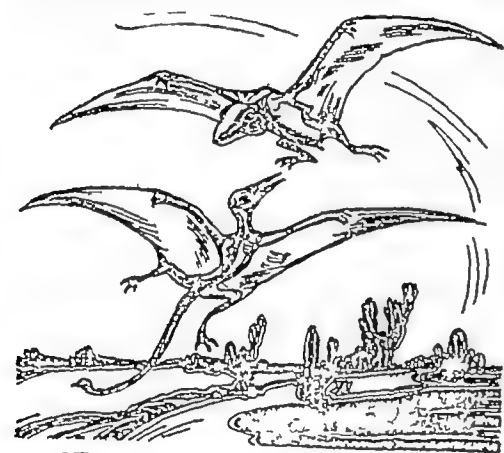
अकबर इस बात को मानें या न मानें, पर ससार के वैज्ञानिक इस विचार पर दृढ़ हैं कि आज जो चीजें इतनी सुन्दर लग रही हैं, जो जीव इतने खूबसूरत हैं, आकर्षक हैं, वे शुरू में ऐसे न थे।



स्पष्टतः पक्षियों के सम्बन्ध में भी उनका यही मत है। जो चिड़ियाँ आज इतनी सुन्दर लगती हैं वे आज से हजारों वर्ष पहले कुरूप थीं तथा उनके पूर्वज उस जाति के प्राणी थे जिसे देखकर हम आज नाक-भौं सिकोड़ते हैं, घृणा करते हैं, अर्थात् वर्तमान (सरीसृप) रेगने वाले जन्तु, छिपकली आदि। वे दो टांगों पर कूद-कूद कर चलते थे, और पखहीन थे, अतः उनके उड़ने का प्रश्न ही न था। उनकी हड्डियाँ, जिन्होंने मिट्टी के अन्दर दब कर कालान्तर में पत्थर बनी हुई मिट्टी पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है और जिन्हे आज हम “फासिल्स” या कंकाल कहते हैं—इसकी साक्षी है।

धीरे-धीरे इनके पख उग आए, यद्यपि ऐसा होने में हजारों वर्ष लग गए। भूगर्भ से निकले हुए इनके कंकालों से विशेषज्ञों ने उन विविध अवस्थाओं का पता लगाया है जिनसे होकर ये गुजरे थे, पर यहाँ इन्हें विस्तार से बताना अनावश्यक है।

कुछ पक्षी-शास्त्र-वेत्ताओं का मत है कि पक्षियों के पूर्वज तथा वर्तमान पक्षी के बीच का जन्तु है वह चमगादड़, जिसे हम अक्सर पुराने मकानों की छतों पर लटका हुआ देखते हैं। परो की जगह इसके एक खाल होती है, जो पखों का काम देती है। अनुमान किया जाता



है कि वर्तमान पक्षी के पूर्वजों की भी ऐसी ही खाल थी जो धीरे-धीरे परो में परिवर्तित होती गई। परन्तु इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इतना अवश्य है कि उन चन्द कंकालों के, जो भूगर्भ में पाए गए हैं, छिपकलियों की भाँति लम्बी पूँछ तो है ही, पर भी पाए गए हैं। कड़ियों का ऐसा ख्याल है कि ये सारी बातें अटकलबाजी की अवस्था में हैं। यदि मनुष्य के

पूर्वज लगूर थे तो सम्भव है पक्षियों के पूर्वज छिपकलियाँ रही हों, पर इसके सम्बन्ध में दृढतापूर्वक कुछ कहना कठिन है।

ससार में कुल कितनी जाति के पक्षी हैं, यह कहना भी कठिन ही नहीं, असम्भव है। फिर भी पक्षी-शास्त्र के विशेषज्ञों तथा प्रकृति-निरीक्षकों ने मोटे तौर पर जो सूचियाँ बनाई हैं उनमें ससार के प्रायः सभी प्रमुख पक्षी आ जाते हैं। पक्षियों की पहचान उनकी वनावट से होती है, पर उससे भी ज्यादा उनकी पोशाक से—उनके परो से होती है। पक्षियों की जितनी जातियाँ हैं, प्रायः उतने ही उनके परो के रंग-रूप भी हैं। ये इन्हें सुन्दरता तो देते हैं, जाड़े और गर्मी से इनका बचाव भी करते हैं। चन्द शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ये इनके सबसे जवर्दस्त गरीर-रक्षक हैं। पर साथ ही हम यह न भूले कि इनके लिए यह वरदान एक प्रकार से घातक भी है, क्योंकि अपनी सुन्दरता के कारण ही काकातुआ की बन्दी बनना पड़ता है तथा उन परो का सौन्दर्य, जिन्हें यूरोप की रमणियाँ अपने मस्तक का भूषण बनाती हैं, “स्वर्ग के पक्षी” (जिसके सम्बन्ध में आप इस पुस्तक में आगे पढ़ेंगे) के लिए प्राणघातक सिद्ध होता है। फिर भी, किसी पक्षी से

यदि हम उसके सुन्दर परो की याचना करे तो वह साफ शब्दों में हमारी प्रार्थना नामजूर करेगा ; इसमें हमें तिल मात्र भी सन्देह नहीं है ।

शैशव काल में पक्षियों के पर प्रायः सौन्दर्य-रहित रहते हैं , ज्यो-ज्यो उम्र बढ़ती है, उनका सौन्दर्य निखरता जाता है । “गल” अर्थात् गंगाचील आदि समुद्री पक्षियों के बच्चों के पर तो बरसों में अपना वास्तविक रंग ग्रहण कर पाते हैं ।

पक्षी के पर दो किस्म के होते हैं—एक बड़े और मोटे तथा शक्तिशाली, जिन्हें पख या डैने भी कहते हैं , दूसरे छोटे और मुलायम, जो शरीर के ऊपर छाये होते हैं तथा उनके बदन के भीतरी वस्त्र के समान हैं । किसी-किसी के पर बड़े होते हैं यथा पेंगुइन नामक पक्षी के, तथा कुछ के पर बाल जैसे मुलायम होते हैं, मसलन न्यूजीलैंड के “किवी” पक्षी के ।

मनुष्य जैसे वस्त्र बदलता है, वैसे ही पक्षी अपने पर बदलते रहते हैं , पुराने पर झड़ते हैं, नए उगते हैं । यह क्रिया प्रति वर्ष एक या दो बार होती है और सारी उम्र चलती रहती है ।

प्रकृति ने बहुतेरे ऐसे पक्षियों को, जो जमीन पर रहते हैं और जमीन पर ही अंडे देते हैं, मटमैला रंग देकर उनकी रक्षा की व्यवस्था कर दी है । तीतर, बटेर आदि का रंग मटमैला होता है क्योंकि वे जमीन पर रहते हैं ; रेत में रहने वाली कुररी का रंग रेत जैसा—रेतीला होता है ताकि ये पक्षी जमीन के रंग से ऐसे मिल जायें कि दुश्मनों की निगाह से बचे रहे ।

दुम और डैने पक्षियों के बड़े आवश्यक अंग हैं । दुम उड़ते पक्षी के लिए एक प्रकार की पतवार है, साथ ही ब्रेक या रुकावट भी । रफ्तार रोकते समय वह दुम की सहायता लेता है ।

डैनों के द्वारा वह उड़ता है, पर यह समझना कि वह पख मार-मार कर आगे बढ़ता है, भ्रम है । वह उन्हें आगे-पीछे, गोलाकार घुमा-घुमा कर हवा में तैरता है ।

पक्षियों की चोंच की बनावट उसके आहार तथा खाने की रीति को प्रदर्शित करती है । चोंच से ही हम समझ सकते हैं कि वह अपने खाद्य-पदार्थ को लहटोरा की तरह नोच-नोच कर खाता है या गौरंये की भांति दाना चुगा करता है । कुररी आदि कुछ पक्षी मत्स्य-भक्षी भी हैं ।

पक्षियों के पैर की बनावट भी उनके रहने की जगह के अनुसार ही होती है । पानी में रहने वाली बतखों के पैर ऐसे होते हैं जो उसके तैरने में सहायक हो । उनकी उगलियाँ आपस में एक झिल्ली से जुड़ी रहती हैं । पेड़ पर रहने वाले पक्षियों का पिछला अंगूठा मजबूत होता है ताकि वे नींद में भी डालों से गिरे नहीं , शिकारी पक्षियों के पंजे फौलादी होते हैं जिससे वह शिकार को मजबूती से पकड़ सके । गरज यह कि प्रकृति ने आवास-स्थल तथा प्रयोजन के अनुसार ही इनके अंगों की सृष्टि की है ।

चिड़ियों के आहार भी भिन्न-भिन्न हैं । कुछ ऐसी चिड़िया है जो दाना चुग-चुग कर पेट भरती है ( गौरैया आदि ) , कुछ ककड-पत्तियों के बीच खाद्यान्न चुन-चुन कर ( कपोत, फाखता आदि ) , कुछ केवल फल खाकर ( हारिल, तोते ) , कुछ फल और छोटे कीड़ों से ( कोयल आदि ) ; कुछ कीट-पतंगों से ( भुजगा वगैरह ) , कुछ गोश्त, रोटी आदि मानव-भोज्य पदार्थों से ( कौआ ) ; कुछ मांस से ( गृध्र, गरुड, चील, उल्लू ) ; कुछ मछलियों से ( बगुले, कौडिल्ले आदि ) ; तथा कुछ फूलों के रस से ( शकरबोरा आदि ) ।

चिड़ियों के दुश्मनों में मनुष्य तो है ही, स्वयं पक्षी भी एक दूसरे के प्रबल दुश्मन हैं। इनमें बाज मशहूर है, जिसके प्रति किसी कवि की यह उक्ति है—

हसि खगानन्यान्हो सुकृतस्वाथौ नैव,  
खगपलाश परहस्तगतं कुप न श्रम व्ययैव ।

फूल और पक्षी से यदि पृथ्वी विहीन होती तो शायद ससार में साहित्य और संगीत का जन्म ही न होता। हमारा जीवन सूखा-सूखा सा लगता, प्रकृति निर्जीव सी लगती। पक्षियों का मधुर संगीत तथा रूप-सौन्दर्य सासारिक जीवन से ऊबे हुए मन के लिए “टानिक” का काम करते हैं, पर इसके सिवाय भी हमारे लिए इनकी बड़ी उपयोगिताएँ हैं जिनके लिए मानव समाज को पक्षी-जाति के प्रति आभारी होना चाहिए। अब देखिए इनकी उपयोगिताएँ क्या क्या हैं

(१) मनुष्य ने बड़े-बड़े दुश्मनों पर विजय पाई है। कराल हाथी, भयंकर सिंह और बाघ, विषैले सरीसृप—इन सभी जीव-जन्तुओं को उसने अपने कावू में कर लिया है, पर छोटे-छोटे कीड़ों से वह आज तक नहीं जीत पाया है। एक बार टिट्ठियों का दल आता है और सारी फसल को नष्ट कर डालता है। हम टिट्ठियों के एक दल को भले ही मार डालें पर उनका वंश अनन्त है और हम उससे हमेशा के लिए त्राण नहीं पा सकते। यही हाल अन्य कीड़ों का भी है। जिस प्रकार उनकी वंश-वृद्धि होती है वह यदि बेरोक-टोक होती रहे तो शायद सारी पृथ्वी पर कुछ दिनों में सिवा कीड़ों के और कुछ न रह जाए। उदाहरण के लिए आलू के उस एक कीड़े को लीजिए जो ‘आलू-कीट’ के नाम से विख्यात है। वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि इस कीड़े का एक जोड़ा बिना किसी रकावट के सन्तानोत्पत्ति कर पाये तो केवल एक ऋतु में ६०,०००,००० कीड़े उत्पन्न कर सकता है। यही हाल और कीड़ों का भी है। ये कीड़े क्या नहीं कर सकते! प्लेग जैसे घातक रोग का विस्तार, फसल की अपार क्षति, वनस्पतियों का सहार, इनके द्वारा यह सभी कुछ सम्भव है। पक्षी जो हमारा सबसे बड़ा उपकार करते हैं वह यह है कि इन कीड़ों को खा-खाकर इनकी अनियन्त्रित वंश-वृद्धि को रोकते रहते हैं।

अपने बाग में आप पक्षियों को बिल्कुल न आने दें, फिर देखें, कुछ ही दिनों में आपके फूलों की क्या दशा होती है और आपके फल किस अवस्था को पहुँचते हैं। कृमियों आदि को बाढ़ से आपके बाग का सहार अवश्यम्भावी है।

(२) कीड़ों को ही नहीं बल्कि, छिपकली, चूहे, मेंढक आदि नुकसानदेह जीव-जन्तुओं की वृद्धि को भी पक्षी रोकते हैं। यदि ये ऐसा न करते तो यह पृथ्वी इन जन्तुओं से ही भर जाए। एक चूहे को ही लीजिए। कहते हैं कि चूहे का एक जोड़ा पाच वर्षों में ६४०,३६६,६६६,१४२ चूहे पैदा कर सकता है। पर ऐसा नहीं हो पाता क्योंकि हमारी आँखें बचाकर उल्लू आदि मांसाहारी पक्षी बगैर शोर मचाये, बगैर वाहवाही लिये, रात के गहन अंधकार में इनका सहार किया करते हैं।

(३) चील, कौवे, आदि कुछ पक्षियों से सफाई का काम भी चलता रहता है। मवेशियों के शव तथा विभिन्न गन्दी चीजें, जो हमारे गावों के आस पास पड़ी रहती हैं तथा जिनसे वीमारी फैलने का भय रहता है, इनके द्वारा नष्ट होती रहती हैं। क्या यह उपकार थोड़ा है ?

(४) पक्षियों से केवल सहार का ही काम सम्पन्न नहीं होता, सृजन के काम में भी ये सहायक हैं। फुलचुही, शकरखोरा आदि पक्षी एक फूल का पराग दूसरे में डाल-डाल कर नई-नई किस्मों पैदा करते हैं और इस तरह इनकी वजह से सैकड़ों नए प्रकार के फूल और फल पैदा हुए हैं, हो रहे हैं, और होते रहेंगे। इनकी चोंच, जिसमें फूलों का रस और पराग लगा होता है, विभिन्न पुष्पों का स्पर्श करके इस सृजन-क्रिया को सम्पन्न करती है, नर पौधे का पराग मादा पौधे के पास पहुँचा-पहुँचा कर वलिष्ठ पौधों के जनन में सहायक होती है। कहते हैं, इन मधुपायी पक्षियों के कारण सेमल वृक्ष के वंश को अपार लाभ हुआ है और इस तरह भारतवर्ष के दियासलाई के व्यवसाय को भी, क्योंकि दियासलाई में सेमल की लकड़ी का ही उपयोग होता है।

वसन्त काल में सेमल पर रस से मरे लाल-लाल फूल खिल आते हैं तो उन पर रसपायी पक्षियों का एक हुजूम-सा लग जाता है, दिनरात लगा रहता है। एक बार इन पक्षियों की जाति-गणना की गई तो कुल ६० जाति की चिड़िया सेमल वृक्ष पर रस-पान करती हुईं पाई गईं।

(५) यही नहीं, इन पक्षियों के द्वारा फलों की किस्म में भी इजाफ़ा होता रहा है, और फल वृक्षों के प्रसार में भी। देखिए यह किस तरह होता है।

पक्षी फल खाता है। उसके वीज उसके पेट से होकर उसकी बीट के साथ बाहर निकलते हैं तथा मिट्टी के सम्पर्क में आकर अकुरित होते हैं। कुछ दिनों में ये वृक्ष बन जाते हैं। प्रकृति को विचित्र लीला है कि पक्षियों के उदर से होकर गुजरने वाले बीजों से उत्पन्न वृक्ष अधिक हृष्ट-मुष्ट होते हैं। ये बीज साधारण ढग से बोये गए बीजों की अपेक्षा कहीं अधिक सुगमता से उपजते भी हैं। उदाहरण के लिए बट या अश्वत्थ को लीजिए। यदि आप इसके बीज बोयें तो बड़ी देर से उगेंगे—सम्भव है कि न भी उगें, पर वे ही यदि कौए के पेट से होकर गुजरते हैं, उसकी बीट के साथ-साथ बाहर होते हैं ता घरती के सम्पर्क में आते ही जल्दी और आसानी से अकुरित हो जाते हैं। इस तरह के दर्जनों पौधे मकान की दीवार तथा छतों पर, जहाँ मिट्टी का थोड़ा भी सम्पर्क रहता है, उपजते रहते हैं।

यही हाल अमरुद का भी है। पक्षी के उदर से होकर गुजरे हुए बीज-वृक्ष के फल कलमी वृक्षों की अपेक्षा कहीं अधिक मीठे, सुस्वादु तथा बड़े होते हैं।

इसी तरह जब किसी वृक्ष के फल खा-खाकर पक्षी पर्यटनशील रहते हैं तो एक देश या प्रान्त के फल-वृक्षों की उत्पत्ति दूसरे देशों में होती है। पक्षी-जाति की यह भी एक अमूल्य देन है।

(६) कुछ पक्षी, जिन्हें हम 'शिकार के पक्षी' कहते हैं, भोजन के काम भी आते हैं। मुर्गी, तीतर, बटेर और जल की बतखें आदि प्रसिद्ध भक्ष्य पक्षियों में हैं। मासाहारियों के लिए ये सुस्वादु तो हैं ही, आयुर्वेद के कथनानुसार कई रोगों में बड़े लाभदायक भी हैं।

(७) पक्षियों के पर—सुरखाव के पर आदि—नारी-समाज के शृंगार के साधन हैं, उनको सौन्दर्यवृद्धि में सहायक हैं। पुरुष भी किसी-किसी देश में इन्हें सर पर धारण किया करते हैं।

(८) पक्षियों की बीट खाद के काम में भी आती है। कबूतरों की बीट खाद

## भारत के पक्षी

तौर पर इस काम के लिए बड़ी उपयोगी मानी गई है और काफी तादाद में प्राप्य भी है। 'वायलट' आदि मौसमी फूलों के लिए तो यह अमृत के समान है।

(६) सन्देश-वाहक का काम भी ये पक्षी बड़ी निपुणता से करते आए हैं। प्राचीन काल की बातें जाने दीजिए, जब हंस दमयन्ती का सन्देश-वाहक बना था या हीरामन तोता राजकुमारी का। आधुनिक समय में भी कपोत सन्देश-वाहक का काम जिस खूबी से करते हैं यह सर्वविदित है। खास कर लडाई के दिनों में कबूतर बड़े काम के साबित हुए हैं। तभी तो अकबर ने ऐसे २०,००० कबूतर पाल रखे थे। श्री जोश मलसियानी के इस शेर में कबूतर के इस इस्तेमाल की ओर ही इशारा है—

हाय, लाया भी तो क्या लाया मेरे खत का जवाब,  
वालों-पर नुचचा के आ बैठा कबूतर सामने।

तात्पर्य यह है कि पक्षी-समाज अनेक प्रकार से हमारे लिए लाभदायक सिद्ध हुआ है। यह सही है कि यह फसल का दुश्मन भी है, पर इसकी एक बुराई इसकी मलाइयों में उसी प्रकार छिप जाती है जैसे चाद में उसकी कलक-कालिमा—

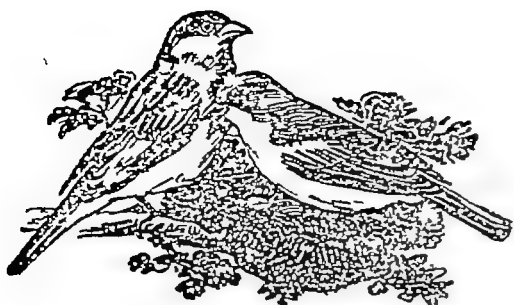
एकोहि दोषो गुण सन्निपाते,  
निमज्जितीन्दोः किरणेष्विववाक्।

पक्षियों के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उनकी पूर्णायु का है। किस पक्षी की आयु कितनी है, यह कहना कठिन है। इसका वास्तविक पता पाना कठिन तो है, पर जब से पक्षियों को पैर में छल्ला पहनाने की प्रणाली चल पड़ी है तब से यह कुछ आसान-सा हो गया है। इन छल्लों की मदद से साधारण तौर पर यह पाया गया है कि बड़े पक्षियों की आयु अधिक होती है, छोटी की कम। यह भी मालूम हुआ है कि जंगल में रहने वाले पक्षियों की अपेक्षा पालतू पक्षी ज्यादा दिन तक जीवित रहते हैं।

विलायत के एक पक्षी-विशेषज्ञ के अनुसन्धान का नतीजा, चार पक्षियों के सम्बन्ध में, इस प्रकार है

जाति	पूर्णायु (पालतू अवस्था में)	पूर्णायु (जंगली अवस्था में)	औसत आयु (जंगली अवस्था में)
कस्तूरा	१७ वर्ष	६ वर्ष	१½ वर्ष
कस्तूरी	२० वर्ष	१० वर्ष	१½ वर्ष
विदेशी मैना	१५ वर्ष	६ वर्ष	१½ वर्ष
दहगल	२० वर्ष	११ वर्ष	१-१½ वर्ष

गरज यह कि जहाँ छोटी चिड़िया जंगलों में औसतन १½ वर्ष से अधिक नहीं जीती, वहाँ बड़े पक्षी स्पष्टतः ज्यादा दिनों तक ज़िन्दा रहते हैं, जैसे कि उल्लू, जिनकी जंगली अवस्था में औसतन आयु पांच साल की होती है या गरुड, जो कि औसतन चार साल तक जीते हैं।



## पक्षियों का जीवन

वन-उपवन की तरु-शाखाओ, समुद्र, नदी, तालाव के जल या कूलो पर, घोर जंगल और पहाड़ों के बीच या कि हमारे घरों के कार्निस पर अथवा पुराने मकानों की सूराख में रहने वाले, सुदूर व्योम में उड़ने वाले या गृह-प्रागण में विचरण करने वाले पक्षियों के जीवन में भी एक अद्भुत रोमास भरा हुआ है जिसकी मिसाल सिवाय मानव-जीवन के किसी और जीव-जन्तु के जीवन में पाना मुश्किल ही नहीं, असम्भव है।

इनके रोमानी जीवन का आरम्भ तभी होता है जब कि अंडे के भीतर इनमें जीवन-शक्ति का संचार हो आता है तथा अंडे की कंद से बाहर निकलने को ये व्याकुल हो उठते हैं। यदि आप बड़े पक्षियों के अंडे पर, जब कि उसके फूटने का समय निकट आ जाता है, कान रखें तो आप ठहर-ठहर कर एक ध्वनि सुनेंगे तथा अंडे को हिलता हुआ पायेंगे। ये उस उद्योग के परिचायक हैं जो अंडे के भीतर विहग-शिशु बाहर आने के लिये कर रहा है; मानो वह अंडे रूपी कंदखाने के द्वार पर उसे तोड़ने के लिये चोट-पर-चोट दे रहा है।

अतः उसका परिश्रम सफल होता है तथा अंडे के बीचों-बीच अथवा अन्य किसी चौड़े स्थल पर जाति भेद के अनुसार एक दरार हो जाती है और कंदी बाहर निकलता है। उस समय तक वह एक तरल पदार्थ से भोगा हुआ-सा रहता है जो हवा के लगने से शीघ्र ही सूख जाता है। मुर्गी, तीतर, शूतुरमुर्ग आदि के बच्चे तो निकलते ही दौड़ना शुरू कर देते हैं, पर तोता, फाखता, कौए के शिशु कई दिन तक आख नहीं खोल पाते, वे एक निरीह-सी अवस्था में पड़े रहते हैं तथा हफ्तों तक घोंमले में ही अपने शैशव के दिन बिताते हैं। आश्चर्य है कि उन पक्षियों के बच्चे, जो तीक्ष्ण बुद्धि के लिए विख्यात हैं, प्रारम्भ में असहाय्य अवस्था में रहते हैं, पर मन्द बुद्धिवानों के बच्चे अंडे से बाहर होते ही चलना-फिरना और उड़ना तक शुरू कर देते हैं। यह भी प्रकृति की एक विचित्र लीला है।

महाकवि विद्यापति ने कहा है—

समय पाय तरवर फर रे

कतबो सिंचु नीर ।

—समय आने पर ही तरवर फलते हैं, चाहे उनमें कितना भी जल डाला जाए। पक्षियों का भी यही हाल है। प्रजनन-काल आने पर ही वे जोड़ा बांधते हैं, अंडे देते हैं, लाख

कोशिश करके भी हम उनसे असमय में अंडे नहीं दिलवा सकते ।

जब अंडा देने का समय आता है तो मादा के अंडाशय में अंडा आकार लेने लगता है । फिर वह जोड़ा बाधती है और तब इन अंडों के भीतर अंडाशय की नाली में नर के द्वारा उर्वरत्व स्थापित होता है । जिन पदार्थों से मास-पिण्ड बनता है या परो की सृष्टि होती है वे विकसित होते हैं तथा धीरे-धीरे बढ़ने लगते हैं । फिर उपयुक्त समय पर मादा अंडे देना शुरू कर देती है । अंडों की निश्चित संख्या पूरी होने पर उनका सेना शुरू होता है । हर एक पक्षी के अंडों की एक निश्चित संख्या होती है । जब तक वह पूरी नहीं हो जाती है, वह अंडा देना समाप्त नहीं करती । बीच में यदि पारे हुए अंडे को आप हटा डालें तो वह पुनः अंडा देकर निश्चित संख्या पूरी करेगी । मसलन, यदि किसी चिड़िया के पांच अंडे हुआ करते हैं पर आप उसके अंडों को हटाते जाएं तो वह तब तक अंडे देती ही जाएगी जब तक उसे सन्तोष न हो जाए कि अंडों की निश्चित संख्या पूरी हो गई है, भले ही इस उद्योग में उसे पांच के बदले बीस अंडे तक देने पड़ जाए । फिर भी उसके अंडाशय के भीतर कुछ अंडे बच ही जाते हैं जो अन्ततः शरीर में ही मिल जाते हैं, उसमें ही सूख जाते हैं ।

जब बाकायदा अंडों का सेना प्रारम्भ होता है तो अंडों के पारने का द्वार अवरुद्ध-सा हो जाता है । किसी-किसी पक्षी के सम्बन्ध में यह पाया गया है कि वह बीच में, अर्थात् अंतिम अंडा पारने के पहले सेना प्रारम्भ कर देता है, पर ऐसा कम होता है तथा बाद के अंडों की संख्या अधिक नहीं हो पाती ।

अंडा देने के दिनों में मादा का ध्यान इस काम में कुछ ऐसा लग जाता है, उसमें ऐसी एकाग्रता उत्पन्न हो जाती है, कि यदि आप उसके अंडों को हटा कर कोई दूसरी वस्तु जैसे पत्थर के टुकड़े, रोड़े इत्यादि भी रख दें तो वह बगैर देखे-सुने उन पर बैठकर उन्हें सेती रहेगी । यही नहीं, उसके वक्षस्थल पर एक या उससे अधिक ऐसे स्थान निकल आएंगे जहाँ के पर गिर पड़ेंगे ताकि त्वचा से अंडों का सीधा सम्पर्क बना रहे और वे शरीर की गर्मी से लाभ उठा सकें और वृद्धि पाए । शरीर के पर-रहित स्थान का तापमान अन्य स्थलों से अधिक होता है, क्योंकि परो के अभाव से तथा रगड़ से वहाँ रक्त अधिक मात्रा में जमा रहता है ।

वहुधा ऐसा देखा गया है कि अंडों के खराब या निर्जीव हो जाने पर भी मादा एक लम्बे अर्से तक उन्हें सेती रहती है । उपयुक्त समय पर अंडे के भीतर एक खलवली उत्पन्न होती है तथा अंडे के भीतर से बाहर निकलने के लिए विहग-शिशु व्याकुल हो उठता है, जिसकी चर्चा उपर्युक्त पक्षियों में की जा चुकी है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि उपर्युक्त सारे काम बुद्धि के द्वारा होते हैं, मनुष्य की भाँति, अथवा अन्तस् की प्रेरणा से ? ध्यानपूर्वक देखने से ऐसा लगता है कि ये काम बुद्धि से नहीं, अन्तर्प्रेरणा के द्वारा ही संचालित होते हैं । यदि ये बुद्धि के द्वारा सोच-विचार कर किये जाते तो इनमें भिन्नता होती, पर यथार्थ में ऐसा पाया जाता है कि यदि सी अथवा हजार पक्षी भी किसी ऐसे काम को करते हैं तो उनकी कार्य-विधि में एक अजीब समानता होती है । इसके ठीक विपरीत बुद्धि के द्वारा किये गये काम कभी एक-सा नहीं होते, 'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्न' के सिद्धान्त पर दस-बीस-पचीस की बात तो दरकिनार, दो प्राणी भी कभी ऐसा काम न करेंगे जिसमें भिन्नता न हो—जो हवहू एक-स हों ।

बुद्धि तथा अन्तस्फूर्ति के द्वारा प्रेरित कामो के बीच यह एक बहुत बड़ा फर्क है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि जब अंडे के भीतर से पक्षी बाहर निकलने की कोशिश करता रहता है, उसके मा-बाप काफी सतर्क रहते हैं, किसी खतरे की आशंका प्रतीत होते ही वे एक खास तरह की आवाज़ करते हैं जिसे सुनते ही वह शांत हो जाता है; खतरा मिट जाने पर, मादा एक भिन्न प्रकार की आवाज़ करती है और वह पूर्ववत् बन्दी-गृह के द्वार पर चोट देना, प्रहार करना, आरम्भ कर देता है। आखिर इस आवाज़ या खतरे की घन्टी के समझने की क्षमता, सिवाय अन्तर्प्रेरणा या सहजज्ञान के, उसे कहा से मिलती है? किसी ने ठीक ही कहा है—

जाके फुल की जौन है, ताके फुल की तौन,  
बाज-बाघ के बाचवा, पकड़ि सिखावत फौन?

प्रकृति इन्हे अन्तर्प्रेरणा दे कर इनकी जीवन-रक्षा का प्रवन्ध करती है। यही नहीं, वह और सूरतें भी प्रदान करती है, जैसे कि जमीन, जंगल की झाड़ी अथवा नदी के तट पर निवास करने वाले पक्षी के शरीर का रंग ऐसा बनाती है कि वह मिट्टी से मिलता-जुलता सा हो, जल्दी पहचाना न जाए और इस प्रकार अपने दुश्मनो की कुटिल दृष्टि से वह बचा रहे।

खतरे की जिस सूचना की चर्चा ऊपर की गयी है उसे नर या मादा अपने बच्चो को एक खास आवाज़ के द्वारा देती है तथा वे उसे सुन कर ऐसा वरतते हैं मानो उनकी शिक्षा-दीक्षा किसी शिक्षालय में हुई हो। मसलन, यदि कोई तीतर अपने बच्चो के साथ जा रहा हो और हम उसके रास्ते में आ जायें तो वह फौरन एक आवाज़ करके स्वयं झाड़ियों में जा छिपेगा। बच्चे सज्ञानूय-से होकर खड़े हो जायेंगे—मानो मिट्टी अथवा पत्थर के निर्जीव टुकड़े हो—तथा उसी मुद्रा में तब तक खड़े रहेंगे जब तक कि हम वहां से गायब न हो जाए। खतरे के हटते ही वह तीतर, जो स्वयं झाड़ी के भीतर से सारे दृश्य को देख रहा होगा, पुन बच्चो से आ मिलेगा और फिर वे साथ-साथ आगे की ओर बढ़ेंगे।

गरज यह कि जो काम हम अन्तस्फूर्ति के साथ-साथ बुद्धि के द्वारा भी करते हैं, तथा जिसे पूरा करने में हम कभी-कभी चूक भी जाते हैं, उसे ये पक्षी बड़ी खूबी के साथ अपनी अन्तस्फूर्ति की सहायता से सम्पन्न कर लेते हैं।

पक्षियों के नवजात शिशु अपने सहजज्ञान के द्वारा अपनी जीवन-यात्रा के प्रारम्भिक दिन व्यतीत करते हैं। फिर आते हैं उनकी शिक्षा-दीक्षा के दिन, जो उन्हें अपने मा-बाप के द्वारा प्राप्त होती है। आपने बहुधा अपने बाग में देखा होगा कि घोंसले से तुरत के निकले हुये बच्चो को उनके माता-पिता अपनी चोंच से सहायता करके या स्वयं उनके सामने पख फड़फड़ाकर, उड़ कर, उड़ना दिखा-दिखा कर उन्हें उड़ने की शिक्षा देते हैं, कभी-कभी उड़ने में उन्हें दैहिक सहायता दे कर बल-प्रदान भी करते हैं। कभी-कभी प्रलोभन भी देते हैं। वे मुह में खाने की कोई स्वादिष्ट वस्तु रख लेते हैं और उसे बच्चो को दिखा कर उड़ने लगते हैं। बच्चे स्वभावतः उसके लोभ में पीछे-पीछे उड़ने की चेष्टा करते हैं—और इस तरह उड़ना सीख लेते हैं। बच्चो में कुछ ऐसे भी होते हैं जो जल्दी उड़ना नहीं चाहते, उन्हें ये बलपूर्वक घोंसले के बाहर निकाल देते हैं ताकि वे विवश होकर उड़ने का अभ्यास करें। बाज तथा गरुड खास तौर पर बच्चो के बड़े होने पर चोंच मार-मार कर उन्हें घर से निकाल देते हैं और उन्हें जीवन यात्रा में एक प्रकार से अपने पैरो



पर खड़ा होने को विवश करते हैं। इसके सम्बन्ध में एक चश्मदीद गवाह "ए बर्ड फोटोग्राफर इन इंडिया" नामक पुस्तक के लेखक का बयान सुनिये—

"मैं जिस घोंसले की बात कर रहा हूँ उसके भीतर के विहग-शिशुओं के पर निकल आये थे और अब वे चंद घंटों के भीतर ही बाहर निकलने वाले थे। मुझे देर तक प्रतीक्षा न करनी पड़ी। घोंसले के वयस्क पक्षियों में से एक का चित्र जब मैं उतार चुका तो मैंने देखा कि मा-बाप में से कोई भी बच्चों को दाना खिलाना नहीं चाह रहा है, बल्कि वे मुह में दाना रखकर सामने के नीम-वृक्ष की एक डाल पर बैठे हुए तरह-तरह की बोलिया बोल रहे हैं मानो उन्हें प्रथम बार पख-प्रयोग के लिए फुसला रहे हैं। प्रायः आध घंटे के बाद घोंसले के भीतर से एक शिशु बाहर निकला पर पुनः अन्दर घुस गया। तीन-चार बार ऐसा करके उसने इस नये प्रयास में कूद पड़ने का निश्चय कर लिया—तथा अन्त में अपने मा-बाप के पास पहुँचने में समर्थ हो सका। उसके माता-पिता की उत्तेजित आवाज़ से यह साफ परिलक्षित था कि जब वह ऐसा कर रहा था, अर्थात् उड़ने के प्रयास में था, वे आशका-चिन्ता से परिपूर्ण हो रहे थे। उद्योग में सफल होने पर उन्होंने इसे दुगुना दाना खाने को दिया तथा इसे लेकर वे एक दूसरी डाल पर चले गये।"

मुह में दाना रख कर मा-बाप बच्चों को किस तरह दूर से उड़ने के लिये प्रोत्साहित या विवश करते हैं, उन्हें प्रलोभन देते हैं और उनके साहस पर उन्हें पुरस्कृत करते हैं, इसका यह अत्यन्त रोचक, आखी देखा, वृत्तान्त है।

पक्षी 'परोपदेशे पाडित्य' के सिद्धान्त पर नहीं चलते, बच्चों को अपने आचरण के द्वारा ही शिक्षा देते हैं, जो कहते हैं वह स्वयं कर दिखलाते हैं। पानी में तैर कर तैरने का तरीका बताते हैं, बड़े कीड़े को मुह से दूर कर या उनसे अलग रह कर तथा छोटी को खा कर उन्हें यह सिखाते हैं कि उनका आहार बड़े कीड़े नहीं, छोटे कीड़े हैं।

मतलब यह कि अन्तस्फूर्ति तथा मा-बाप की व्यावहारिक शिक्षा के द्वारा पक्षी-समाज के शिशु अपना शैशव-काल समाप्त कर इस योग्य बनते हैं कि वे अपनी बुद्धि का प्रयोग कर सकें। शिक्षक की आवश्यकता हर एक को, हर हालत में, होती है, 'गुरु विनु कौन दिखावे बाट'—इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

पर यह तब की बातें हैं जब वे अंडे के अन्धकार से निकलकर भासमान सूर्य की ज्योति में प्रथम-प्रथम विचरण करना आरम्भ करते हैं। इसके पूर्व जब वे अंडा रूपी जेल के भीतर कैद रहते हैं, उनके मा-बाप बड़ी तत्परता से अंडे सेकर, अपने पखों से उसे गर्म रख कर, उनकी रक्षा करते हैं। अंडा सेने का काम अधिकतर मादा के हिस्से में ही पड़ता है, पर नर भी, खास कर उन पक्षियों के, जिनकी बौद्धिक शक्ति का विकास अधिक नहीं हुआ है, उसके इस काम में हिस्सा बटाते हैं, यदा-कदा अंडे सेकर उसे अवकाश देते हैं कि वह घोंसले से बाहर निकल कर कुछ दाने चुगें, स्वच्छ वायु का सेवन करें तथा अपने पांव सीधे कर ले।

तीक्ष्ण बुद्धि वाले पक्षियों की प्रणाली इनसे कुछ भिन्न है। इनमें अंडा सेने का काम मादा ही करती है, नर उसके लिए तरह-तरह का खाना जुटाता है, उसकी सुरक्षा के सारे प्रबन्ध करता है, किसी खतरे के उपस्थित होने पर उसे सतर्क करता है, किसी बाहरी पक्षी के आने पर उससे लड़ने को तैयार रहता है, मादा के मन-बहलाव के लिए तरह-तरह से गाता है, नाचता है, उसके आराम तथा प्रसन्नता के सारे सामान

बूटाता रहता है। मानव-जाति में कितने ऐसे पति हैं जो अपनी गर्भवती पत्नी के लिए इसका अल्पाश भी करते हैं ?

सूर्य की अन्तिम किरणें जब धीरे-धीरे क्षीण हो चलती हैं तथा आती हुई सव्या के पावों के नूपुर चरगाह से लौटती हुई गड्ढों के गले की क्षुद्र घटिकायें बन कर वज्र उठते हैं तो मादा—जो सारा दिन अडे सेती रही है—नीड़ से निकल कर बाहर आती है, दो-चार बार पख फड़फड़ा कर थकान मिटाती है, शीघ्रतापूर्वक कुछ आहार ग्रहण करती है और फिर अपने बसेरे को लौट जाती है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह बाहर के प्राकृतिक सौन्दर्य पर मोहित होकर इधर-उधर उड़ना शुरू कर देती है, कभी इस वृक्ष पर कभी उस पर जा-जाकर दिन भर के थके हुए अपने मन को ताजा करने की कोशिश करती है, उड़कर नीड़ (बसेरे) से दूर जा बैठती है, तो नर फौरन उसके पास जाकर उससे अनुनय-विनय करने लगता है कि वह घोंसले को लौट चले। मादा बसेरे को लौटती है पर सँर-सपाटे की उसकी प्रवल आकाक्षा उसे पुनः उड़ा ले चलती है, नर भी उसके साथ हो लेता है और तरह-तरह से इस बात की कोशिश करता है कि वह शीघ्रातिशीघ्र बसेरे को लौटे।

अन्त में वन-विहारिणी, स्वेच्छाचारिणी, प्रकृति-सौन्दर्य-मग्ना मादा विवश होकर अपने घर को लौटती है। श्री हडसन ने अपनी पुस्तक में ऐसे ही एक दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है—

“यह भी एक अत्यन्त रोचक दृश्य था—मादा का बसेरे से दूर भागना, नर का जोरो से उसका पीछा करना, और फिर बड़ी कोशिशों के बाद उसका घर लौटना, पर पुनः सहसा उसका गृह-द्वार से उड़ खड़ा होना, और तब व्योममण्डल में नर का मादा को पकड़ने का उत्पन्न प्रयत्न। एक बार मादा को प्रसूति-गृह में लाने के लिए नर को पूरे चार बार अथक प्रयत्न करते हुए मर्ने देखा था। चौथी कोशिश के बाद मादा ने अडों पर बैठना स्वीकार किया—और तब उसका पति सँर-सपाटे को बाहर निकल चला।”

मादा का घोंसले से बार-बार दूर भागना—नीड़ प्रवेश की उसकी अनिच्छा—जिसका श्री हडसन ने उल्लेख किया है, एक प्रकार से स्वाभाविक भी है। चूँकि उसे वन-उपवन की खुली हुई जगहें त्याग कर हफ्तों घोंसले के भीतर बैठना पड़ता है, अतः यदि इस जीवन से उसका जी ऊबता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? किसी किसी पक्षी को तो महीनो अडे सेते बीतते हैं। मुरी को अडा सेने में तीन सप्ताह लगते हैं, तीतर को चार, हंस को पाच तथा कैन्डर नामक पक्षी को पूरे दो महीने।

मनुष्यों में बहुत से ऐसे लोग होते हैं जिनकी पुत्रपुत्री बड़ी प्रवल होती है और इस की पूर्ति के लिए वे शादी पर शादी करते जाते हैं। पक्षियों में भी कुछ ऐसे हैं जिनका यही हाल है। यह उनकी अडा सेने की उत्कट आकाक्षा से स्पष्ट परिलक्षित है। कबूतरों में आपने देखा होगा, नर बड़े चाव से अडे सेता है यही नहीं, बल्कि मादा को हटा कर अडों पर बैठता है। नर स्वयं अडे नहीं दे सकता, अतएव वह किसी तरह मादा को रिझा कर जोड़ा बाध लेता है, मादा से अडे दिलवा लेता है और फिर उसके बाद उसके सेने तथा शिशु-पालन की सारी क्रियाएँ स्वयं बड़े चाव से सम्पन्न करता है। इसी तरह का एक दूसरा पक्षी आँक है जो लैपलैण्ड में पाया जाता है। इस जाति के पक्षियों में नर की सख्या अधिक है, मादा की कम, अतः सभी नर जोड़ा बाधने में सफल नहीं हो

पाते हैं। पर उनकी अंडा सेने की—सन्तानपालन की—अभिलाषा दिल से नहीं जाती।

अप्रैल के आस-पास इस जाति के पक्षी समुद्र से उठकर निकटवर्ती एक खास टापू में, जहाँ साल-दर-साल ये अंडे दिया करते हैं, आ जाते हैं। फिर जोड़ा बाधने की क्रिया शुरू होती है। इनमें नर अधिक होते हैं मादा कम। अतः कुछ अविविवाहित ही रह जाते हैं। पर ये अपना शौक विवाहित और दम्पति के साथ-साथ रह कर किसी तरह पूरा करते हैं। नर-मादा जब एक दूसरे के प्रति प्रेम-प्रदर्शन करते रहते हैं—चोंच से चोंच मिलाते हैं, गाते हैं—तो अविविवाहित और उनके पास खड़ा इसे देखता रहता है—नेत्र-सुख से ही सतोष प्राप्त करता है। यही नहीं, किसी एक और दम्पति के परिवार का मित्र बनकर उनके प्रसूति-स्थान पर खड़ा रह कर नर के साथ-साथ पहरा देता है और जब वे दोनों कुछ काल के लिये समुद्र तट की सैर को चल देते हैं तो उनके अंडों पर बैठकर अंडा सेन की अपनी इच्छा पूरी करता है। इसके ठीक विपरीत कुछ पक्षी ऐसे भी हैं जो अंडों को स्वयं न सेकर दूसरों से सेवाते हैं। कोयल, पपीहा आदि इनमें मुख्य हैं जो चोरी से अपने अंडे कौए, सतमइए आदि के घोंसलों में रख आते हैं और उन्हें बेवकूफ बनाकर उन से घात्री का काम लेते हैं। ये किस धूर्तता के साथ इस काम को करते हैं, यह इस पुस्तक में अन्यत्र दिये गये उनके जीवन-वृत्तान्तों से ज्ञात होगा। तीसरी प्रकृति के वे पक्षी हैं जो अंडों को न तो स्वयं सेते हैं और न औरों से सेवाते हैं, बल्कि उन्हें घूप के ताप से पका कर उनकी रक्षा करते हैं, जैसे कि सिकतामय प्रातरों में निवास करने वाले शुतुरमुर्ग। ये अपनी छाती की रगड़ से गढ़ा तैयार करते हैं और उसके चारों ओर चोंच से घालू रख कर एक दीवार सी खड़ी कर लेते हैं। फिर इसी में मादाएँ प्रायः बीस से तीस तक अंडे देती हैं—मादाएँ इसलिए कि शुतुरमुर्ग की एक ही मादा नहीं होती, एक नर की कई पत्नियाँ होती हैं और ये सभी बारी-बारी से इसमें अपने अंडे पारती जाती हैं।

अंडे देने का काम पूरा हो जाने पर इन पर एक हल्की-सी बालू की परत बिछा दी जाती है। दिन भर सूर्य की किरणों से ये अंडे गर्म रहते हैं, रात्रि काल में ये इन पर बैठ कर इन्हें उष्णता प्रदान करते हैं।

कई पक्षी ऐसे हैं जो किसी उष्ण जल के क्षरण के पास गढ़े बना कर उनमें अंडे देते हैं, फिर उन्हें मिट्टी से ढाँप कर अन्यत्र चल देते हैं। क्षरण के उष्ण जल से ये अंडे गर्म रहते हैं। समय पूरा होने के दिन ये लौट कर आते हैं और ऊपर की मिट्टी को हटा देते हैं। फिर अंडे फोड़-फोड़ कर बच्चे बाहर निकल आते हैं। सेलिबस नामक एक टापू इन पक्षियों का निवास-स्थान है।

जहाँ सख्त गर्मी पड़ती है, वहाँ के पक्षी अंडों को ठंडा रखने की व्यवस्था करते हैं, गर्म रखने की नहीं, और इसके लिए वे जल में अपनी चोंच भिगो-भिगो कर उनसे अंडों को भिगोते रहते हैं ताकि अत्यधिक ताप के कारण उन्हें नुकसान न पहुँचे।

कितनी रोचक है पक्षियों की ये सन्तानपालन की क्रियायें।

यही नहीं, जिस तत्परता के साथ ये अंडे सेते हैं, उनकी रक्षा करते हैं तथा अपनी सन्तान का पालन-पोषण करते हैं उसी तत्परता के साथ ये अपने बच्चों की रक्षा भी करते हैं।

कई तो नींद के ऐसे जवर्दस्त पहरेदार हैं कि किसी अपरिचित आगन्तुक पक्षी अथवा

दुश्मन के आने पर अग्निशर्मा हो उठते हैं और जान की वाजी लगा कर उन पर टूट पड़ते हैं। एक बार एक सज्जन को उल्लू पालने का शौक हुआ। उल्लू के एक घोंसले के पास जाकर उन्होंने देखा, एक शिशु चो-चो कर रहा है। वस फौरन उसे हाथ में लेकर वह वहां से चलते बने। थोड़ी दूर ही गये होंगे कि ऊपर से किसी ने उनके सिर पर जोर से चोट मारी। खून निकल आया। आख उठा कर देखते हैं तो बड़ा-सा उल्लू उनके सिर पर मडरा रहा है, मानो पुन चचु-प्रहार की चेष्टा कर रहा हो। वच्चे को जमीन पर फेंक कर वह फौरन वहां से नौ-दो-ग्यारह हुए।

यह तो बड़े पक्षियों की बात है। यदि आपको छोटे पक्षी का तमाशा देखना हो तो किसी भुजगे के घोंसले के पास चले जायें। चोंच मार-मार कर यह आप को परेशान कर डालेगा।

सन्तान-रक्षा में बहुधा देखा गया है कि पक्षी अपनी जान की भी परवाह नहीं करते। टामस एडवर्ड नामक एक सज्जन का कहना है कि एक बार किसी झंझावात के बाद वह रास्ते से गुजर रहे थे, कि उन्होंने एक जंगली बतख को छाती से कुछ दबाये हुए पाया। निकट जाकर देखा तो वह अपने ग्यारह अडों के साथ घोंसले को छाती से लगाए मरी पड़ी थी। जाहिर है कि झंझावात से अडों को बचाने में ही उसने प्राण गवा दिये थे।

एक घटना मेरी आंखों के सामने घटी। "गुलमोहर" के एक वृक्ष पर पीलक का एक घोंसला था। नर-मादा घोंसले के पास बैठे हुए नवजात शिशुओं की निगरानी कर रहे थे। इतने में एक कौआ वहां आ घमका। वस पीलक की त्योरिया चढ़ गयी और नह हुकारता हुआ कौए पर टूटा। कौआ भाग चला। पीलक ने उसका पीछा किया तथा उसके अगो पर चोंच मारता हुआ उसे वह बाग की सरहद के पार तक भगा आया। फिर लौट कर इस तरह बैठा जैसे दगल में विजयी कोई पहलवान हो।

चिड़िया सन्तान-रक्षा में तरह-तरह की बहानेवाजिया करके आगन्तुक को अचम्भे में भी डाल देती है। बहुधा ये उसे देखकर लगडाने लगेंगी, मानो किसी शिकारी के द्वारा घायल की गयी हो। दुश्मन—शिकारी, वधक, श्वान, शृगालादि—उन्हें पकड़ने की उम्मीद में उनका पीछा करेगा। वे दूर तक चकमा देती हुई निकल जायेंगी और तब एकाएक तेजी से उड़ कर कहीं चल देंगी। और इस तरह दुश्मन को घोंसले से दूर ले जा कर उसे पथभ्रष्ट कर देंगी ताकि वह किसी और दिशा को चल दे तथा नीड़ के शिशुओं पर आयी हुई आपदा इस तरह टल जाये।

विलायत में टिट्टिब पक्षी के अडे बडे कीमती समझे जाते हैं तथा उनकी तलाश में अडा-विक्रेता नदी के कछारों में अक्सर घूमते रहते हैं। अडों के सही स्थान से दूर बैठे हुए टिट्टिब अपनी कर्णपूर्ण बोली से इन विक्रेताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती रहती है ताकि उसकी भावी सन्तान सुरक्षित रहे।

छांटी-छोटी चिड़ियों में यह बहुधा देखा गया है कि ये शिशु-पालन में भेद-भाव नहीं रखती तथा खिलाते वक्त दूसरे के वच्चे को भी उसी अपनी आनन्द से खिलाती हैं जैसे अपनी सन्तति को। इसमें ये एक कौतूहल अनुभव करती हैं।

चिड़िया दूसरों की आख में धूल झोकना भी खूब जानती है। वे जब घिर जाती

हैं तो मृतवत् होकर जमीन पर लैट रहती हैं, देखने वाला उन्हें मरी समझ कर आग की ओर वढ चलता है और तब ये फौरन जमीन छोड कर भाग खडी होती है ।

कभी-कभी पकडे जाने पर भी ये मृतक होने का वहाना कर लेती है ताकि हम इन्हे मरी हुई जान कर फेंक दें । पक्षियों के नाडी-ज्ञान के ज्ञाता ही समझ सकते हैं कि ये जीवित है या मृत, क्योंकि इनका यह छय-भाव बडे ऊचे दर्जे का होता है । इस अभिनय को ये बडी निपुणता के साथ अदा करती है । हमारे लिए इसका भेद पाना बडा मुश्किल होता है ।

क्रीडा-कौतुक में भी पक्षी-समाज पूरा दक्ष है । आपने शायद देखा होगा, आपके प्राणण अथवा बरामदे में अक्सर गौरयो का झुड झूठी लडाइया लडा करता है । पहले एक बोलेगी, फिर दूसरी, तब तीसरी, और इस तरह सभी गौरैया बोल उठेंगी । फिर इकट्ठी होकर ये झूठी लडाई में जूझ पडेंगी । पर यह लडाई अधिक काल तक नही ठहरती, कुछ ही क्षणों में ये पुन उड-उड कर दाना चुगने को चल देंगी । इनके युद्ध के रग-ढग से ही यह समझा जा सकता है कि ये वास्तव में झगड रही है या बनावटी लडाई लड रही है ।

पालतू पक्षी—कनेरी आदि—इतने शोख हो जाते है कि बहुधा अपने पालने वाले की अगुलिया चोच से चाटते रहते है या दाढी-मूछ सुलझाते रहते है । इसमें ये एक खास आनन्द अनुभव करते है ।

चिडिया तरह-तरह के खेल भी खेलती है । कभी बसेरे बनाती है और फिर उन्हे तोड-फोड कर फेंक देती है, कभी मादा को हटा कर नर अडो पर बैठता है और फिर उसे फोड डालता है, कभी नट की तरह आकाश में उडते हुए ये तरह-तरह के खेल दिखाती है—सोघे ऊपर जाकर इस तरह गिरती है मानो निष्प्राण हो गयी हो । कभी-कभी ये आपस में खासकर कठफोडे, लुकाछिपी का खेल भी खेलते है । बया को यदि आप पिंजडे में डाल दें और उसमें कुछ डोरे, रुई इत्यादि रख छोडें तो फिर देखें कि वह किस आनन्द के साथ वही बुनाई का काम शुरू कर देती है ।

किसी डाल से लटक कर झूला झूलना भी कई पक्षियों को बडा पसन्द है, खास-कर तोतो तथा कनेरियो को । इन्हें आप बहुधा शाखाओ पर लटके हुए झूला झूलते पाएंगे । कई ऐसे भी पक्षी है जो मानव-शिशु के साथ बडे आनन्द से खेलते है । इनमें स्टार्क (लगलग), कोयल, कौए आदि इस काम के लिए प्रसिद्ध है । ये बच्चों के पास चले जाते है, पर जब बच्चे इन्हें पकडने को दौडते है तो थोडी दूर भाग जाते है, फिर लौट आते है, फिर भागते हैं और इस तरह काफी देर तक खेलते रहते है ।

कइयो को पिंजडे का सामान बाहर फेंकने में बडा मजा आता है । वे खाने-पीने के प्याले बाहर गिरा देते है और वे यदि फूट जायें तो बडा आनन्द अनुभव करते है, जो उनके कूदने-फादने, चहकने से साफ जाहिर होता है ।

काकातुआ को यह खास आदत है कि वह अपने पिंजडे की छड से बंधे हुए तार को तोडने की कोशिश में दिन-रात लगा रहता है ।

गरज यह कि मनुष्य की तरह पक्षी भी खेल-कूद, क्रीडा-कौतुक के बडे शौकीन है ।

इन्हे घर बनाने और सजाने का भी शौक है। मलय, ताइलैण्ड, इण्डोनेशिया आदि देशों में एक प्रकार का तीतर पाया जाता है जो झाड़ियों में अपना 'बैठक खाना' बनाता है। घास-फूस ला-ला कर किसी एक खास स्थान पर अपना झाड़ू रूम तैयार करता है और सफाई पर इतना ध्यान देता है कि यदि वहाँ घास का कोई टुकड़ा अथवा कोई सूखी पत्ती कहीं से उड़ कर आ जाये तो उसे फौरन चोंच से उठाकर दूर फेंक आता है। इस तरह के एक नही दर्जन तो पक्षी पाये गये हैं, जिन्हें अपना कमरा सजाकर, स्वच्छ रखने का बड़ा शौक है।

“भिन्न रुचिर्हि लोकः”—ससार में भिन्न-भिन्न रुचि के लोग होते हैं। पक्षियों का भी यही हाल है। हर एक की रुचि एक-सी नहीं होती; मसलन, कुछ तो ऐसे होते हैं जिनको सफाई का बड़ा ध्यान रहता है, कुछ ऐसे, जिन्हें ह्रुदह्रुद की तरह, गदगी ही अधिक प्रिय है। नीड़-निर्माण के सम्बन्ध में भी उनकी प्रकृति एक-जैसी नहीं होती। कुछ बड़े बेडौल, वेढे घोंसले बनाते हैं। पर कुछ इनके बनाने में बड़ी कारीगरी प्रदर्शित करते हैं। उदाहरण के लिए जल-मुर्गी को लीजिए। इसे सुन्दर घोंसला बनाने का जन्मजात और स्वाभाविक शौक है। बड़े यत्न से लकड़ियों के टुकड़े ला-ला कर यह जल के समीप किसी झाड़ी में घोंसला बनाती है। घोंसले को सुन्दर ढंग से फूल-पत्तियों से सजाती भी है। बाढ़ के दिनों में जब पानी की सतह ऊँची हो जाती है तो यह दूर-दूर से लकड़ियों के छोटे टुकड़े ला-ला कर उसे पहले से ज्यादा मजबूत और ऊँचा बना डालती है ताकि वह जल-प्रवाह में बह न जाये।

वन-मुर्गी साल में कई बार अंडे देती है और इसलिए घोंसले में उसके अल्पवयस्क शिशु प्रायः तमाम साल नज़र आते हैं। ये नीड़-निर्माण में मा-बाप की सहायता भी करते हैं। श्री हेमैन नामक एक पक्षी-विशेषज्ञ का कहना है कि एक बार उन्होंने एक वन-मुर्गी को घोंसला बनाते देखा। वह पास की एक झाड़ी में छुप कर बैठ गये और उसकी गृह-निर्माण-प्रक्रिया का निरीक्षण करने लगे। उन्होंने देखा कि वह बाहर से लकड़ी के कुछ टुकड़े और वृक्षों की छोटी टहनियाँ लायी तथा उन्हें अपने बच्चे को देकर चली गयी। विहग-शिशु उन्हें लेकर आये तैयार हुए घोंसले को बनाने में लग गया। काफी देर तक यह सिलसिला चलता रहा। वह लकड़ियाँ ला-ला कर इसे देती और यह उन्हें घोंसले में लगाता। इस सम्बन्ध में जो सबसे रोचक घटना थी वह यह कि लकड़ी के जिन टुकड़ों को विहग-शिशु अच्छा या काम के लायक नहीं समझता था, उन्हें वह चोंच में दबाकर बाहर फेंक आता था—केवल अच्छे टुकड़ों का ही उपयोग गृह-निर्माण में करता था। इसे क्षीर-नीर विवेक कहे या अन्तस् की प्रेरणा? यह पक्षियों की कलात्मक प्रवृत्ति और सौन्दर्य-प्रियता का एक सुन्दर दृष्टांत है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि किसी पक्षी ने नीड़ बनाया पर वह उसे पसन्द न आया, उसे तोड़-फोड़ कर वह दूसरा बनाने लगा और इस प्रकार चार बार घोंसला बना कर, तोड़ कर, अंत में मन के लायक घोंसला बनाने में वह समर्थ हो पाया।

जब पक्षियों के जोड़ा बाघने का समय आता है तो नर मादा को विविध प्रकार से रिश्ताने की चेष्टा करता है। गाने वाले पक्षी जब काम-विह्वल होते हैं तो जोर-जोर से गाना शुरू कर देते हैं। न जाने कहाँ से इन दिनों उनके गले में एक खास सोंज आ जाता

## भारत के पक्षी

है, स्वर में मधुरिमा, हृदय में जोशोखरोश की बाढ आ जाती है, और वे दिन-रात प्रणय-गीत गाने में तल्लीन रहने लगते हैं, जैसे भारत के कुछ कोकिल, पपीहा आदि । पक्षी समाज में मादा की अपेक्षा नर की मख्या अधिक है—हर नर को भार्या-प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाता । इसीलिये स्वभावतः जोड़ा बाधने के प्रयत्न में प्रतिद्वन्द्विता बहुत है । नर को बड़ी कोशिशों के बाद मादा का सहवास प्राप्त होता है । इस कोशिश में उसे हर प्रकार के वशीकरण-साधनों का उपयोग करना पड़ता है, अच्छे पर धारण करने पड़ते हैं, गान में निपुणता लानी पड़ती है और नृत्य में आकर्षण, ताकि वह अपने प्रति द्वन्द्वियों को अच्छी तरह परास्त कर सके ।

इस काम में अल्पवयस्को की अपेक्षा अधिक उम्र वाले पक्षी ज्यादा कारगर होते हैं क्योंकि उन्हें बरसों का अनुभव रहता है । उनके परो में आकर्षण भी अधिक होता है ।

कुछ पेड़ की डाल पर बैठ कर ऊँचे गले से गाते हैं, जैसे कोयल, पपीहा आदि, कुछ आकाश में उड़-उड़ कर गाते हैं, जिनमें चड़ल मुख्य है ।

वसत के आने पर आप देखेंगे, चड़ल का नर, मादा के साथ-साथ गाता हुआ, प्रणय-मिक्षा माग रहा है । घटो तक यह प्रणय-लीला चलती रहती है । अतः मे यदि मादा रीझ गई तो वे जोड़ा बाध लेते हैं ।

कमी-कमी प्रणय-गीत के साथ-साथ नर तरह-तरह के हाव-भाव भी दिखाता है—पख फला कर, हुम उठा कर, छाती फुला कर । ऐसे वक्त यदि कोई प्रतिद्वन्द्वी आ गया तो उस पर बाज की तरह दूटता भी है । जिन्हें गाना नहीं आता वे गले से आवाज करते हैं, चिल्लाते हैं, जोर-जोर से बोलते हैं, पर क्या कहते हैं, यह सिवा मादा के दूसरा नहीं समझ सकता । ऐसे पक्षियों में दाविल मुख्य है ।

मोर, कबूतर आदि नाच-नाच कर मादा को रिझाते हैं । मोर नाचता है और नाचने में ऐसा मशगूल हो जाता है कि उसे अपने तन की सुध नहीं रह जाती । मादा आकर उसके चारों ओर खड़ी हो जाती है । पर वह नाचता है, नाचता ही जाता है । उसका यह प्रणय-नृत्य देखने योग्य होता है ।

कबूतर का ढंग कुछ और है । मादा दाना चुगती रहती है, नर यकायक उसके पास गला फुला-फुला कर नाचने लगता है, कुछ आगे बढ़ता है, फिर पीछे लौटता है, और इस प्रकार उसे रिझाने की चेष्टा करता है ।

सुदूर आकाश में उड़ने वाले पक्षी, चील आदि, आकाश में ही नृत्य करते हैं । उनका यह नृत्य गोलाकार रूप में होता है । व्योम-मंडल में वे देर तक अपने करिश्मे दिखाते हैं और तब नीचे आकर मादा के सग बैठते हैं । ऐसे ही एक नृत्य का वाल्ट ह्विट्मैन ने बड़ा मुन्दर वर्णन किया है जो इस प्रकार है—

The clinching interlocking claws, a living, fierce, gyrating wheel,  
Four beating wings, two beaks, a swirling mass tight grappling,  
In tumbling turning clustering loops, straight, downward falling,  
Till over the river pois'd, the twain yet one, a moment's lull,  
A motionless still balance in the air, then parting, talons loosing,

Upward again on slow — firm pinions slanting, their separate  
diverse flight,  
She hers, he his, pursuing

--पजे एक दूसरे में जकड़े हुए  
एक सजीव, चल्यित चक्र  
चार फड़फड़ाते पंख  
दो चोचें  
फस कर गुंथा हुआ एक गत्यात्मक पिंड  
लड़खड़ाते हुए, घूमते हुए, आलिंगन करते हुए छल्ले  
सीधे, नीचे, लुढ़कते हुए  
ठीक नदीतल के ऊपर आकर रुकते  
दो—फिर भी एक !  
एक क्षण की शांति  
पवन में एक गतिशेष सतुलन  
और फिर पंजों की जकड़ का छूटना  
स्विर, मंद, सुदृढ़ पंखों पर आकाशवर्ती तिरछी उड़ान  
मादा का नर और नर का मादा के पीछे भागना ।

प्रथम मादा, नर के प्रणय-गीत तथा प्रणय-नृत्य की ओर से उदासीनता दिखाती है। वह चुपचाप दाने चुगती रहती है या निश्चेष्ट बैठी रहती है मानो नर की प्रणय-परीक्षा ले रही हो। अंत में जब वह उसके हृदय पर काफी प्रभाव डाल लेता है, उसके भीतर काम-संचार हो जाता है, तो सचेष्ट होकर जाहिर करती है कि उसने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, उसके सग जोड़ा बाधना उसे मजूर है। फिर वे गृह-निर्माण में लग जाते हैं। अनुकूल समय में उनकी सन्तान होती है और वे अपने गार्हस्थ्य-जीवन के उत्तर-दायित्व को पूरा करते हैं।

इसके ठीक विपरीत बटेरो में नर नहीं बल्कि मादा अपनी भाव-भगिमाओं से नरो को अपनी ओर आकर्षित करती है। काफी देर तक उनकी प्रणय-परीक्षा लेकर उनमें से किसी एक के साथ जोड़ा बाध कर वह घर बनाती है, अंडे देती है, और फिर उनके ऊपर अंडों के सेने का भार छोड़कर नौ-दो-ग्यारह हो जाती है। दो-तीन दिन में ही वह पुनः उपर्युक्त विधि से किसी और नर के साथ जोड़ा बाध कर दूसरा घर बनाती है, अंडे देती है और फिर तीसरे की तलाश में घर छोड़ कर निकल पड़ती है। जनन-ऋतु में वह एक-दो-तीन नहीं, बल्कि अनेक नरों के साथ इसी प्रकार जोड़ा बाधती है और फिर नये वन और चरागाह की तलाश में निकल पड़ती है। नरों में बया नाम के पक्षी भी एक ही ऋतु में एक से अधिक मादाओं के साथ जोड़ा बाधते हैं।

पक्षी-समाज के शिशु, मानव-शिशु की भांति, शैशवावस्था में सुन्दर नहीं होते ; कोई-कोई तो बिल्कुल कुत्थ होते हैं। पर उम्र बढ़ने के साथ-साथ उनका सौन्दर्य भी निखरने लगता है। उदाहरणार्थ पीलक पक्षी की मादा को लीजिये। छोटी अवस्था में वह उतनी सुन्दर नहीं रहती, उसके परो में वह आकर्षण नहीं होता, जो कि प्रौढावस्था में होता



है। ज्यों-ज्यों उसकी उम्र बढ़ती जाती है, उसका सौन्दर्य, उसका रूपाकर्षण भी बढ़ता जाता है और वह नर को अपनी ओर आकर्षित करने में अधिक सफलता प्राप्त करती है।

मनुष्यों में युवावस्था ही आकर्षण का सबसे उपयुक्त समय माना गया है। कविवर बिहारी लाल के शब्दों में—

इक भीजे चहलै परे बूढ़े बहे हज़ार,  
किते न औगुन जग करत नय वय चढ़ती बार।

पर पक्षियों में ऐसा नहीं है। उनके बीच 'नय वय चढ़ती बार' नहीं, बल्कि नर की प्रौढ़ावस्था ही एक ऐसा समय है जब पक्षी एक दूसरे की ओर तीव्रता से आकर्षित होते हैं (पक्षी-जाति में आकर्षण का केन्द्र अधिकांशतः मादा नहीं, नर होते हैं), क्योंकि जो वस्तु उनके आकर्षण का सबसे बड़ा कारण है वे उनके पर हैं जिनका सौन्दर्य उनकी अवस्था के साथ-साथ निखरता है। जिसे हम ढलती हुई उम्र कहते हैं वह इनके सौन्दर्योत्कर्षण का समय होता है।

जिस पक्षी के परो का रंग पूर्णतः विकसित रहता है उसकी ओर मादाएं अधिक आसानी तथा शीघ्रता से आकर्षित होती हैं तथा नर को जोड़ा बाधने में न कोई कठिनाई होती है और न विलम्ब ही। साथ ही यह भी सही है कि एक बार जब मादा किसी नर का वरण कर लेती है, उसके साथ दाम्पत्य-सूत्र में बंध जाती है, तो फिर उसे छोड़ती नहीं। सुन्दर से सुन्दर पर वाले किसी दूसरे नर के आ जाने अथवा लुभाने के प्रयत्न पर भी वह उसका साथ नहीं त्यागती। इसके एक नही, हजारों दृष्टांत पाए गए हैं।

जोड़ा बाधने के पहले जिस निपुणता के साथ भाव-भगिमाओं से नर, मादा को रिझाता है वह दर्शनीय है। देर तक वह पख फड़फड़ाता हुआ अथवा कबूतर की भांति नृत्य करके सिर नीचा कर, उससे प्रणय-याचना करता रहता है। यदि एक से अधिक नर हुए तो आपस में वे झगड़ भी पड़ते हैं, मादा चुपचाप उदासीन भाव से बैठी रहती है। अन्त में जो नर औरों को दूर भगा कर विजेता होता है, वह उसके पास पहुँचता है या उड़ कर उसकी पीठ पर जा बैठता है, और "मौन स्वीकृति लक्षण" के सिद्धान्त पर उसके साथ जोड़ा बाध लेता है।

पक्षियों में बहुपतित्व अथवा बहुपत्नीत्व है या नहीं, और यदि है तो किस हद तक, इस प्रश्न को लेकर पक्षी-जीवन-वेत्ताओं के बीच काफी मतान्तर रहा है, वाद-विवाद चलता रहा है। पर जिन्होंने पक्षी-प्रवृत्तियों का निकट से तथा गहन अध्ययन किया है उन से यह पता चलता है कि आम तौर पर पक्षियों में ये प्रचलित नहीं हैं। पर ऐसे पक्षी भी हैं जो इसके अपवाद ही नहीं बल्कि जवर्दस्त अपवाद माने जा सकते हैं जैसे कि गिर-गिटमार बाज़, जिनके बीच हर एक नर की दो मादाएं हुआ करती हैं। विलायती कोयल के बारे में भी आम धारणा है कि एक मादा का सम्बन्ध उसी जाति के कई नर-पक्षियों के साथ होता है।

गाना पक्षी-समाज का जन्म-सिद्ध अधिकार है। पर न तो सभी पक्षी गाते हैं और न उनके संगीत में समान रूप से माधुर्य ही होता है। कुछ तो काग जैसे हैं, जिनके संगीत से भगवान वचाये, कुछ कोयल और श्यामा जैसे, जिनके स्वर से माधुर्य टपकता है।

आपने शायद देखा होगा, मनुष्यों में ऐसे गायक भी हुआ करते हैं जिनका अपना

तर्ज-संगीत तो है ही, दूसरो के तर्ज एव स्वर में भी वे हू-वहू उन्ही जैसा गा लेते हैं। पक्षियों में भी ऐसे एक नहीं अनेक गायक-गायिकाएँ हैं जो दूसरे पक्षियों के स्वर में, लय में, उनके ही गाने इस दक्षता के साथ गाती हैं कि यदि आप उन्हें देख न ले तो कभी विश्वास न करे कि यह गाना कोई और गा रही है।

शिमले में मैंने एक बार ऐसी ही एक पहाड़ी मैना को चीड़-वृक्ष की डाल पर से विविध पक्षियों के गाने, उनके ही स्वर और लय में, गाते देखा था, यही नहीं, अपने गले से वह वादनयन्त्रों की आवाज भी निकाला करती थी, जिसे सम्भवतः उसने आस-पास के किसी मकान से निःसृत होते हुए सुना था।

पिण्डे की मैना भी, आपने देखा होगा, तरह-तरह की आवाजें, गाने आदि, आसानी से सीख लिया करती है। तोते की नकलवाजी तो जगत्-प्रसिद्ध है। चड्ढल, दहियल, पीलक और नीलकंठ में भी इस कला में काफी नैपुण्य प्राप्त करने की क्षमता है। श्री ह्यू हालीडे नामक एक अंग्रेज लेखक लिखते हैं—

“वे जो कि पक्षियों की पहचान उनके गाने से करते हैं, कभी-कभी अपरिचित स्वर से अचम्भे में भी पड़ जाते हैं। अन्वेषण करने पर बहुधा यह देखा गया है कि जिस ध्वनि को सुन कर वह चकित रह गये थे वह किसी परिचित पक्षी की ही आवाज थी जो अपना नहीं, बल्कि किसी और पक्षी का गाना गा रही थी।”

अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने अपने कई अनुभवों की भी चर्चा की है।

जब-तब ऐसा भी देखा गया है कि यदि किसी पक्षी-शिशु को आप अन्य जाति के पक्षी के साथ जन्म-काल से ही रख छोड़ें तो वह उसकी ही आवाज में बोलने लगता है। राय आयभर नामक एक सज्जन ने पिछले वर्ष एक नीलकंठ की जाति के पक्षी-शिशु को पाल रखा था पर उसके सभी साथी दूसरी जाति के पक्षी थे, नीलकंठ नहीं; अतएव पाया गया कि उस नीलकंठ के बड़े होने पर उसकी आवाज नीलकंठ जैसी नहीं, बल्कि उसके साथियों जैसी थी।

पर समय आने पर ये पक्षी अपने वंश की ध्वनियों को, उस स्वर तथा संगीत को, जिन्हें वे पैतृक परंपरा से प्राप्त करते हैं, फौरन धारण कर लेते हैं।

कुछ पक्षी ऐसे हैं जो किसी भी अवस्था में अपनी वंश-प्रणाली को नहीं त्यागते, मसलन कोयल, जो परभृता होकर भी कुहू-कुहू छोड़ कर एक बार भी काव-काव बोलती हुई नहीं पायी गयी है।

कहते हैं नारि-स्वभाव और शब्द बड़े मधुर होते हैं। पर विभिन्न प्रदेशों की नारियों के स्वर-मावयु में भिन्नता होती है। यही हाल पक्षियों का भी है। देश, जलवायु, वातावरण—इनसे इनके स्वर में भी काफी परिवर्तन आ जाता है। विहार तथा पंजाब की कोयले यद्यपि कुहू-कुहू ही बोलती हैं पर दोनों के स्वर में कितना अन्तर है। यही नहीं, उनके तर्ज-कलाम में भी काफी फर्क पाया जाता है। विलायत के एक पक्षी प्रेमी का कहना है—

“मैं कई ऐसे स्थानों पर गया हूँ जहाँ के रोबिन (कलचुरी) पक्षी की आवाज इस जाति के पक्षियों की आवाज से बिल्कुल ही भिन्न थी।”

आवाज के साथ-साथ पक्षियों की रूप-रेखा, कद इत्यादि में भी स्थान-भेद से काफी अन्तर आ जाता है। विहार के कौबो से यदि आप दिल्ली के कौबो को मिलाएँ तो उनका

वजन दूना-तिगुना अधिक पायेंगे। यही हाल और पक्षियों का भी है। फारस तथा हिन्दुस्तान की बुलबुलो में कितना अन्तर है।

प्राचीन काल में जैसा कि क्षत्रियों के बीच हुआ करता था, पक्षियों के बीच प्रेम और सघर्ष (युद्ध) दोनों साथ-साथ चलते हैं। स्वयम्बर में किसी सुन्दरी कुमारिका का वरण करके जब कोई भाग्यवान् पुरुष प्रस्थान करता था तो बहुधा प्रतिद्वन्द्वियों के साथ उसकी लड़ाई छिड़ जाती थी—कभी-कभी तो पाणिग्रहण-काल में ही। यही पक्षियों के समाज में भी होता है। और इसके लिये वे अपनी चोंच, चगुल तथा डैनों का पूर्ण रूप से प्रयोग करते हैं।

कौए, भुजगे और सबसे बढ़कर सुग्गे, अपनी चोंच के द्वारा काफी चोट पहुँचाते हैं, शिकारी पक्षी, चील आदि, अपने चगुलो से। बतखों का अस्त्र उनके डैने है।

जोड़ा बाधने के दिनों में शिकारी पक्षियों का सिर सदा गर्म रहता है तथा प्रेयसी के पास किसी का फटकना उन्हें बिल्कुल बर्दाश्त नहीं होता। कोई आया नहीं कि वे लड़ पड़े।

कुछ पक्षी तो ऐसे भी लड़ने में काफी मशहूर हैं, जैसे कि तीतर, बटेर, बुलबुल, नीलकण्ठ, मुर्गी आदि। प्राचीन काल में दिल्ली और लखनऊ में इनके बड़े-बड़े दंगल हुआ करते थे। पर अब समय बदल गया है, 'वह मुतरिब और वह साज, वह गाना बदल गया', न राम रहे, न वह अयोध्या ही, बटेर और बुलबुल की वे लड़ाइयाँ अब कहाँ ?

घाघ की एक कहावत है—

कलसे पानी गरम है,  
चिड़िया न्हावे धूर।  
अडा लं चौंटी चढ़े,  
तो बरखा भरपूर।

अर्थात् जब चिड़िया धूल में नहायें तो समझिये कि भरपूर वर्षा होगी। इससे पक्षियों का धूल से नहाना जाहिर होता है। जिस प्रकार सूखे पाउडर से कपड़े, वगैर जल-प्रयोग के, साफ किये जाते हैं, वैसे ही बहुतेरे पक्षी भी धूल से अपने पख साफ करते हैं। आपने अक्सर देखा होगा, सबको पर, जहा की मिट्टी गाढी के पहियों की रगड़ से खूब महीन बनी हुई है, गौरैया पख से धूल उछाल-उछाल कर नहा रही है। जब उनके पर धूल से खूब शराबोर हो जाते हैं तो वे वहाँ से हटकर पखों को खूब फड़फड़ाती हैं और उन्हें साफ कर लेती हैं। और इस तरह वे अपनी ड्राई क्लीनिंग (सूखी सफाई) किया करती हैं। और भी कई पक्षी धूल से इसी प्रकार नहाते हैं। कुछ तो महीन धूल में नहाते हैं, कुछ मोटी धूल में, और कुछ, जैसे तीतर, जमीन में गड़बा खोद कर उसमें लोटते हैं। पर ये सभी धूल से ही अपना शरीर स्वच्छ करते हैं।

किन्तु धूल की अपेक्षा जल में पक्षियों का नहाना अधिक प्रचलित है। नदी अथवा ताल-तलैयाँ के तट पर आपने मैना को या कौआ को झूड़ बाधकर नहाते अवश्य देखा होगा। पख से पानी उछाल-उछाल कर ये अपने सारे बदन को भिगो लेते हैं और फिर कहीं बैठकर उन्हें सुखाते हैं। चोंच से अपने परो को साफ करते हैं, उन्हें सँवारते हैं। पखों से जल पर हिलकोरे देते हैं ताकि बदन के पर भीग जाये और फिर उड़कर कहीं जा बैठते हैं और परो

की सफाई करने लगते हैं। उल्लू ओस में अपने शरीर को भिगोकर नहाते हैं। तात्पर्य यह कि मित्र-मित्र पक्षी विभिन्न प्रकार से जल-स्नान कर के अपने शरीर की शुद्धि तथा परो की सफाई करते हैं। वे गर्मी में तो नहाते ही हैं, जाडो में भी स्नान करते हैं, और इस तरह मानव-समाज को, खास कर उन्हें जो पहाडो पर रहते हैं तथा जो साल में एक-दो बार ही स्नान करते हैं, स्वच्छता की शिक्षा देते हैं।

कई पक्षियों को वर्षा के जल में नहाने का भी बड़ा शौक है। वर्षा की पहली बौछार में आप बहुधा बतखों तथा सुगों को बड़े आनन्द के साथ नहाते देखेंगे।

गौरंये छोटे पक्षी हैं पर बड़े साहसी हैं। नहाने का और धायद स्वच्छता का भी इन्हें इतना शौक है कि सुबह सूर्योदय के पहले ही ये जल से अपनी स्नान-क्रिया समाप्त कर लेते हैं। अपनी इसी प्रकृति के कारण ये पक्षियों में ब्राह्मण माने गये हैं—“जल सूर ब्राह्मण, कलम सूर कायस्त”, कहावत मशहूर है।

पक्षियों में सूर्य-स्नान का भी काफी रिवाज है। नीलकण्ठ आदि पक्षी बहुधा शरीर के परो को फैला कर तथा डैने और पूछ को ऊपर उठा कर धूप-सेवन करते हैं और इस तरह धूप से विटामिन ‘डी’ ग्रहण करते हैं। नीड के विहग-शिशु भी दरवाजे के करीब आ कर धूप में अक्सर बैठ कर बैठते हैं। उनके भाव से ही प्रतीत होता है कि धूप में बैठना उन्हें कितना प्यारा है।

नहाने के बाद चिड़ियों को आप देखेंगे कि वे कहीं बैठी हुई बाल की सफाई कर रही हैं, शौकीन मिजाजी का परिचय देती हुई ये काफी देर तक अपने परो की सफाई में लगी रहती हैं। कभी-कभी चोंच से एक दूसरे के बाल भी सँवार दिया करती हैं। बतखों की पीठ पर, दुम के पास, एक उठा हुआ-सा स्थान होता है, इससे एक प्रकार का स्निग्ध तरल पदार्थ बहिर्गत होता है जिससे ये अपने परो के शृंगार में मदद लेती हैं, इन के पर मुलायम रहते हैं तथा इनके ऊपर से पानी आसानी से नीचे गिर जाता है। अंग्रेजी की एक कहावत भी है—“बतख की पीठ से जैसे पानी”। जाहिर है कि तेल और जल का कभी सम्मिश्रण नहीं होता।

औरतो के केश-विन्यास के लिये जैसे तेल सहायक है, बतखों के पर के लिये भी वह उतना ही आवश्यक है। यही नहीं, जब वे जल में तैरती रहती हैं, इस तेल के कारण ही उनके पर जलसिक्त होकर भारी नहीं होते तथा तैरना उनके लिए आसान रहता है।

स्वर्ग के पक्षी की यूरोप में बड़ी ख्याति है। ये सर्व-प्रथम न्यूजीलैण्ड की ओर आज से सैंकडो वर्ष पहले दृष्टिगोचर हुये थे। इनके सम्बन्ध में एक स्वतंत्र लेख इस पुस्तक में दिया गया है। देखने में ये पक्षी अपनी भडकीली पोशाक के कारण अत्यन्त मुन्दर लगते हैं। इनके नहाने तथा शरीर-स्वच्छता की प्रक्रिया भी बड़ी विचित्र है। ये जमीन पर लोटते हैं और साय-साय खूब शोर मचाते हैं, अपने तुरों को उठा-उठा कर जब चिल्लाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये किसी दुश्मन से लड़ रहे हैं, पर यह इनकी लड़ाई की क्रिया नहीं, नहाने की, परो की सफाई की प्रक्रिया है।

जल-पक्षी घटो जल में तरह-तरह से क्रीडा करते रहते हैं, जल-विहार में कभी-कभी सारा दिन बिता डालते हैं। इनके चमड़े के भीतर प्रकृति ने चर्वी की एक तह बना

पिंजड़े का पक्षी कहता—यह पिंजड़ा हर तरह से सुरक्षित है, यही आओ न ।

वन का पक्षी कहता—एक बार अपने आपको इन मेघों के बीच तो छोड़ कर देखो ।

पिंजड़े का पक्षी कहता—इस एकान्त-सुख के कोने में अपने को बाध रखो न ।

वन का पक्षी कहता—नहीं, नहीं, वहाँ किस तरह उड़ पाऊंगा मैं ?

पिंजड़े का पक्षी कहता—मैं मेष में बैठने का स्थान कहा पाऊंगा ?

इस तरह दोनों पक्षी एक दूसरे को प्यार करते, पर एक दूसरे के पास नहीं पहुँच पाते थे ।

एक दूसरे को पिंजड़े की फाक से चुपचाप देखता तथा चोंच से चोंच मिलाता था ।

न एक दूसरे के भाव को समझ पाता है और न समझा पाता है ।

एक दूसरे से मिलने को पखों से पिंजड़े पर झपट्टा मारता है और कातर प्राण से कहता है—निकट आओ ।

वन-पक्षी कहता है—नहीं, नहीं, मैं निकट न आऊंगा, क्या जानें कब इस पिंजड़े का द्वार मुझे बन्द कर ले ।

पिंजड़े का पक्षी कहता—हाय, मुझमें उड़ने की शक्ति नहीं । \*

हम इन्सानों की अवस्था आज उपर्युक्त “खाचार पाखी” (पिंजड़े के पक्षी) के समान है, सोने का पिंजड़ा हमें भले ही प्राप्त हो, पर प्रकृति की गोद हमें उपलब्ध नहीं है ।

---

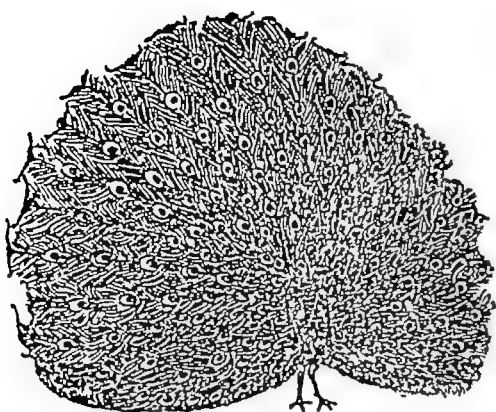
\*महाकवि रवीन्द्रनाथ की एक कविता का यह हिन्दी गद्यानुवाद है ।





सन्देश तुम लायो, तव बोलिया सुहावन

(एक प्राचीन निरुद्ध)



## भारतीय साहित्य में पक्षी

अपनी शीतोष्णता के कारण भारतवर्ष एक ऐसा देश है, जहाँ हर प्रकार के पक्षी उपलब्ध हैं—जाड़ों के भी, गर्मियों के भी। कुछ तो यहाँ के बारहमासी पक्षी हैं, कुछ ऋतु-विशेष में बाहर से आते हैं, फिर ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ अन्यत्र चल देते हैं। शीतकाल में गोघूलि के समय आप देखेंगे कि कतार के कतार जल-पक्षी सुदूर व्योम-मार्ग से कलरव करते हुए हिमालय की ओर से चले आ रहे हैं। निशा-काल के शान्त समय में भी इनके कूजन के शब्द कानों में आते रहते हैं। ये शीतकालीन पक्षी हैं जो इस देश की झीलों में आ कर शीतकाल बिताते हैं, तटवर्ती शस्य-पौधों के फल से उदर-पूर्ति करते हैं, फिर वसन्त के आते ही पहाड़ों को चल देते हैं। इनकी कतार देव-कर-ऐसा लगता है मानो सैनिकों की पक्तियाँ किसी युद्ध-स्थल की ओर जा रही हों।

इन वतखों में बहुतेरी किसी और देश को न जा कर भारत के ही ठंडे हिस्सों में रह जाती हैं, कश्मीर में अथवा हिमालय के किसी अन्य प्रान्तर में। कुछ तो गर्मियों में यहाँ ही, ऐसी झीलों में, जिनका पानी सूखता नहीं, रह जाती हैं।

इसी तरह ग्रीष्म-काल का पदार्पण होते ही कुछ पक्षी दक्षिणसे उत्तर अथवा उत्तर-पूर्वीय-प्रदेशों में आ जाते हैं। कुछ अफ्रीका से इस देश के पश्चिमी हिस्से में आते हैं।

पर भारतवर्ष के अधिकांश पक्षी ऐसे हैं जो तमाम साल इसी मुल्क में व्यतीत करते हैं, और ऐसे पक्षी दस-बीस नहीं, सैकड़ों प्रकार के हैं। हा, जलप्लावन आदि कारणों से जब भोजन की कमी हो जाती है तो ये स्थान-परिवर्तन कर लेते हैं, पर दूर नहीं जाते, अड़ोस-पड़ोस के ही किसी इलाके में चले जाते हैं।

✓ इन पक्षियों में मे कइयों के साथ जन-जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, जैसे कि मुग्गा, मैना, कौआ, कपोत, गौरैया आदि। तोता-मैना पालने की परिपाटी बहुत दिनों से इस देश में चली आती है। कौए घर-घर के चिरपरिचित पक्षी हैं ही, कपोत तथा गौरयें भी मानव-आवास के साथ-साथ ही अपना घर बनाते हैं।

भारतीय, खासकर संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में न जाने कितनी पक्तियाँ इनके ऊपर लिखी जा चुकी हैं, इनकी प्रशस्ति में कवियों ने अपनी कलमें तोड़ डाली है।



## भारत के पक्षी

इनमें से कई तो ऋतुराज वसन्त के मानो अभिन्न अंग के समान हैं। सुनिए कवि विद्यापति की यह सूक्ति—

आएल रिपुपति राज वसन्त,  
घाओल अलिकुल माधवि-पथ ।  
दिनकर-किरण भेल पौगड,  
केशर-कुसुम घएल हेमवंड ।  
नूप-आसन तव पीठल पात,  
कांचन कुसुम छत्र घर माय ।  
मौलिक रसाल नुकुल भेल ताय,  
समुखहि कोकिल पंचम गाय ।  
सिखि कुल नाचत अलिकुल यन्त्र,  
द्विज कुल आन पढ़ आसिस मन्त्र ।

✓ भारतीय लोक-गीतों में भी पक्षियों की खासी चर्चा है, पर जिस पक्षी ने उनमें सबसे अधिक स्थान पाया है वह है काग। प्राचीन काल में साधारण जनता के लिए न तो यातायात की कोई व्यवस्था थी न डाक की। प्रवासी प्रियजन का सम्वाद पाना एक कठिन काम था। सयोगवश यदि कोई व्यक्ति परदेश से आया तो उसकी खबर मिली। स्वभावतः परिवार के लोग—विशेषतः प्रवासी पुरुष की अर्द्धांगिनी—उसके कुशल-सम्वाद के लिए चिन्तित रहा करते थे तथा काग उड़ा-उड़ा कर अथवा काग की बोली सुनकर, जमीन पर चिन्ह अंकित कर या दृष्टि-पथ पर आने वाले प्रथम तृण के टुकड़े को अंगुलियों से माप कर उसके शुभ-समाचार या गृहागमन की पूर्व-सूचना पाने की चेष्टा किया करते थे।

प्रोषितपतिका जब विरह से अत्यन्त विकल हो उठती थी तो काग से प्रार्थना करती थी कि वह उसका सम्वाद प्रियतम के पास पहुँचा आये तथा उसकी कुशल-वार्ता लाकर उसकी चिन्ता दूर करे।

प्राचीन काल से इस देश में यह धारणा चली आती है कि कागों का बोलना शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की भावी घटनाओं का सूचक है तथा जब कभी कोई अतिथि आने को होता है तो ये पहले से ही बोल-बोल कर इसकी सूचना दे देते हैं। इसी विश्वास के आधार पर लोक-गीतों में काग उड़ाने, काग के बोलने, काग के सन्देश ले जाने की बार-बार चर्चा की गई है। विवाह आदि शुभ-अवसरों पर गाने वाले गीतों में बार-बार काग से अनुरोध किया गया है कि वह शुभभाषी हो—‘शुभ बोलु रे कागा, शुभ बोलु’,—आदि।

कौओं के सम्बन्ध में यह धारणा भी, कि यदि वे आहार बाट-बाट कर खायें तो शुभ है, इस देश के पूर्वीय प्रान्तों में प्राचीन काल से चली आ रही है। भक्त कवि चण्डीदास की नायिका तभी तो कृष्ण-आगमन की आशा अपने हृदय में रखती है और कहती है—

आजु परो भाते काको कलोकली,  
आहारो दांटिया खाय. .... ।

दूसरी ओर एक ग्रामीण नायिका गृह-प्रागण-स्थित चदन के वृक्ष पर से बोलने वाले काग से कहती है—

की काग नहर से आवा की हरिजी पठावा,

काग कौन सन्देश तुम लायो तब बोलिया सुहावन ?

काग उत्तर देता है—

नहीं हम नहर से आवा ना हरि जी पठावा,

आजु से नवयें महीना होरिल तोरे होइहें ।

—न हम तुम्हारे मँके से आये हैं, न तुम्हारे प्रियतम ने हमें भेजा है । यही वताने आये है हम कि आज से ६वें महीने तुम्हारे पुत्र होगा ।

नायिका तब उससे कहती है—

चुप रहौ काग, तू चुप रहौ, बैरिनि ना सुन ।

—काग रे, चुप रह, चुप रह, गाव की मेरी कोई बैरिनि स्त्री इसे न सुन ले । कही नजर न लगा दे ।

इसी तरह एक दूसरी ग्रामीणा अपनी कन्या के लिए वर ढूढने का अनुरोध सुगो से करती है—

सावन सुगना में गुर घिउ पाल्यो चैत घना कँ दालि,

अब सुगना तू भयउ सजुगवा बेटी क घर हेरइ जाव ।

—सुआ ! सावन में मैंने तुझे गुड और घी, चैत में चने की दाल, खिला-खिला कर पाला । अब सयाना-समझदार हुआ तू । जा, मेरी कन्या के लिए वर ढूढ ला ।

मिथिला प्रदेश की एक नव-वधू पति का इन्तजार करते-करते थक जाती है । अन्त में पति आता है, कहता है, कोयल की मधुर बोली सुनते-सुनते देर हो गई । वधू कोयल को पत्र लिखती है, कोयल उत्तर देती है—“तू भी ऐसी ही मीठी बोली बोल कर क्यों नहीं प्रियतम को ठहरा लेती है ?” और इस प्रकार मधुरभाषिणी न होने के लिए उस पर व्यग्य करती है । फिर भी एक दूसरी नायिका उससे आरजू-मिश्रित के साथ कहती है—

सुनु-सुनु कोयल एहि ठां आऊ,

मधुमय पट्टरस भोजन खाउ,

फर गय फाज हमर यहि राति,

बिनति कबउ तोहर फत भाति,

पाखि मढ़ाएव मोतिक रेख,

अहक बनाएव सुन्दर भेख,

लय लिय लय लिय लिखलहुं पाति,

वितय चहय पिक आघो राति,

\* \* \*

~ कहव बुझाय सुनव पहुं वात,

फयिलय कैलहुं कामिनि कात,

ओ घनि मरत विरह विष खाय,

तिन सँ पँतठि राति विताय,

सतत नयन सँ नीरक छोर,

चलु-चलु मरइछ लिय गै कोर,  
जें नहि जाएब आजुक राति,  
कामिनि बेतिह जीवन साति ।

—कोयल री, यहा आ । मधुमय भोजन खा और आज की रात मेरा एक काम कर आ, मैं विनती कर-कर तुझसे कहती हू । मैं सोने से तेरे पख मढाऊंगी (पता नहीं, कोयल के ऊपर इस प्रलोभन का क्या असर हुआ), मोतियों से अघर और इस प्रकार तेरा सुन्दर रूप बनाऊंगी ।

आधी रात बीतने आयी, ले मेरा यह पत्र जो कि मैंने अपने प्रवासी प्रियतम के नाम लिखा है । इसे उन्हें देना और समझा कर कहना कि किस लिए आपने एक कामिनी का वरण किया यदि उसकी सुधि नहीं लेनी थी ? ३६५ लम्बी रातें वह आपकी प्रतीक्षा में काट रही हैं और अब शीघ्र ही विरह-विष पान कर अपना प्राण देने वाली हैं ।

उसकी आखों से अविरल अश्रुपात हो रहा है, शीघ्र चलकर उसे सान्त्वना दीजिए, यदि आज की रात आप न गये तो फिर आपकी प्रियतमा का अस्तित्व ही न रहेगा ।

इसी तरह एक राजस्थानी नायिका बड़ी आरजू के साथ काग से कहती है—

उडज्या रे काग, गिगन का वासी,  
खबर तो ल्याव म्हारे राजन की ।

—ओ गगन विहारी काग । जरा उड कर जा तो, मेरे प्रियतम की खबर ला ।

और विद्यापति की नायिका इन सुन्दर शब्दों में उसे प्रलोभन देती है—

मोरा रे अगनमा चनन केरि गछिआ,  
ताहि चढ़ि फुरय काग रे,  
सोने चोच बांधि देव तोय बायस !

ज्यो पिया आओत आज रे ।

फिर देखिए, महाराष्ट्र प्रदेश की एक अबोध बाला, ससुराल में नियास करती हुई, एक पक्षी से पुकार-पुकार कर कहती है—

रुण-रुण, पांखरा रे, जा माझ्या माहेरा  
कमानी दरवाजा रे । त्यावरी बस जा  
घरच्या आईला रे । सांगोवा सांग जा  
बाबाला सांग जा रे । ने मला माहेरा ।

—सुन ले मेरा सदेश, ओ पक्षी । लिख कर जल्दी से मेरी मां के पास उसे पहुंचा दे । कहना मा से कि वह शीघ्रातिशीघ्र मेरे भाई को यहा भेज कर मुझे बुला ले । मा के घर का कमान का दरवाजा अच्छी तरह पहचान कर वहा जाना ।

पक्षियों के द्वारा प्रवासी पति के पास सन्देश भेजने या उनकी खबर पाने का यह यत्न सदियों से इस देश की नायिकाएं करती आयी हैं, साथ ही कोहबर-वासक-गृह की दीवारों पर प्रथम मिलन की रात में विविध पक्षियों की तस्वीर बनाने की भी परिपाटी इस देश में रही है—खास कर मोर और तोतो की । इससे सम्बन्धित एक सुन्दर मैथिल लोक-गीत सुनिए—

कहमहि लिखल मोर रे मजूरवा,  
 कहमहि लिखल आठ दल रे,  
 कोयर लिखल मोर रे मजूरवा,  
 वेदिय लिखल आठ दल रे ।  
 कहमहि बोलल कारी रे कोयरिया,  
 कहमहि बोलल मजूर रे ।  
 आम डारि बोलल कारी रे कोयरिया,  
 दुअरहि बोलल मजूर रे ।

—कहा मोर-गण चित्रित हुए और कहा अष्टदल कमल लिखा गया ? कोयर-  
 कोह्वर में मोर चित्रित हुए, वेदी के चारों ओर अष्टदल कमल लिखे गए ।

कहा काली कोयल कूकी ? कहा मयूर बोला ? आम की डाली पर कोयल  
 कूकी, दरवाजे पर मोर बोला ।

प्रियतम के घर लौटने पर एक राजस्थानी नायिका का गीत भी सुनें—

साजन-साजन हू कइ,  
 साजन जीव जड़ी,  
 साजन फूल गुलाब को,  
 निरखू घड़ी-घड़ी !  
 काग उड़ावत घण खड़ी,  
 आयो पीव भड़क,  
 आधी चूड़ी काग गली,  
 आधी गई तड़क ।  
 साजन आया हे सखी,  
 ज्यां फी जोती बाट,  
 थामा नाचं, घर हँसं,  
 खेलन लागी खाट ।

बौर असम के एक प्रेमी नायक की इन बातों पर ध्यान दें—

हाह होई पोरिम गं तोमारे पुखुरित,  
 पारह होई पोरिम गोई चालत,  
 धाम होई होमाम गोई तोमारे शरिरत,  
 साक्खी होई चूना देम गालत ।



—मैं हस हो कर तुम्हारे  
 (प्रियतमा के) तालाब में तैरूंगा,  
 कपोत हो कर तुम्हारे घर के  
 मुडरे पर बैठूंगा, पत्थर हो कर  
 वदन पर आऊंगा, मक्खी बन कर  
 तुम्हारे कपोल चूमूंगा ।

खग ना हिरानो, खग प्रेमी हिरानो हूँ ।

महाकवि अकबर ने लिखा था—

आलम को लुभाती हूँ पियानो की सदाएं,  
बुलबुल के तरानो में अब लय नहीं आती ।

यह सही है कि “हजार-दास्ता” बुलबुल की जगह आज कृत्रिम सगीत अधिक लोक-प्रिय हो रहे हैं, पर इनमें दिल पर असर करने वाली वह शक्ति कहा जो इसे तडपा दे, रुला दे या नचा दे । ‘ वह बात दे जुवा में कि दिल पर असर करे । ’ अफसोस, कि इनमें वह बात नहीं ।

जैसा कि पूर्व-कथित है, इस मुल्क में हजारों किस्म की चिड़िया प्राप्य है । यही नहीं, एक ही जाति के पक्षी के रंग-रूप में स्थान-भेद से काफी अन्तर पाया जाता है । इस छोटी-सी पुस्तक में उन सब का जिक्र करना मुश्किल था । दरअसल ऐसी कोई भी पुस्तक अंग्रेजी तक में आज तक न लिखी जा सकी जिसमें भारत में पाये जाने वाले समस्त पक्षियों का उल्लेख हो । अतः मैंने इस पुस्तक में भारत के प्रमुख पक्षियों पर ही कुछ न कुछ लिखने की—पाठको से उनका परिचय कराने की—चेष्टा की है । इस प्रयास में मुझे कहा तक सफलता मिली है, यह तो वही बता सकेंगे जो इस विषय के पंडित हैं ।



चित्र समस्या १

घर की ओर





## भारतीय पक्षी और चित्रकला

भारतवर्ष की चित्र तथा मूर्ति कलाओं में पक्षी ने आदिकाल से स्थान पाया है, पर शुरु में पक्षियों का चित्राकन एक सीमित परिवे में आवद्ध था। चित्रों में दो-चार खास पक्षियों के अलावा औरों को शायद ही स्थान प्राप्त हुआ हो, मोर, तोता, हंस, मुख्यतः इनका ही अकन होता था और वह भी वासकगृहों की भित्ति पर, सजावट के रूप में, अथवा रावा-कृष्ण-नीला से सम्बन्धित चित्रों में या किसी नायिका के नायक के पास सवाद भेजने के सिलसिले में। स्वतन्त्र रूप में पक्षी के चित्राकन की प्रणाली न के बराबर ही थी।

मूर्तिकला में केवल ऐसे पक्षी, जिनका सम्बन्ध हिन्दू देवी-देवताओं से है, स्थान पा सके। दक्षिण भारत के मदिरों में ऐसे पक्षियों की मूर्तियाँ काफी संख्या में उपलब्ध हैं। इनमें भगवान विष्णु का वाहन गरुड, लक्ष्मी का उलूक सरस्वती का हंस, मुख्य हैं। गरुड यह कि पौराणिक कथाओं में उल्लिखित तथा देवताओं से सम्बद्ध पक्षियों को प्राचीन हिन्दू मूर्तिकला में काफी परिमाण में स्थान मिला।

पक्षी-चित्राकन की प्रथा को मुगल बादशाहों के द्वारा काफी बल मिला। उनके सरक्षण में इसने तरक्की ही नहीं की, बल्कि यह उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँच गई। मुगल बादशाह स्वभाव से ही कलाप्रेमी थे, साय-साय प्रकृति के विभिन्न अंगों—पशु, पक्षी आदि—में दिलचस्पी रखने वाले भी। अतः स्वाभाविक था कि उनके शासन-काल में चित्रकला का उत्कर्ष होता तथा पशु-पक्षियों के चित्राकन की ओर चित्रकारों का ध्यान खान तौर पर जाता। अकबर, जहांगीर तथा शाहजहाँ, तीनों ने ही पक्षी-चित्राकन को प्रोत्साहित किया, जहांगीर ने विशेषरूप से, जिसका



## भारत के पक्षी

सबसे बड़ा प्रमाण उसका पक्षी-चित्रों का एलबम है जो मुगल शैली के चित्रों की एक बहुमूल्य निधि है ।

शुरू-शुरू में मुगल शैली के चित्रकार पक्षी-चित्रों का उपयोग पुस्तक की सजावट के लिए करते थे । ऐसे अनेक तत्कालीन ग्रन्थ मिलेंगे जिनके हर पृष्ठ पर पक्षियों के चित्र बने हुए हैं, बाबरनामा तथा अकबरनामा की ऐसी प्रतियां मिली हैं जिन पर अकबर-कालीन प्रसिद्ध चित्रकार मनोहर के बनाए हुए चित्र हैं तथा 'गुलिस्ता' की एक प्रति लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी में सुरक्षित है जिसके प्रत्येक पृष्ठ को मनोहर के बनाए हुए पक्षियों के चित्र सुशोभित करते हैं ।

चित्र में पक्षी-सम्बन्धी कथाओं के प्रदर्शन का भी तत्कालीन चित्रकारों के द्वारा प्रसार हुआ । मणि नामक एक प्रसिद्ध चित्रकार का 'ऐयारे दानिश' ऐसे ही चित्रों में है जिसमें उल्लू तथा कौए के झगड़े की कथा चित्र में कही गई है । विविध पक्षियों का जमघट है, जिसमें यह फैसला हुआ है कि पक्षियों का सरदार उल्लू चुना जाय । इस फैसले के विरोध में कौआ एक ऊँचे स्थान से व्याख्यान दे रहा है, जिसके परिणामस्वरूप अंत में यह प्रस्ताव रद्द हो जाता है ।

धीरे-धीरे पक्षियों के स्वतन्त्र अकन का, स्वाधीन रूप से उनके चित्राध्ययन का, प्रवेश होता है तथा मुगल चित्तेरे, खासकर उस्ताद मसूर, अपनी कलम से सुन्दर पक्षियों का अकन करते हैं । मसूर के बनाए हुए सारस, बाज, चील, गीघ आदि के चित्र ऐसी ही तस्वीरों में हैं । क्रियाशील पक्षियों—खास कर बाज—के चित्र भी मसूर ने बड़े कौशल से अंकित किए हैं ।

बादशाह अकबर के जमाने के मनोहर, मणि, हुसैन, कान्हा आदि चित्रकार प्रसिद्ध हैं, पर जहाँ तक मुगल शैली के चित्तेरों का सम्बन्ध है, जहांगीर का शासन-काल उनके अम्युदय का चरम काल है—वह समय जबकि मसूर—जिसे जहांगीर ने 'उस्ताद' की पदवी प्रदान की थी—तथा नादिर अल अल जैसे कुशल चित्रकार पैदा हुए जिनके चित्रों में कलम की वारीकी तो है ही, चित्रों में प्राण है, सजीवता है । खेद है कि ऐसे चित्रों का अधिकांश हिस्सा आज विदेशी चित्रशालाओं की शोभा बढ़ा रहा है ।

निस्सन्देह ऐसे चित्रकारों में मसूर का स्थान सब से ऊँचा है । उसके चित्रों पर अधिकतर उसका अपने हाथों से लिखा हुआ नाम पाया जाता है, मानो उसे इस बात का भय था कि कोई और उसके चित्रों की चोरी न कर ले—उन्हें अपने न बता दे । और इसमें शक नहीं कि समकालीन अथवा आगे की पीढ़ियों में कोई ऐसा चित्तेरा न हुआ जो कुशलता से उसके तर्जों की नकल कर सकता । बिना अत्युक्ति के वह भी अपने नकलनवीसों के सम्बन्ध में कह सकता था कि—

मेरी तर्जें फलम की वह अगर तकलीद करते हैं,  
खिजल होंगे, असर की भी अगर उम्मीद करते हैं ।

किसी अन्य चित्तेरे की कलम वह असर न पैदा कर सकी जो उसकी तूली ने किया । शाहजहाँ की दिलचस्पी अधिकतर शिल्पकला की ओर गई, पर उसका ग्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह चित्र-प्रेमी था तथा उसके एलबम में भी अनेक ऐसे सुन्दर चित्रों का समावेश है जिसे मसूर के बाद के चित्रकारों ने अंकित किए थे ।

अकबर तथा शाहजहाँ की पोषिता यह कला लाहौर तथा दिल्ली के चित्रकारों के बीच, कम या বেশी, मुगल साम्राज्य के जीवन-संध्या-काल तक जीवित रही।

महाराज ससार चंद से पोषित कागड़ा शैली के चित्रों में भी पक्षी ने प्रमुख स्थान पाया था।

आज से दस-बीस साल पहले तक इस देश के विविध हिस्सों में महिलाओं में गुदना गुदवाने का रिवाज था, शरीर के कतिपय अंगों पर, खास कर हाथों पर, नाम तथा चित्र खुदवाने का। इनमें मोर और तोते खास तौर पर स्थान पाते थे और यह इस बात का साक्ष्य है कि यद्यपि मुगलों के शासन-काल में पक्षी-चित्रकला ने विशेषरूप से उत्कर्ष पाया, चित्रों में पक्षियों के रूपांकन की प्रथा तथा पक्षी-प्रेम इस देश में बहुत पहले से था। काश, हम यह जान पाते कि पुराण-कालीन चित्रकार चित्रलेखा ने पक्षियों के कितने चित्र अंकित किए थे!

मुगलों में जहांगीर का शासन-काल मुगल शैली की चित्रकला का स्वर्णयुग माना जाता है। जहांगीर ने फारस के राज-दरबार के दो मशहूर चित्रकारों—मीर सैय्यद अली तथा समद को अपने यहाँ बुला कर उनसे मुमलमान एवं हिन्दू चित्रकारों की शिक्षा दिलवाई थी तथा मुगल, हिन्दू, दक्षिणी और यूरोपीय चित्रकर्ताओं के चित्रों का एक सुन्दर संग्रहागार निर्मित किया था। वह स्वयं चित्रों का पारखी था तथा चित्रशाला में जा कर उनके चित्रांकन का स्वयं निरीक्षण किया करता था। उसके समय के चित्रों तथा मानव, पशु और पक्षियों के अंकित रूपों से सुशोभित पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ आज हिन्दुस्तान ही नहीं, अमरीका तथा यूरोप के अजायबघरों की शोभा बढ़ा रही हैं। इनमें सबसे महत्व के चित्रों के वे एलबम—मुखका—हैं जो अचिकाशत बर्लिन तथा तेहरान के सरकारी ग्रन्थ-संग्रहागारों में सुरक्षित हैं। कुछ लुग्न संग्रहालय, ग्यीमें संग्रहालय, सिनसिनाती के कला संग्रहालय, कनसस संग्रहालय तथा ओटो सोन-रेयेल के संग्रह में भी हैं। ये सभी १७वीं सदी के प्रारम्भ के हैं।

जहांगीरकालीन चित्रशैली पर तुर्किस्तान की तत्कालीन शैली की छाप साफ परिलक्षित है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जहांगीर ने तुर्किस्तान से फर्रुख बेग नाम के किसी चित्रकार को १५८५ ई० में भारत बुला कर अपनी चित्रशाला का अध्यक्ष नियुक्त किया था और उसके ही प्रभाव से गोवर्धन, विशनदास, दीलत तथा आक्रा रेजा आदि चित्रकारों की कलम में यह असर आया था। फर्रुख बेग ने स्वयं भी अनेक चित्र अंकित किए थे जो कला के श्रेष्ठ नमूनों में शामिल हैं, पर उसके तथा ओरों के चित्रों में यह फर्क है कि जहाँ बालचन्द्र, विशनदास, दीलत आदि के चित्रों के पशु, पक्षी और वृक्ष भारतीय हैं, उसके चित्रों के पशु-पक्षी-वृक्षादि इस देश में नहीं बल्कि तुर्किस्तान, काबुल और कश्मीर तक में पाए जाते हैं। फर्रुख के बाज और चकोर हमारे बाज-चकोरों से कुछ भिन्न हैं।

मुगल शैली एक ऐसी शैली है, जिन पर राजपूत, तुर्की, फारसी तथा यूरोपीय शैलियों का प्रभाव विद्यमान है। जहांगीर ने बहुतेरे यूरोपीय चित्रों का भी संग्रह किया था, वह सर टामस रो के साथ बैठकर घण्टों चित्रकला सम्बन्धी बातें किया करता था। पर मुगलकाल के—खासकर जहांगीर कालीन चित्र—जिस

## भारत के पक्षी

शैली से भी प्रभावित हुए हों, इन सबों में पक्षी ने प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। कुछ तो विभिन्न पक्षियों के स्वतन्त्र चित्र हैं, बाकी में भी चित्र के चारों किनारों पर तरह-तरह के पक्षी अंकित हैं। ये मानव तथा पक्षी के बीच घनिष्ट सम्बन्ध के जबर्दस्त द्योतक हैं। अधिकांश चित्रों में मुगल बादशाह या बेगमें हाथ पर बाज या तोता लिए नज़र आती हैं।

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन-काल में शेख जैनुलउद्दीन (कलकत्ता), राम दास तथा भवानीदास (पटना) नामक चित्रकारों ने पक्षियों के सुन्दर चित्र अंकित किए थे।



## कोयल

वन बागन पिक बट परत की विरहिन मत मन,  
कुहो, कुहो, कहि-कहि उठत करि करि राते नैन ।

—विहारी

वसत का दिन । पी फटने का समय । उषा काल । धीमी-धीमी पुरवाई ।  
फलियो का चटकना । अमराइयो के बीच से कोयल बोल उठती है—‘कुहू-कुहू’ और एक  
साथ सहसा सैकड़ों हृदयों के हृदय-तन्तु काप उठते हैं, डोल उठते हैं । आगे का हाल  
इन पक्तियों में पढ़िए—

सिहर उठा उर देख नवी का,  
सिहर उठी जल-बीच पंकजा ;  
ताल-ताल पर तेरे आली,

प्रेम-व्यया जग उठी संत की ।

सत-हृदय में भी प्रेम-व्यया जगाने की शक्ति सिवा कोयल के और किस पक्षी में  
है ? कौन है वह हृदय जिसे मदभरी कोयल की कूक ने तडपाया नहीं, रुलाया नहीं ?  
प्रकृति भारतीय साहित्य ने जो स्थान कोयल को दिया है वह किसी और को नहीं ।  
न जाने कितनी शत-सहस्र पक्तियाँ इसकी प्रशंसा में, प्रशस्ति में लिखी जा चुकी हैं और  
आज भी, जबकि प्राचीन परम्पराओं की दीवार द्रुत गति से ढहती जा रही है, आधुनिक  
साहित्य में इसका स्थान अक्षुण्ण है ।

मनुष्य की वाणी उसका मित्र और शत्रु दोनों ही है । दुर्योधन के सम्बन्ध में कहे  
हुए दो शब्द महाभारत के भीषण रण का कारण बने । महात्मा गांधी के मोठे शब्दों ने  
कितनों को उनके चरणों पर विनयावनत किया । यही हाल पक्षियों का भी है । समय  
पढ़ने पर हम प्रिया-प्रियतम के सवादवाही काग की भले ही खुशामद कर ले, साधारण  
तौर पर उसकी कर्कश वाणी से तग आकर हम डेले मार-मार कर उसे उड़ाते फिरते हैं ।  
पर कोयल की, जो देखने में उतनी ही कुरूप है जितना कि काग, वाणी मुनने को हम  
वत्कठित रहते हैं, और ऐसे स्थानों में, जहाँ कोयल का आवास नहीं है, ममलन गिमला,  
मसूरी आदि पहाड़ों पर, उसकी बोली सुनने को तरसते हैं । उसकी मधुर बोली ने  
ही तो मानव-हृदय में उसके लिए यह गहरा स्थान बना रखा है । किसी ने ठीक ही  
कहा है—

कौआ कासों लेत है, कोयल फाफो देत,  
मीठो वचन सुनाय कै, सब को बस करि लेत ।

कोयल और वसत का गहरा सम्बन्ध है तथा वसन्त काल में कोयल का कूकना कही तो आनन्द की वर्षा करता है, कही प्रोषित पतिकाओं के हृदय में विष उहेलता है । कवि "पण्डित प्रवीन" के शब्दों में—

बल्ली<sup>१</sup> को बितान, मल्ली<sup>२</sup> दल को बिछौना,  
मञ्जु महल निकुञ्ज है प्रमोदवन<sup>३</sup> राज को,  
भारी दरबार भिरी भौरन की भीर  
बैठे मदन दिवान इतिमाम<sup>४</sup> काम काज को ।  
'पण्डित प्रवीन' तजि नानिनी गुमान गढ़  
'हाजिर हज़ूर' सुनि कोकिल अवाज को,  
चोपदार चातक बिरब बढ़ि बोले  
'वर बोलत वराज महराज ऋतुराज को ।'

ऋतुराज के दरबार की ज्योतियों में है यह कोयल, अतिशय सुखदायी । पर देखिए, पद्माकर का विचार कुछ और ही है । वे कहते हैं—

ए ब्रजचन्द ! चलो किन वा ब्रज  
लूकै वसन्त की ऊकन लागीं,  
त्यों 'पद्माकर' पेखौ पलासन  
पावक सी मनो फूंकन लागीं ।  
वै नजवारी यिचारी वधू वन  
बावरी लौं हिये हूकन लागीं,  
फारी कुरूप फसाइनै ये सु  
कुहू कुहू क्यैलियां कूकन लागीं ।

विचार चाहे पद्माकर के अपने हो अथवा ब्रजवनिता के, पर यहाँ स्पष्ट है कि उसका ककना विष ही डालता है, अमृत नहीं । क्यों ? इसे वियोग वाण से विधे हुए जन ही समझ सकेंगे । फिर भी कोयल, कोयल ही है, पक्षीराज है, और—

तावच्चकोरचरणायुधचक्रवाक पारावतादि विहगा. कलमालपन्तु,  
यावद्वसन्तरजनीघटिकावसानमासाद्य कोकिल युवा न कुहूकरोति ।

—चकोर, मुर्गा, चकवा तथा कवूतर आदि पक्षी तभी तक अपनी-अपनी बोलिया सुनाते हैं जब तक कि वसत की प्रभात बेला में कोयल अपना कुहू-कुहू शब्द नहीं सुनाने लगती ।

कोयल उन पक्षियों में है जिन्हें गाने का अत्यन्त शौक है । वह जब गाती है तो दिल खोल कर गाती है, और गाती ही रहती है । फारस की बुलबुल की तरह वह दिन-रात गाती है । वसत के आरम्भ में जब आम के वृक्ष वीरो से लद जाते हैं तो वह मजरी, कोपलें, फल आदि का रसास्वादन करती हुई पचम स्वर

में ऐसी तान छेड़ती है कि एक समा वाद्य देती है । ढाल-ढाल पर नाचती है और रह-रह कर गाने में तल्लीन हो जाती है ।

वसत के बाद भी, ग्रीष्म तथा पावस में, उसका कूकना जारी रहता है । किसी कवि का यह कथन “अब तो दादुर बोलिहै, भये कोकिला मौन” गलत है, क्योंकि वर्षाकाल में भी वह पूरे जोशखरोश के साथ गाती रहती है और तब तक गाती है जब तक कि शीतकाल का आरम्भ नहीं हो जाता तथा अन्तरिक्ष में पहाड़ी झीलो से आए हुए जल-पक्षी अपने कूजन से आकाश को भरना नहीं शुरू कर देते । गरज यह कि साल में चार-महीने से अधिक वह चुप नहीं रहती । कहते हैं कि जाड़ों में यह दक्षिण की ओर, जहाँ ठंडक नाम-मात्र को पड़ती है, चली जाती है । मुमकिन है इनमें से कुछ चली जाती हो, पर अवश्य ही सभी नहीं जाती, क्योंकि शिशिर और हेमन्त में भी बहुधा कोयल को बोलते सुना गया है । हा, सर्दियों से इसे नफरत जरूर है और यही वजह है कि पहाड़ों की ओर यह कभी भूल कर भी नहीं जाती । पर्वतीय कोयल (चित्र सख्या ७) समतल क्षेत्रों में पाई जाने वाली कोयलों से भिन्न, देखने में इनसे सुन्दर अवश्य है, पर उसके गले में न तो वह सौज है न वह साज जो इन काली कोयलों में है ।

केवल उत्तर-पश्चिम सीमान्त को छोड़ कर, भारतवर्ष के सभी राज्यों में यह पाई जाती है और हर जगह इसकी कद्र है । मलय चीन आदि देशों में भी वह मिलती है । अधिकतर वट, अश्वत्थ आदि वृक्षों के छोटे-छोटे फल इसके आहार हैं, पर भोजन निरामिष ही हो, ऐसा कोई वन्यन नहीं है । यदा-कदा कीड़े-मकोड़े भी उसके भोजन-पात्र में स्थान पा जाते हैं । कोयल उन चिड़ियों में है जिसे बड़ी मुश्किल से हम देख पाते हैं, क्योंकि यह कभी जमीन पर नहीं उतरती तथा वृक्षों पर भी अधिकतर पत्तों की ओट से ही अपनी तान छेड़ा करती है । यदि आपने कभी भूल कर वृक्ष के नीचे जाकर इसे देखने की चेष्टा की तो यह फौरन वहाँ से उड़ कर अन्यत्र चल देगी । एक वृक्ष से उड़ कर दूसरे पर जाते हुए ही इसे हम देख पाते हैं । पर काली होने के कारण हम इसे कौआ समझ कर अक्सर भ्रम में पड़ जाते हैं । अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने कुकू पक्षी के, जो कोयल वंश की ही एक विख्यात गायिका है, सम्बन्ध में कहा था—

O, Cuckoo ! Shall I call thee Bird,

Or, but a wandering Voice ?

—कुकू ! तुम्हें मैं पक्षी कहूँ या कि भ्रमणशील एक ध्वनि मात्र ?

कोयल के सम्बन्ध में भी, जिसे हम हाड-मांस के बने हुए पक्षी के रूप में कम ही देखते हैं, उसकी ध्वनि-मात्र ही सुन पाते हैं—कभी इस वृक्ष से, कभी उस वृक्ष से—हम कुछ ऐसा ही कह सकते हैं ।

कोयल के नर और मादा के रंग-रूप में काफी अन्तर है । नर नीली-हरी चमक लिए हुए पूरा काला और मादा भूरी होती है । मादा के पेट पर गहरा भूरापन होता है, डैनों आदि पर सफेद चित्तियाँ होती हैं । दुम गहरी भूरी होती है और उस पर श्वेत बारियाँ होती हैं जो पपीहे से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं । नर और मादा दोनों की आँखें लाल और पाँव गहरे स्लेटी रंग के तथा चोंच हरी होती है । लम्बाई प्रायः १७ इंच होती है । गाने का शौक नर को ही है । आवाज में जोर है । गला फाड़ कर जब यह पक्षी ‘कुहू-

कुहू' की रट लगाता है तो दिग् दिगन्त गूज उठता है । मादा कभी-कभी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाती हुई, तेजी से 'किकू-किकू-किकू' शब्द उच्चारण करती है ।

इसके अंडे नीलापन लिए हुए हरे रंग के होते हैं, जिन पर कल्पई चित्तिया होती हैं । यह कई अंडे एक साथ देती है और एक ही ऋतु में कई बार भी । विलायत की कोयल तो कहते हैं कि एक ऋतु में २०-२५ अंडे तक दे डालती है पर भारत की कोयल के सम्बन्ध में २०-२५ अंडे देने का दृष्टांत अब तक प्राप्त नहीं हो सका है । फिर भी अंडों की संख्या अधिकांश पक्षियों से अधिक अवश्य होती है । आकार में ये छोटे होते हैं । अंडा देने का समय अप्रैल से अगस्त तक है ।

संस्कृत के एक नीति-श्लोक में कहा है कि मनुष्य को यदि कूटनीति सीखनी है तो वार-वनिता से सीखे अथवा किसी राज दरबार में—“वारागणा राजसभा प्रवेश ।’ आम तौर पर कूटनीति का मतलब धूर्तता से समझा जाता है और इस अर्थ में कोयल भी जो पक्षियों में गान-विद्या की दृष्टि से गणिका के समकक्ष है, आचार्य-पद के सर्वथ उपयुक्त है । जिस धूर्तता से वह अपने अंडे स्वयं न सेकर कौए के घोंसले में रख आती है और उनसे अपने अंडे सेवाती तथा बच्चों का पालन-पोषण कराती है उस धूर्तता के कारण वह बड़े-बड़े धूर्त कूटनीतिज्ञों के भी कान काट सकती है । कौए की, जो स्वयं दूसरों को चकमा देने में सिद्धहस्त है, आखों में धूल झोकना साधारण काम नहीं है, पर कोयल इस काम को बड़ी निपुणता के साथ करती है । तरीका यो है—

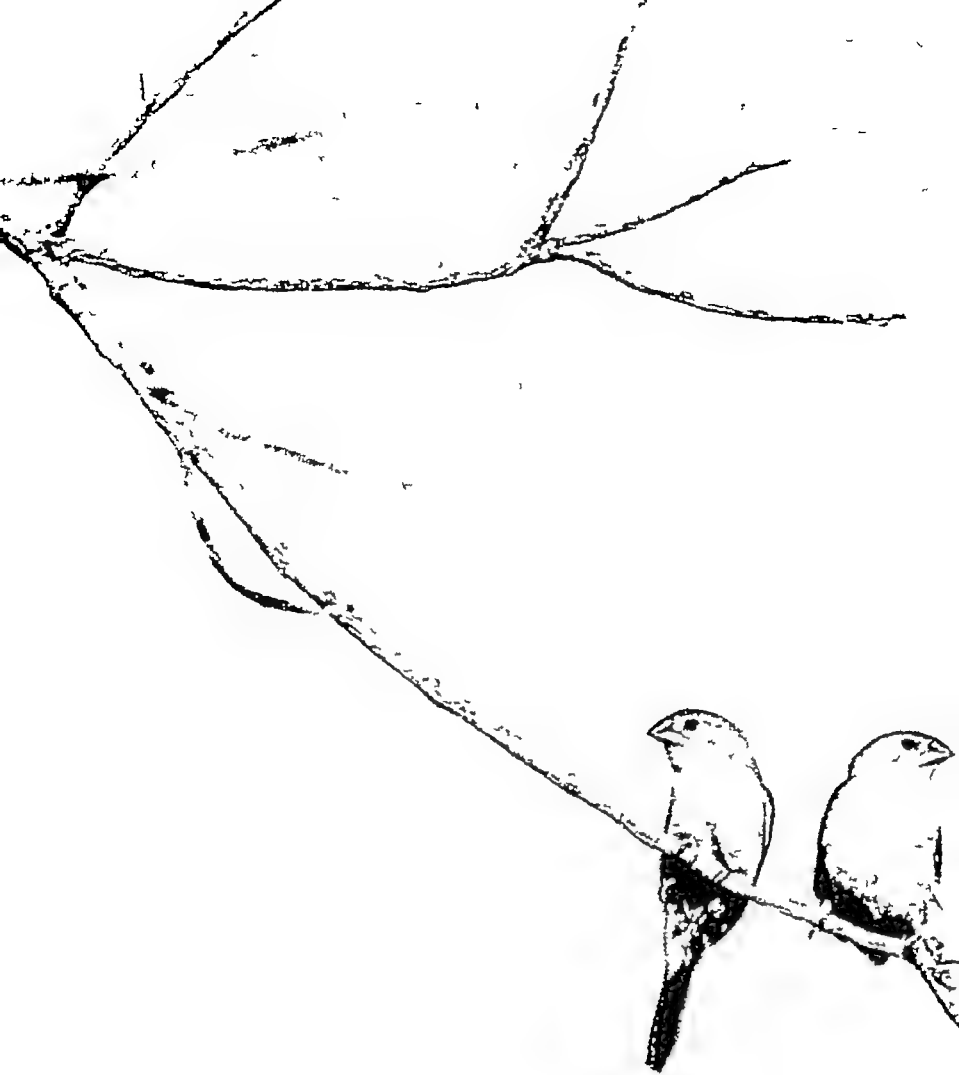
सर्वप्रथम नर कोकिल कौए के घोंसले के पास पहुँचता है और तरह-तरह की भाव-भंगिमाओं से उसे चिढ़ाता है । मादा मंह में अंडा रख कर अंडोस-पंडोस के ही किसी वृक्ष पर छिप कर बैठ जाती है । कौआ या यो कहिए कि कौए—कोयल के अमद्रतापूर्ण व्यवहार से चिढ़कर उस पर टूटते हैं और वह भाग चलती है । कौए उसका पीछा करते हैं । कोयल उठने में तेज होती ही है, उठती हुई कुछ दूर निकल जाती है, साथ-साथ कौए भी, इधर मैदान खाली पा कर मादा कोयल घोंसले में घुसती है, अंडा रख देती है और कौए के अंडे ऊँही दूर गिरा आती है । फिर एक ऐसी आवाज देती है जिससे नर समझ जाता है कि काम सफल हो गया—वस एक ही छलाग में कौओं के दृष्टि-पथ से वह ओझल हो जाता है । कौए यह सोच कर कि दुश्मन सरहद से बाहर हो ही गया, लौटते हैं और पुनः घर-गृहस्थी में लग जाते हैं । कौआ जैसे धूर्त पक्षी को भी मूर्ख बनाकर स्वार्थ-साधन करने वाली कोयल को यथार्थतः महाकवि कालिदास ने विहंगेषु पण्डित की उपाधि प्रदान की है । विक्रमोर्वशीयम् में लिखा है—

अये, इयमातपान्तसवुक्षितमदा जम्बूविटपमघ्यास्ते परभूता ।

विहंगेषु पण्डितैषा जाति ।

यजुर्वेद में इसी का नाम ‘अन्यवाय’ (दूसरे के घोंसले में अपना अंडा रखने वाला पक्षी) है ।

ययाकाल कोयल-कुमार का जन्म होता है, काग-दम्पति बड़े शौक से उसे अपनी सतान समझकर पालते-पोसते हैं और जब वह उड़ने लायक हो जाता है तो एक दिन उन्हे चकमा दे कर नौ-दो-ग्यारह हो जाता है । यही नहीं, घोंसले में यदि कौए की कोई वास्तविक सतान रही हो तो मौका देखकर उसे जन्म के कुछ ही दिन बाद ठोकर देकर नीचे गिरा



लठे हुए

चित्र मल्ल्या • ४





भी डालता है। प्रश्न उठता है कि कोयल के इस नवजात शिशु को आखिर यह धूर्तता तथा कौशलों के प्रति विद्वेष की यह भावना सिखाता कौन है ? निस्सन्देह वश-गुण और सस्कार से ही उसे यह प्रेरणा मिलती है। दूसरों के द्वारा पाले जान के कारण ही कोयल सस्कृत भाषा में परभृता कहलाई है। अभिज्ञान शाकुन्तल में जब गकुतला महाराज दुष्यन्त की स्मृति जगाने की चेष्टा करती है तो वह कहते हैं—

स्त्री गामशिक्षितपटुत्वममानुषीणां

सदृश्यते किमुत याः परिवोधवत्यः,

प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात

मन्यद्विजैः परभृता किल पोषयन्ति ।

—हे गौतमी ! तपोवन में लालित-पालित हुए हैं, यह कहकर क्या इनकी अनभिज्ञता स्वीकार करनी पड़ेगी ? मनुष्य से भिन्न जीवों की स्त्रियों में भी जब आप से आप पटुता आजाती है तो फिर बुद्धि से युक्त नारी में यह प्रकट हो, इसमें आश्चर्य ही क्या ? मादा कोयल, अन्तरिक्ष-गमन के पहले अपनी सन्तान की अन्य पक्षी के द्वारा पालन-पोषण की व्यवस्था कर लेती है।

देखने में कौए की अपेक्षा अधिक सुन्दर और तगड़े होने के कारण कभी-कभी कोयल-कुमार अपने झूठे मा-बाप के विशेष लाड-प्यार के भागी बन जाते हैं। प्रकृति की ऐसी माया है कि कौए इस छल-छन्द को कतई नहीं समझ पाते हैं तथा इन्हें अपनी ही सतान मान बैठते हैं। यही नहीं, इन पर अधिक प्यार भी दिखाने लगते हैं।

इस सम्बन्ध में कभी-कभी एक बड़ी रोचक घटना हो जाती है। कौए के एक ही घोंसले में अज्ञानवश कई कोयलें अपने-अपने अंडे रख आती हैं और इस प्रकार काक-दम्पति को कोयल के चार-चार पाच-पाच बच्चों तक को पालना पड़ जाता है। पर वे इस काम को बड़ी खुशी के साथ करते हैं। यह ससार धोखे की टट्टी है, इसमें सन्देह नहीं।

लन्दन के "फोल्ड" नामक एक पत्र में परभृत कुकू को वेनियाजी का एक मजेदार वर्णन पिछले दिनों पढ़ने को मिला, जो इस प्रकार है—

हार्ली नामक एक व्यक्ति की पुष्प-वाटिका में २४ जुलाई, १९५६ को परभृत के दो शिशु नज़र आए जिनके पूरी तरह पख हो आए थे। उसके साथ ही रॉबिन की वह मादा भी थी, जिसने उन्हें पाला-पोसा था। वह श्री हार्ली के घर के आमपान से खाद्य वस्तुएं ला-ला कर दोनों बच्चों को खिलाती और वे मुंह खोल-खोल कर बड़े चाव से खाते थे। सारे दिन यह सिलसिला चलता रहा। बीच-बीच में परभृत शिशु ओघापन्न हो कर दहगल पर घबु-प्रहार भी कर देता था, पर वह इसका कोई स्थान न कर अपने कर्तव्य में जुटी रही।

दूसरे दिन दो बच्चों में से एक गायब था, तीसरे दिन दूसरा। पख पाकर दोनों नौ-दो-ग्यारह हो गए थे। दहगल कुछ काल एकाकी, विरहाकुल अवस्था में, उदान हो कर बैठी रही, फिर वह भी अन्यत्र चली गई। जिन्हें पाल-पोस कर उसने बड़ा किया उन्होंने चलते समय उससे विदा भी न मागी। 'परभृत'—चाहे मानव कुल के हो या पक्षीकुल के—कभी किसी के नहीं होते।

खैर, तो इधर काक-दम्पति उनके अंडे देने तथा बच्चों के पालन-पोषण में व्यस्त रहते हैं, उधर नर और मादा कोयल मजरी-मदिरा का पान एवं नाचने-गाने में अपना समय बिताती हैं और कहती हैं—

बिन भर गाना, बिन भर पीना—  
 हमें यही है रुचिकर जीना ;  
 चार दिनों का ही तो जीवन,  
 जो भर पीलें, जो भर गा लें,  
 प्याले पर प्याले हम ढालें,  
 वास स्थान हमारा मावक—  
 आश्रम-मजरी का मदिरालय,  
 परवश नहीं, किसी का क्या भय ?

कही इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध कवि किपलिंग उसे देख कर अपने वतन के सम्यन्ध  
 में पूछता है—

Oh Koel, little Koel, singing on the siris bough,  
 \* \* \* \*

Can you tell me aught of England or of spring in England now?  
 —Kipling

—सिरीष-वृक्ष की डालों पर से गाती हुई कोयल ! ओ नन्हीं कोयल ! नन्हीं  
 कोयल ! क्या तुम मुझे इंग्लैण्ड के अथवा इंग्लैंड में वसत के विषय में कुछ बता  
 सकती हो ?

और कही प्रसक्त पिक के कूक-वाण से विधा हुआ कवि भोर की कोयल से पूछता है—

रात क्या आयी न तुझ को नोंद,  
 फोफिले, किसके विरह में तड़पती लवलीन ?  
 तड़पती जल-गर्भ में ज्यों विरह-श्याकुल मीन ।

तू रही श्रन्वित पपीहा—सी

न तुझ को चैन,

फट न क्यों पड़ती घरा यह

श्रवण फर दुख-बैन ?

रात भर तू ने बजाई बैठ उर की बीन,  
 फोफिले, किसके विरह में तड़पती लवलीन ?

पौ फटी, आकाश में था

अरुणिमा-विस्तार,

हँस उठी नीलोत्पला तज

सेज-स्वप्नागार,

जीव माया में फँसा ज्यों

सजग हो, निर्बन्ध,

नलिनि-वन्दन से निकल कर

अलि हुआ स्वच्छन्द ।

प्रणय के किस पाश में, पर, तू रही गति-हीन,  
 फोफिले, किस विरह में तड़पती लवलीन ?

ले घले सन्देश प्रियतम  
 को प्रिया का, काग,  
 ओ धरा-मुख पर लगाने  
 प्रातवात पराग,  
 कर रहे छाती भिंगो कर  
 ओस का मूड पान,—  
 नीलकण्ठ, कपोत, पङ्क,  
 और भ्रमर सुजान,

मजरी-मवु से विरह-व्रण हो न पाया क्षीण,  
 कोकिले, किसके विरह में तड़पती लवलीन ?

आखिर कोयल की कूक से वह घबडाता क्यों है ? उत्तर देखिए—

आधी रात पुकारे चातक,  
 और भोर में कोयल,  
 ✓ कैसे कहो, रहे थिर मेरा  
 यह छोटा अन्तर-तल ?



## पपीहा

✓ न कोई कज्र के भी गरव  
 चकाफ इलहाने मूसीकार,  
 न कोई कज्र के भी मानव  
 तदव अनवाए असफातें ?

—सनाई

—चातक को ऐसे मधुर स्वर में सुन्दर राग का अलापना कौन सिखाता है, और  
 चकोर को इतने सुन्दर वस्त्र पहनने को कौन देता है ?

भारतवर्ष के विभिन्न लोक-गीतों में जो स्थान पपीहा ने पाया है वह और किसी पक्षी  
 को शायद ही नसीब हुआ हो—

पपिहरा पापी रे,  
 \* \* \*  
 पिउ पिउ रतत पपिहरा,  
 \* \* \*  
 जा रे पपीहा पिऊ के देश ।  
 \* \* \*

दूर दस्त ना दई मेरे चावल,  
 उत्ये पाणी दा तत्तीह, बोले जंगल बा पपीहा—

आदि अगणित ऐसे गीत हैं जिनमें पपीहे की चर्चा है, उसे कोसा भी गया है और उससे तरह-तरह की प्रार्थनाएँ भी की गई हैं। कारण स्पष्ट है। पपीहे की दो आदतें इसके लिए उत्तरदायी हैं। प्रथम, उसका बारम्बार 'पिउ, पिउ' रटना, द्वितीय, समय-असमय का कुछ भी ख्याल न कर प्रियतम की याद दिलाना।



बाकी सभी चिड़िया गाती हैं, पर रट नहीं लगाती। लेकिन पपीहे का रटना एक कहावत-सा बन गया है—

चातक<sup>१</sup> रटहि तुषा अति ओही।

\* \* \*

कहु रटत पपिहरा वन की ओर।

उपर्युक्त तथा ऐसी ही असंख्य पक्तियों में पपीहे के रटने का ही उल्लेख है, गाने का नहीं।

एक तो बार-बार प्रियतम का स्मरण कराना और फिर समय-असमय पर ध्यान न देना, आधी रात में जबकि सारा ससार सोया रहता है, केवल चाद की किरण आजादी से जहा-तहा नाचती फिरती है, अथवा पौ फटने के समय जबकि नायिका सेज पर गाढी नींद में सोयी रहती है, प्रातःवात थपकिया दे-दे कर उसे सुलाता रहता है, पपीहा समय-असमय का ख्याल न कर गला ऊँचा करके उसके कानों में प्रियतम का नाम उड़ेलने लगता है—परदेश गये नायक की स्मृति जागृत कर देता है, सुप्त विरह वेदना

को उमार देता है। स्वाभाविक है कि ऐसे पपीहे को पापी विशेषण से विमूषित किया जाए, उसे कोसा जाए। किसी वियोगिनी की यह दर्प भरी उक्ति क्षम्य ही है—

ऊधो ! यह ऊधम जताय दीजो मोहन सो,

व्रज में सुवासो भयो अगिन अवासो है ।

पातकी पपीहा जलपान को न प्यासो,

काहू बोधित वियोगिनि के प्रानन को प्यासो है ।

पर कुछ ऐसी नायिकाएँ भी होती हैं जो पपीहे के उक्त आचरण से नाराज होने की बजाय खुश होती हैं तथा उसमें अनुरोध करती हैं कि वह प्रियतम के पास, जिसकी याद वे हृदय में प्रतिक्षण बनाए रखना चाहती हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति में पपीहे को सहायक पाती हैं, उनका प्रणय-सन्देश पढ़ाए। कृष्ण-विरह में ब्याकुल मीरा ऐसी ही नायिकाओं में थी जिसने बार-बार पपीहे से आरजू करते हुए कहा था—

जा रे पपीहा पिउ के देश,

कहियो पिउ से मेरा सन्देश ।

यही नहीं, व्रज की एक विरहिणी नायिका ने तो उसे प्रमाण-पत्र तक दे डाला—

सखी री चातक मोहि जियावत ।

जैसेहि रैन रटति हों 'पिय-पिय' तैसेहि पुनि-पुनि गावत ।

अतिहि सुकठ वाहु प्रीतम को तारु जीम न लावत,

आपु न पीवत सुधारस सजनी विरहिनि बोल पिआवत ।

जो ए पंछि सहाय न होते प्राण बहुत बुख पावत,

जीवन सफल सूर ताही को काज पराए आवत ।

ठीक ही कहा है, जीना उसी का सफल है जो औरो के काम आए—

जीता है वह जो मर चुका इन्सान के लिए ।

पर मजा तो देखिए—जिस पपीहे को विरहिणी नायिकाएँ दूत बना कर भेजना चाहती हैं वह स्वयं ही किसी के विरह में जल रहा है । कहते हैं, स्वाति-वृद्ध के बिना पपीहे की प्यास नहीं बुझती, प्रकृति-स्वाति-धन की प्रत्याशा में वह आकाश की ओर आखे लगाए रहता है तथा बादल को देखते ही उससे जलदान की याचना करने लगता है, यह जानने का यत्न नहीं करता कि आखिर यह बादल स्वाति-धन है या कोई और। उसकी इसी मूढ़ता पर किसी सहृदय कवि ने उसे मैत्रापूर्ण राय दी है कि—

रे रे चातक, सावधानमनसा मित्र क्षण श्रूयताम्

अभोवा बहवो वसन्ति गगने सर्वेपि नैतादृशा ।

केचिद् दृष्टिभिराद्रयन्ति वसुधां, गर्जन्ति केचिद्बुधा,

य-यं पश्यसि तस्य-तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीन वच ।

—हे मित्र चातक, मेरी यह बात तू सावधान होकर सुन कि इस व्योम-मण्डल में कई प्रकार के बादल हैं, उनमें से कुछ तो पानी की बूंदों में पृथ्वी को तर कर देते हैं, कुछ बुधा ही गरजते हैं, वरसते नहीं। अतएव तू जिस-तिस को देख कर उसके आगे दीन वचन न कह।

पर पपीहे ने कवि की इस राय को कब सुना। वह आज भी बादलों को उमड़ते देख कर “पी-पी” अथवा “पी-कहा, पी-कहा” की रट लगाता ही रहता है। जोश मलसियानी के शब्दों में—

चठनेवा के सवमें कब तक सहे पपीहा,  
मेकश चहक रहे हैं क्यों चुप रहे पपीहा,  
अब क्यों न वीरे म की रौ में बहे पपीहा,  
अब क्यों न शेख जी से पी-पी कहे पपीहा,  
बरसा रही हैं सागर बरसात की घटाए।

देखने में यदि हम पपीहे को शिकारे (शिकार पकड़ने वाला एक पक्षी) का प्रतिरूप कहें तो असंगत न होगा। आखें पीली, शरीर का ऊपरी हिस्सा तथा डैना भूरापन लिए हुए बादामी या यो कहिए कि स्लेटी भूरे होते हैं। दुम के पास से कुछ दूर तक सफेद, बहुत छोटी धारिया होती है। दुम लम्बी होती है। इसके बीचोबीच कुछ काली और सफेद आड़ी पट्टिया और छोर पर एक उजली धारी होती है। नीचे का हिस्सा—चोंच से छाती तक—सफेदी लिए हुए हल्का स्लेटी होता है और पेट के पास भूरी धारिया होती है। चोंच आखी की तरह ही पीली, पर हरापन लिए हुए होती है और इसके आगे का भाग काला रहता है। पैर भी पीले ही होते हैं। लम्बाई प्रायः १५ से १६ इंच तक होती है। नर और मादा के रूप-रंग में कोई अन्तर नहीं होता।

कहते हैं कि इसके गले में एक छेद होता है और जब यह पानी पीने लगता है तो बहुत-सा पानी इसके गले से निकल जाता है। गाते समय अपने गले को फुला-फुला कर तान छेड़ता है। “पी-पी कहा” की रट से सारा वातावरण गूँज जाता है।

पपीहे और शिकारे के रूप-रंग में तो समानता होती ही है, इनके उड़ने के ढंग में भी असाधारण समानता है। यही वजह है कि हम पपीहे को तब तक नहीं पहचान पाते जब तक कि वह बोल न उठे। यह भी एक विधि की विडम्बना है कि एक ही प्रकार के दो पक्षियों में एक तो इतना सहृदय, मिष्टभाषी और दूसरा इतना निष्ठुर, घोर हिंसक।

पपीहे का आवास मुख्यतः बंगाल से लेकर राजस्थान तक है। पंजाब और सिन्ध में ये नहीं के बराबर पाए जाते हैं। दो हजार फुट से ऊपर के पहाड़ी इलाकों में तो बिल्कुल ही नहीं पाये जाते। दरअसल यह गर्मी का पक्षी है। कहते हैं, जाबो में ये दक्षिण की ओर, जहाँ सर्दी कम पड़ती है, चले जाते हैं। कुछ जाते होंगे, पर सभी नहीं जाते क्योंकि दिसम्बर-जनवरी में भी हम उत्तर बिहार के इलाके में इसे बोलते सुनते हैं। पर निस्सन्देह इसके संगीत का पूर्ण विकास वसंत और ग्रीष्म तथा पावस ऋतुओं में ही होता है। निशा काल में भी जब शरच्चन्द्र पीयूष की वर्षा करता है, यह बोलने से नहीं चूकता। यह पेड़ों पर ही रहता है और कीड़े-मकोड़े तथा छोटे-छोटे फलों से अपनी उदर-पूर्ति करता है।

पपीहे के सम्बन्ध में भी “जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी”, कहा जा सकता है। कोई तो इसकी वाणी में “पी-कहा” का आभास पाते हैं, कोई “पिया-पिया” का, कोई “पिऊ-पिऊ” का तो कोई “पी-पी हो” का। महाराष्ट्र वालों का कहना है कि यह “पाऊस आला” (पावस आता है) कह-कह कर वर्षारम्भ की सूचना देता है।

आधुनिक महिलाएँ प्रायः घर सभालने से घबराती हैं। गाना-बजाना, नृत्य, पाटिया, इन्हें छोड़ कर गृहस्थी के रसहीन कामों में वे नहीं पड़ना चाहती। यही दशा हमारी गाने वाली चिड़ियों की भी है। कोयल का हाल तो आपने सुना ही है कि किस छल-छन्द के साथ वह अपने अड़े कौए के घोंसले में रख आती है तथा काक-दम्पति से अपनी सन्तान का लालन-पालन कराती है। अपना वोलन उनके मत्थे डाल कर अपना सारा वक्त नृत्य एवं संगीत-साधना में बिताती है। पपीहे का भी बहुत कुछ यही हाल है। मादा अपने अड़े स्वयं न सेकर चरखी (सतभइये) के घोंसले में रख आती है— अपने गले का भार उतार आती है और फिर दिन-रात “पी-कहा” का धुन लगाती है, मस्ती के साथ गाती रहती है। पर उसे इस कार्य-साधन में कपट से काम लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। चरखी स्वभाव से बड़ी सीधी-सादी चिड़िया है और हर समय घोंसले में रहती भी नहीं। अतः पपीहे की मादा बड़ी आसानी से अपने अड़े उसके घोंसले में रख आती है। चरखी बड़े शौक से उन्हें सेती है तथा बच्चों का लालन-पालन घायी के समान करती है।

✓ कोयल और पपीहा—इन दोनों के ही अड़े नीले रंग के होते हैं। दोनों का अड़े देने का समय अप्रैल से जून तक समान है।

पपीहे की एक जाति ऐसी है जो साधारण पपीहे से भिन्न है। इसे “चातक” कहते हैं। हालांकि संस्कृत तथा हिन्दी भाषा के साहित्यों में “चातक” शब्द का प्रयोग समस्त पपीहा जाति के लिए किया गया है, पर पक्षी-शास्त्र के पण्डितों ने “चातक” से काली जाति के पपीहे का अर्थ माना है। कद में यह उक्त पपीहे के बराबर ही होता है पर इसके सर पर बलबल की तरह एक तुरी होता है। इसका रंग बिल्कुल काला होता है, जिसमें काफ़ी चमक होती है। इसकी आदत भूरे पपीहे से कुछ भिन्न होती है। भूरा पपीहा पसन्त काल से ही बोलने लगता है, चातक वर्षारम्भ से। पपीहे की तरह वह पत्तों की ओट से नहीं गाता बल्कि अन्तरिक्ष में उड़ता हुआ काफ़ी दूर चला जाता है, मानो वादलों के आलिंगनार्थ, और फिर वहाँ से एक प्रकार की बोली बोलता है जिसके सम्बन्ध में वगला-भाषियों का कहना है कि वह वादल से “फटिक जल” (स्फटिक जल) कह कर जल की भिक्षा मागता है। पता नहीं, “चातक रटहि तूपा अति ओही” से गोस्वामी तुलसीदास का आशय भूरे पपीहे से है कि इस चातक से। सम्भव है दोनों से ही हो, क्योंकि वर्षारम्भ पर दोनों ही घन से जल की याचना करने लगते हैं।

अंग्रेजी में पपीहे को “ज्वर-ग्रस्त-मस्तिष्क पक्षी” कहते हैं, क्योंकि इसकी बोली अंग्रेजी को पसंद नहीं। रात में जब यह गाना आरम्भ करता है और धीरे-धीरे ध्वनि को ऊँचा कर अन्तरा पर ला देता है, एक के बाद दूसरा फिर तीसरा इस तरह अनेक भिन्न-भिन्न वृक्षों से बोलना शुरू कर देते हैं, तो उनका कहना है कि उन्हें बड़ा कष्ट होता है, उनकी नींद हराम हो जाती है। पर हम भारतवासी तो पपीहे का गाना सुनने को तरसते रहते हैं।

कुछ पक्षी-विशेषज्ञों के अनुसार, पपीहे की रटन उसकी प्रणय-पुकार है जो प्रजनन-काल की समाप्ति के बाद भी जारी रहती है। इसका कारण कुछ विशेष प्रतियोगी क्रिया है। जब ये प्रतियोगी कुछ समय के लिए अपनी क्रिया बन्द कर देती है तो यह



पक्षी मूक हो जाता है ।

पपीहे की कथा समाप्त हुई । आषाढ का आरम्भ है । आकाश में मेघ घिर आए हैं—वे मेघ जिन्हें आज से न जाने कितने दिन पूर्व रामगिरि-पर्वत पर कान्ता के विरह में दग्ध यक्ष ने देखा था—

आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्टसानु  
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीय ददर्श ।

सामने वृक्ष पर पपीहा “पी-कहा” की रट लगा रहा है, कभी धीमे, कभी उच्च स्वर में, मानो आगन्तुक मेघ से अपने हृदय की बातें खोल-खोल कर कह रहा है । क्या यह वही “चातक” है, जिसके सम्बन्ध में भर्तृहरि की यह उक्ति है—

एक एव खगो मानी घने वसति चातक  
पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरवरम् ॥

और गोसाईं तुलसीदास का यह कथन—

ऊँची जाति पपीहरा, पियत न नीचो नीर,  
कँ जाँचँ घनस्याम सों, कँ दुख सहँ सरीर ।

तो क्या सचमुच ही पपीहा ताल-तलैयाँ का जल नहीं पीता ? “चातकव्रत,” जिस की चर्चा विक्रमोर्वशीयम् नाटक में निम्नलिखित शब्दों में महाकवि ने की है, क्या काल्पनिक है ?

अदो दाव तुए दिव्वरसाहिलासिणा चादअव्वर गहिवम् ।

पपीहे का यह प्रण सच हो या काल्पनिक, पर इतना अवश्य है कि स्वाति-नक्षत्र अर्थात् शरद् काल के बीतते-बीतते उसके गले में वह सोझ नहीं रहता जो वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा एव शरद् ऋतुओं में रहता है—वल्कि उसका गाना बन्द-सा हो जाता है । सभव है शीतकाल के आविर्भाव के कारण ऐसा होता हो या स्वाति के उस घन के द्वारा जल प्राप्त कर, जिसकी चर्चा युग-युग से इस देश के कवि करते आ रहे हैं ।

कहते हैं, पपीहे की रट, विरही जनो के, विशेषकर विरह-विकल वनिताओं के लिए बड़ी कष्टदायी होती है, विरह-बाण से उनकी छाती छेदती है । प्रियतम और प्रियतमा की याद दिला-दिला कर उनके हृदय को आलोडित कर डालती है । पर यह तो हुई सासारिक जनो की बात । अब देखिए परमात्मा से जिन्होंने लौ लगा रखी है उनके हृदय में भी “पी-कहा” की यह चिरपरिचित ध्वनि कौन-से भाव पैदा करती है ।

एक सूफी शायर “बेदिल” फमति है—

तेरा हुस्न इस जहा में जो न होता परतौ अफगन,  
न ये फूल दिल लुभाते, न ये सज्जाजार होता ।  
न तो रट लगाती कोयल, न पपीहा शोर करता,  
न वह मारी-मारी फिरती, न यह बेकरार होता !

सभव है, पपीहे की यह बेकरारी स्वाति-घन के लिए नहीं, बल्कि उन धनश्याम के लिए है जिनके सम्बन्ध में स्वयं वृषभानुनन्दिनी ने कहा था—

न मूर्खधीरस्मि न वा दुराग्रहा,  
शरीरभोगेषु न चातिलालसा,  
किन्तु ब्रजाधीशसुतस्य ते गुणा,  
बलादपस्मारदर्शा नयन्ति माम् ।

—हे सखि, न मैं मूर्खा हूँ, न मुझ में दुराग्रह है, न मुझे शरीर-सुख की ही लालसा है। किन्तु श्यामसुन्दर में ही कुछ ऐसे गुण हैं जो बरबस मुझे अपस्मार दशा में ला देते हैं।

तात्पर्य यह कि पपीहे की इस शाश्वत बेचैनी का कारण मानव की समझ में आज तक नहीं आ सका है।

७

## श्यामा

आज इस परिवर्तनशील देश में ऐसे बहुतेरे पुराने रस्मों-रिवाज हैं जो समयानुकूल नहीं हैं और इसलिए धीरे-धीरे अन्तर्हित हो गए हैं या होते जा रहे हैं। महफिलों का रिवाज भी इन्हीं में से एक है। खुशियों के मौके पर, विवाह, यशोपवीत, दशहरा आदि शुभ अवसर पर, पहले महफिले हुआ करती थी। रात में शामियाने के नीचे या किसी बड़े हाल में फर्श बिछती, कारचोधी के काम के गद्दी-मसनद लगाए जाते जिनके ऊपर जरी के काम का चंदोवा तनता, सोने-चादी के इत्रदान, पानदान वगैरह सजाए जाते। चंदोवा के नीचे, शादियों में नौशा तथा अन्य मौकों पर सबसे विशिष्ट व्यक्ति, बैठता था, उसकी दोनों ओर सम्माननीय अतिथि और उनके पीछे दरबारी बैठते थे। बाकी सब ओर विभिन्न आगन्तुक, अड़ोस-पड़ोस के लोग बैठते। शामियाने के बीचो-बीच गानेवाली तवायफें या नर्तकियां तथा अन्य गायक बैठते थे। ऊपर झाड़-फानूस टेंगे होते थे, नीचे शमा जलती थी।

इनके प्रकाश से सारी महफिल रोशन होती थी। इन्हीं रोशनियों के सम्मुख, गायक-गायिकाओं के निकट बहुधा कुछ पिंजड़े रखे जाते थे जो दिन में काले कपड़ों से ढके होते थे और रात में सफेद कपड़ों से। यह इसलिए होता था जिससे अन्दर बैठे हुए पक्षी दिन में रात का श्रम मानकर चुप रहें और रात में चारों ओर के उजड़े को दिन मान कर खुल कर तान छेड़ें। ये पिंजड़े एक खास पक्षी के होते थे। भीतर एक छोटी-सी चिड़िया बँठी हुई गायक की तान के साथ-साथ जोशो-खरोश के साथ, गला ऊँचा कर गाती थी, सीटिया भरती थी, और अपनी मधुर वाणी से सारी महफिल को मन्त्रमुग्ध-सा कर डालती थी। यही नहीं, गायक-गायिकाओं के साथ बहुधा उसकी एक होड़-सी मच जाती थी। यही है “शरीरी ... जुवान” श्यामा, जिसका परिचय इस अध्याय में दिया जा रहा है।



गाने वाले पक्षियों में श्यामा की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध और सर्वमान्य है। कोयल और पपीहा यदि पक्षी समाज के 'एमेचर' या शौकीन गायिका और गायक हैं तो यह निपुण, गायिका पक्षी है, जिसका गला मजा हुआ है, जिसकी आवाज में ताकत है और जिसका संगीत-ज्ञान ऊँचे दर्जे का है, जिसकी ध्वनि, स्वर और लय मानो तराश-खराश के बाद निष्कलक, श्रुतिहीन, बनायी गयी हो। गरज यह कि उसकी गान-क्षमता की तुलना ससार के बड़े बड़े गवैयाँ से की जा सकती है। सारंगी की गहरी गमक और तबलो की ठमक मानो इसके हृदय में एक लहर पैदा कर देती है, और गाने वालों के गले के अलाप पर तो इसका चुप रहना असम्भव-सा हो उठता है। यह गाती है और ऐसा गाती है कि एक समा बाध देती है, गाती ही जाती है, और स्वर को क्रम-क्रम से अन्तरा पर ला देती है। एक बार की बात है, काशी की एक प्रसिद्ध गायिका गा रही थी—

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहर वेषम्,  
न कुण नितम्बिनि ! गमन बिलम्बनमनुसर त हृदयेशम् ।

पिंजड़े में बैठी हुई श्यामा इसे सुन रही थी। लोग पद-लालित्य तथा गायिका के स्वर माधुर्य पर लुब्ध थे। वह गाती गई—

धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली,  
गोपीपीनपयोधर मर्दन चञ्चल कर युगशाली ।

श्यामा का अब चुप रहना असम्भव-सा हो उठा, उसने भी तान छोड़ी। गायिका ने गाया—

नामसमेतं कृतसकेतं चावयते मुदुवेषुम्,  
बहु मनुतेऽतनु ते तनुसगतपवनचलितमपि रेणुम् ।

इधर पिंजरे के इस पक्षी ने भी तान लगायी और उधर गायिका ने स्वर ऊँचा किया—

पतति पतत्रे विचलित पत्रे शक्तिभवनपयानम्,  
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पयानम् ।

श्यामा के लिए ध्वनि-दगल में हार कर बैठ जाना नामुमकिन था। स्वर को

अन्तरा पर लाकर उसने इस तरह गाना, सीटी देना शुरू किया कि गायिका की आवाज, सारंगी का स्वर, तबले की ठमक, सभी मात खा गए। गाने वाली सगीत शास्त्रविद्वान् सारदा थी—फिर भी इस छोटे-से पक्षी के साथ वह होड में अधिक काल तक न ठहर सकी, अन्त में यह गाती हुई कि—

मुखरमधोरं त्यज मंजीरं, रिपुमिव केलिसुलोलम्,  
चल सखि कुजं सतिमिरपुंजम् शील्य नीलनिचोलम्।

उसने गाना बन्द कर दिया। लोगो ने हर्षध्वनि की—सगीत के इस दगल में श्यामा की विजय रही।

अब देखिए, एक अंग्रेज पक्षी-प्रेमी श्री लोयर, श्यामा के इस मधुर सगीत के सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

“एक दिन सुबह इस निपुण गायिका का सुमधुर गान सुनकर मैं मुग्ध हो उठा। मैंने उसका गान पहले कभी नहीं सुना था, और यद्यपि मैंने निश्चित रूप से महसूस किया कि यह श्यामा ही गा रही है, मेरी उत्सुकता तब तक शान्त नहीं हुई जब तक कि कुछ दिन बाद मैंने इस निपुण गायिका को गाते हुए प्रत्यक्ष रूप में न देखा।”

श्री लोयर श्यामा के घोंसले की तलाश में दो वर्षों तक घूमते रहे। अन्त में उनका परिश्रम सफल हुआ, श्यामा के घोंसले का उन्हें दर्शन ही नहीं मिला बल्कि उसकी एक सुन्दर-सी तस्वीर उतारने में भी वह सफल रहे। विलायतवालो की कद्रदानी का यह भी एक नमूना है।

अब कुछ इस पक्षी के रूप-रंग के सम्बन्ध में भी सुनिए। यह काले रंग की एक छोटी-सी चिड़िया है। नर की पूछ के कुछ पर सफेद होते हैं। मादा न तो नर जैसी घनी काली ही होती है, न इसकी पूछ ही लम्बी होती है। गाता नर है। यह पहाड़ के उन हिस्सों में पाई जाती है, जहाँ ठंडक नहीं होती। विधि की विडम्बना तो देखिए, स्वभाव की वह इतनी झगडालू होती है कि पिंजरे में मिया-चीवी तक साथ नहीं रह सकने। खाती कीड़े हैं, पर स्वर में इनके इतनी मिठास होती है कि श्रोता को पल मात्र में ही मग्नमुग्ध कर लेती है।

जब यह पिंजरे में रहती है, इसे घी में भुना हुआ सत्तू खिलाया जाता है जिसमें प्याज, लहसुन, अंडे तथा मांस के अणु पीस कर घी के साथ मिला दिए जाते हैं। कहते हैं, इससे इसकी आवाज बलवत् होती है, इनके गले में साज और सोज आता है। सत्तू के अलावा छोटे-छोटे कीट-पतंग, विशेषतः टिड्डे भी इसे खिलाये जाते हैं। श्यामा पालने वालो को या उनके नौकर को आप अक्सर देखेंगे कि वे देर तक सुबह-शाम घान के मँदानो पर घूम रहे हैं और किन्नी चीख की तलाश कर रहे हैं, बस आप फौरन समझ ले कि ये श्यामा के लिए कीड़े ढूँढ रहे हैं।

कहते हैं, वन के स्वतन्त्र वातावरण में पक्षियों का गला ज्यादा खुलता है, गीत में माधुर्य का विकास होता है। पर श्यामा का हाल इस के ठीक विपरीत है। पिंजरे में, खाम कर जब पिंजरा किन्नी काले आवरण में ढका होता है, वह ज्यादा जोशो-खरोश के साथ गाती है, उसके सगीत का अधिकाधिक विकास होता है, स्वर में माधुर्य

और गले में ताकत आती है। इसके लिए परतत्रता ही मानो वरदान है। इसे पिंजरे में रहते हुए अपने भोजन की चिन्ता नहीं करनी होती, और शायद इसीलिए यह अपना सारा समय गाने में व्यतीत कर पाती है।

अन्य पक्षियों के गाने भी यह बड़ी निपुणता के साथ सीख लेती है और उन्हें इस खूबी के साथ गाती है कि सुनने वाला शायद ही समझ पाये कि गाने वाली कोई भिन्न चिड़िया है। यह अप्रैल से जून तक अडे देती है। किसी वृक्ष की सूराख में घास-फूस रख कर वही प्रजनन-क्रिया सम्पन्न करती है। मकान बनाने के क्षमते में वह नहीं पड़ती। आखिर गाने से इसे फुरसत कहा कि यह गृह-निर्माण की क्षमता में पड़े ?

## दोयल या दंहगल

वहियल खंजन पक्षि-विशेष,  
वाहिन वशन पुणयहि लेख।

—ठाक

श्यामा की तरह ही दोयल भी एक छोटा-सा सगीत-प्रवीण पक्षी है, जिसके गले में माधुर्य है, और साथ-साथ तन-सौन्दर्य भी। पर यह साल भर न गाकर एक निश्चित अवधि में ही सगीत-साधना में सलग्न होता है—अर्थात् अप्रैल से जुलाई तक। कोकिल की तरह—‘अब तो दादुर बोलिहै, भये कोकिला मौन’—यह भी जब वर्षा-काल आता है और मँडक अपना राग अलापना शुरू कर देते हैं तो अपना गाना बदल देता है। वसन्तकाल में जब फूल खिल उठते हैं, अमराइयों में बौर छा जाते हैं, टहनियों पर नये-नये पल्लव आ जाते हैं, यह तन्मय होकर गाता है। घने जंगल या झाड़ी इसे पसन्द नहीं, फूलों से लदे हुए बाग ही इसे ज्यादा पसन्द है, जहाँ कोयल की भाँति दोयल भी पत्तों की ओट से सगीत वर्षा करके श्रोताओं के हृदय में प्रेमोन्माद का संचार करता है। तभी तो उन्नीसवीं सदी के अन्त में बंगाल के एक कवि ने अपनी प्रेमिका से कहा था—

के तुमि  
तुमि कि आमार सेइ  
हृदयमोहिनी ?

\* \* \*

एस जाइ सेइ देशे, फूल फुटे, चाँव हासे,  
दोयल, कोयल गाय  
प्राणेर रागिनी !

निस्सन्देह दोयल के गाने में ‘प्राणेर रागिनी’ फूट पड़ती है। कद में ८ इंच की यह एक छोटी-सी चिड़िया है। नर और मादा के रंग में तनिक भेद है। नर के सर, गर्दन, सीना और पीठ पर चमकीला कालापन होता है, नीचे के हिस्से में सफेदी होती है, डुम उठी हुई होती है, मध्य के दो पर काले, बाकी सफेद होते हैं, डैने काले होते हैं जिनके बीच में



सफेदी होती है। मादा की रूपरेखा प्रायः ऐसी ही होती है, अन्तर इतना होता है कि जहां नर के वदन में कालापन होता है वहां मादा के भूरापन। इनकी चोच काले रंग की होती है।

नर और मादा का चिर-सम्बन्ध है। मादा अधिकतर अप्रैल और मई में अंडे देती है। पेड़ या मकान के सूराल में यानदी के कगारों में घोंसला बनाती है। इसके

बच्चे अत्यन्त शोर मचाने वाले (संख्या में चार) होते हैं। प्रारंभ में इनका स्वर कर्कश रहता है, पर पीछे चल कर अपने पिता की भांति यह भी मधुरभाषी हो जाते हैं।

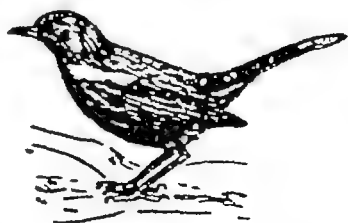
कोड़े-मकोड़े इसके आहार हैं। वैसे तो दोयल एक एकान्त-प्रिय पक्षी है। जहां कहीं भी देखिये, दो एक से अधिक एक स्थान पर नज़र न आयेंगे। पर अदमान द्वीप-समूह में इनकी यह एकान्तप्रियता न जाने कहा चली जाती है और ये सूर्योदय होते ही दल के दल गाने लगते हैं और खूब दिल खोलकर गाते हैं एवं सुनने वालों को मंत्रमुग्ध कर देते हैं।

## दामा

कद में दोयल से छोटी, पर रूपरेखा में उससे मिलती-जुलती दामा भी एक गाने वाली चिड़िया है जो साल भर अपने घोंसले में निवास करती है और कबूतर की तरह साल में कई बार अंडे भी देती है। वाग-वगीचे तथा मानव-आवास का अड़ोस-पड़ोस इसे जंगल की अपेक्षा अधिक रुचिकर है। इसकी सबसे बड़ी पहचान इसकी दुम है, जिसे यह बारबार ऊपर उठाती रहती है। नर का रंग चमकीला काला और मादा का गाढ़ा भूरा होता है, नर के कंधों पर सफेद चिह्न रहते हैं। दोनों की दुम का निचला हिस्सा कत्यई होता है। देहाती भाषा में इसे ललगडी और कलचुरी भी कहते हैं।

अप्रैल से जून तक इसके अंडे देने का मुख्य समय है। यों तो यह साल भर अंडे देती ही रहती है। इसके घोंसले में दुनिया भर की चीजें पाई जाती हैं—पक्षियों के पर, ऊन, रेशम के टुकड़े, साप की केचुल, रंगीन कागज, टिन अथवा अवरक के टुकड़े। इसे अजायबघर समझिये या किसी अधोर-पयी साधु की कुटिया।

इसके स्वर में माधुर्य है, पर दामा अथवा दोयल की तरह इसमें गाने की क्षमता नहीं होती।



इसका भी मुख्य आहार कीट-पतंग ही है। यह काफी ढीठ चिड़िया है। इसे आप बहुधा अपने बरामदे अथवा गृह-प्राण में कीड़े-मकोड़े पकड़ते पायेंगे। आपको देख कर भी यह तब तक अपने काम में लगी रहेगी जब तक आप इसे स्वयं भगाने की चेष्टा न करें।

## चंड़ल

हमारे देश के साहित्य में जो स्थान कोयल और पपीहे का है, अंग्रेजी साहित्य में वही 'कुकू' और 'लार्क' का है। महाकवि शेक्सपियर से लेकर वर्ड्सवर्थ तक सभी कवियों ने इन पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा है, सुन्दर काव्य की रचना करके इन्हें अमरत्व प्रदान किया है। व्योमविहारी 'लार्क' पक्षी के सम्बन्ध में देखिए, ब्लैक की कितनी सुन्दर उक्ति है —

A skylark wounded on the wing  
Doth make a cherub cease to sing

—आहत 'व्योमविहारी' लार्क,  
जब उड़ान भरता है  
तो परी-कुमारों का गायन,  
सहसा यम जाता है।

और मिल्टन की यह उक्ति देखिए—

To hear the lark begin his flight,  
And singing, startle the dull night  
From his watch-tower in the skies  
Till the dappled dawn doth rise

सुनना लार्क पक्षी को पख फड़फड़ाते हुए  
गाते हुए, गहन-निशा को चौंकाते हुए  
अपनी ऊँची वृजों से, गगन अटारी में,  
जब तक न चित्रमयी ऊषा जग जाती है।

सुदूर व्योम से यह अपनी स्वर-सुधा की वर्षा करता है। महाकवि शेक्सपियर बड़े सुन्दर ढंग से इसकी ओर इशारा किया है—

Hark, hark! the lark at heaven's gate sings,  
And Phoebus 'gins to rise

—सुनो, सुनो, उस स्वर्ग-द्वार पर  
लार्क गा रहा गान  
पूर्व विशा में उगा विवाकर,  
होने लगा विहान!

दार्शनिक कवि वर्ड्सवर्थ ने इसे आकाश का तीर्थ यात्री कहा है तथा उन् बुद्धिमान पुरुषों का उपमान माना है जो ऊँचा उड़ते हैं पर इधर-उधर विचरते नहीं—

Type of the wise who soar but never roam  
True to the kindred points of Heaven and Home'

तथा यह भी पूछा है कि क्या "दुःख शोक से परिप्लावित इस पृथ्वी से घृणा करके ही वह आकाश-पथ पर चल पड़ा है?"

इन सारी पक्तियों से यह साफ-साफ परिलक्षित है कि वह सीधा आकाश में उड़कर गाने वाला पक्षी है, स्वर में उसके माधुर्य है तथा निशाकाल में ही अधिकतर वह अपनी स्वर-सुधा का वर्षण करता है।

हमारे देश में यह चंडूल के नाम से प्रसिद्ध है तथा इसके कई भाई-बन्धु हैं। इनमें दो मुख्य हैं—एक वह, जिसके चोटी होती है, दूसरा वह, जो कि चोटी से रहित है। वह यही है जिसका जिक्र अग्नेज कवियों ने अपनी कविताओं में किया है।

प्रकृति से यह आकाश में उड़ कर गाने वाला पक्षी है। यह उड़ता हुआ अतरिक्ष में खूब ऊपर चला जाता है और वहां से अपनी मधुर तान छेड़ता है। थोड़ी देर बाद नीचे आता है, गाता है, पर पुन ऊपर चला जाता है और गाना जारी रखता है। अपने मधुर संगीत के कारण अक्सर इसे पिंजर-बद्ध होना पड़ता है, पर यह दिल खोल करतमी गाता है जब स्वतन्त्र रहता है, बन्दी नहीं। फिर भी इसे 'खाचार पाखी' बनना ही पड़ता है। वैसे यह काफी निडर है, आदमी के निकट आने पर डर कर भाग खड़ा होने वाला पक्षी नहीं। आकार में गौरैया से थोड़ा बड़ा, पर बनावट में उससे अधिक क्षीण-काय है। रंग खाकी है, शरीर पर कुछ काले-पीले चिन्ह बने होते हैं,

इसका घोंसला प्याले के आकार का होता है,  
जिसे यह जमीन पर बनाता है।

इसी की एक जाति है "अग्नि", जिसके सर पर चोटी नहीं होती। वाकी सब कुछ चंडूल जैसा ही होता है, लेकिन पाख के नीचे एक पट्टी होती है जो उड़ते समय लाल ही लक्षित होती है। यह खुले मैदान की अपेक्षा झाड़ियों को अधिक पसन्द करती है। आवाज में चंडूल जैसी



तेजी तो नहीं पर मिठास अवश्य है।

चंडूल की विरादरी का तीमरा पक्षी ध्योरा, दबक या जुठौली है। इसे भी खुला मैदान अधिक रुचिकर है। सात-सात, आठ-आठ के झुंड में यह रहता है। कद में गौरैया से भी अधिक छोटा, पर चोंच उसके ही नमान मोटी होती है। नर का सर भूरा और पीठ हल्के वादामी रंग की होती है। नीचे गाढा कत्यई रंग होता है। गर्दन का आवा हिस्सा भी प्रायः इसी रंग का होता है। ठोड़ी से आख तक काली घारी होती है। मादा का रंग वादामी होता है। गाना मीठा होता है पर उसमें बहुविधत्व की कमी होती है। इसे कहीं-कहीं 'भरदूल' पक्षी के नाम से भी पुकारते हैं।

चंडूल को 'भरत' नाम से भी पुकारते हैं। विलायती चंडूल की अपेक्षा हमारे देश के चंडूल कहीं अधिक मीठा गाते हैं। पर उन्हें पिंजरे में पालना आसान नहीं है।



## भुजंगा और भृङ्गराज

गत दो-तीन दिनों में काफी बारिश हुई । जहां-तहां पानी पड़ने लग गया, पेड़-पौध धुल कर स्वच्छ हो गये, चारों ओर मेघों का काला आवरण व्योम-मंडल पर छा गया । खेत और पगड़डियों पर जल और कीचड़ तो ज्यों के त्यों बने हुए थे, पर आकाश में मेघों का पर्दा फट चुका था और उसके भीतर से निकली हुई सूर्य की ज्योति चतुर्दिक फूल-पत्तों पर, मकानों पर, दूर्वादल की बिछी हुई फसों पर, हर जगह बिखर पड़ी थी । और मेरे शयन-कक्ष के ठीक सामने, पारिजात के वृक्ष तथा टेलीफोन के खम्भे पर प्रायः दस-बारह काली-काली चिड़िया जोरों में शोर मचा रही थीं, एक दूसरे पर छापे मार रही थी, कूदती थी, दौड़ती थी, मानो टहनियों पर आख मिचौनी-सा कोई खेल खेल रही हो ! यही नहीं, वे जोर-जोर से कुछ गा भी रही थी । मुझे इन्हें पहचानने में देर न लगी—ये भुजंगे या भुजगे थे जिन्हें हम बहुधा टेलीग्राफ के तारों पर बैठे देखते हैं, खास कर जब हम ट्रेन में सफर करते रहते हैं ।

इन्होंने आज की अपनी प्रातः कालीन क्रीड़ाओं से मुझे इन पर कुछ लिखने को विवश कर दिया । जैसा कि आपने देखा होगा—देखने में ये बिल्कुल काले होते हैं, मानो तार-कोल से रंगे हुए हों, और इनकी पूछ असाधारण रूप से लम्बी तथा दो सिरों की होती है । पूँछ के परो की संख्या दस होती है । नर और मादा में कोई अन्तर नहीं होता । कद में ये बुलबुल के बराबर होते हैं ।

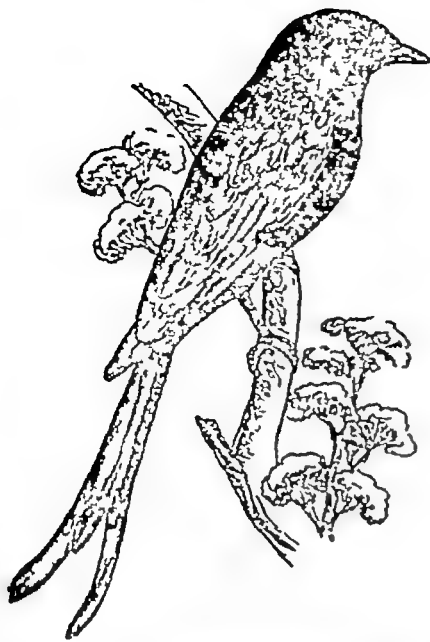
छोटी चिड़ियों में सबसे बहादुर पक्षी है यह भुजंगा । छोटे शरीर में मानो सिंह का हृदय, जो कभी भयभीत नहीं होता, ढाल दिया गया हो । (चित्र संख्या ६)

इसकी वीरता देखनी हो तो इसे घोंसला बनाने के समय या, अडा सेते समय देखें । उन दिनों इसका मिजाज हमेशा गर्म रहता है । कौआ, चील आदि पक्षियों की बात तो दरकिनार, यदि बन्दर इत्यादि भी इसके घोंसले के आसपास आ जायें तो यह उनकी बुरी तरह खबर लेता है । जान हुयेली पर लिये फिरता है । उन पर इस तरह टूट पड़ता है मानो किसी कनेरी पर बाज टूटता हो । चोंच से उस पर कठिन प्रहार करता है, कूद-कूद कर ऐसा वार करता है कि अन्त में उसे जान लेकर भागना ही पड़ता है । यही नहीं आदमी तक को उसके मस्तक पर उड़-उड़ कर चोंच से प्रहार करके परेशान कर डालता है । यही कारण है कि कई और पक्षी, खास कर पड़क और पीलक, भुजंगों के घोंसलों के पास ही अपना घोंसला बनाते हैं और ये बड़ी प्रसन्नता से उनकी जान-माल की भी रक्षा करते हैं । इसीलिए तो कहीं-कहीं ये 'कोतवाल-पक्षी' के नाम से भी पुकारे जाते हैं । निस्सन्देह बड़े वीर हैं ये और किसी भी परिस्थिति में हिम्मत नहीं हारते ।

निर्दोष पक्षियों पर ये हमला नहीं करते, उनसे भाई-चारे का ही व्यवहार रखते हैं, पर कभी-कभी ऐसा जरूर होता है कि ये भूखे होने पर उनका आहार छीन लिया करते हैं । घृत्ता का भी इनमें अभाव नहीं है । जब-तब शिकारे की-सी आवाज करके ये और पक्षियों को सशक्त कर डालते हैं, वे अपना आहार छोड़ कर भाग खड़े होते हैं और ये आनन्द के साथ उसे खा जाते हैं । शायद उनकी मूर्खता पर जी भर हँसते भी हैं ।







भुजगों का मुख्य भोजन छोटे-छोटे कीड़े तथा पतंगे हैं। जब वे हवा में उड़ते होते हैं तभी उन्हें ये पकड़-पकड़ कर चट कर जाते हैं। टेलीग्राफ के तांगे पर घायद ये उनकी ही प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहते हैं, खासकर गोधूलि के समय, जबकि पतंगे अधिकतर बाहर निकला करते हैं, और फिर उन्हें देखकर विजली की तरह उन पर दूट पड़ते हैं। उस समय भुजगों की तेजी देखने ही योग्य होती है। पंख और पूछ उठ पड़ती हैं और वे आकाश से जमीन पर बम बरसाने वाले “डाइव बाम्बर” की भांति कीड़े पर सीधे दूटते हैं और उसे चोंच में दबा कर पुनः अपने स्थान पर जा बैठते हैं। वायु-यान की तरह इसकी दुम इसके इस कार्य में बड़ी सहायक होती है।

गाय, भैंस आदि पशुओं के पृष्ठ भाग पर बैठना भी भुजगों को बहुत पसन्द है। बहुधा आप देखेंगे कि चरागाहों में अथवा खेतों में यह उन पर बैठा हुआ धूप में चोंच खोले हाफ रहा है।

घोसला बनाने में ये अत्यन्त निपुण हैं। घास-फूस का अतिशय सुन्दर, गोल प्याले-जैसा इनका घोंसला होता है, जिसे ये मकड़ी के जाल के तन्तुओं से पेड़ की ऊँची शाख में जकड़ कर बांध देते हैं। पर इनके घोंसलों से अपन आपको दूर रखना ही वाछनीय है, क्योंकि घोंसले के पास किसी के जाते ही ये आगववूला हो जाते हैं।

मादा के अंडा देने का समय अप्रैल से अगस्त तक है। अंडों की संख्या चार-चार पांच-पांच तक होती है। रंग भी दो प्रकार के होते हैं—विल्कुल सफेद अथवा लाल छोटो के साथ। इस देश के हर हिस्से में ये पाये जाते हैं तथा सभी प्रान्तों में इनके भिन्न-भिन्न नाम भी हैं, जैसे बंगाल में फिंगा, दक्षिण में बुचगा, उत्तर भारत में भुजगा, भुजल आदि। ये पांच हजार फुट की ऊँचाई तक के पहाड़ों पर प्राप्य हैं।

प्रकृति की लीला तो देखिये—स्वभाव के ये इतने लड़ाकू, पर बोलने में इतने मधुर-भापी !

इनकी बोली बड़ी मीठी होती है। पी फटते ही जब मुर्गा कंकण स्वर में दांग देने लगता है तथा कोए काव-काव करना शुरू करते हैं, तो ये अपनी सुरीली बोली से हमें जगाते हैं, माना प्रभाती गा रहे हों। सन्त तुलसी का “जागिये कृपा निधान पछी वन मोले” वाला पद या कि ललित राग में सूरदास का यह पद—

जागिये गोपाल लाल, आनन्द-निधि नन्द-बाल  
जनुमति कहै बार-बार, भोर भयो प्यारे ।

नैन कमल बल विशाल, प्रीति-वापिका-मराल,  
मबन ललित बदन उपर कोटि चारि डारे ।

प्रभात वेला में गाने के कारण ही शायद गावों में लोग इन्हे "ठाकुर जी" के नाम से भी पुकारा करते हैं ।

भुजगो की बिरादरी का ही एक पक्षी है, जो कद में इनसे काफी बड़ा होता है । वह है भूगराज (भूगराज तेल का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, भूगराज पौधे से है) । यह भुजगो से कद में प्रायः दूना होता है तथा इसके सर पर परो की एक कलगी होती है । पूँछ काफी लम्बी होती है । रंग समूचे बदन का नीलापन लिये हुए काला होता है । कहीं-कहीं सफेद चोच तथा डैने के पर में सफेदी लिए हुए भूगराज भी देखे गये हैं जो काले के साथ सफेदी के मिश्रण से बड़े सुन्दर लगते हैं । पर ऐसे शायद इने-गिने ही होते हैं । आम तौर पर इस किस्म के भूगराज नजर नहीं आते ।

भूगराज गान-विद्या-विशारद पक्षी है । पक्षियों में इसके जैसा उस्ताद शायद ही कोई हो । यही कारण है कि यह इतना लोकप्रिय भी है । दूसरी चिड़ियों की बोलियों को नकल भी यह बड़ी आसानी से और बड़ी निपुणता से कर लेता है ।

पिंजरे में यह आसानी से पाला भी जाता है, बशर्ते कि पिंजरा काफी बड़ा हो<sup>६</sup> और इसे काफी सख्या में कीड़े-पतंगे खाने को मिलते रहे । पिंजरे में यह मस्ती के साथ अपनी सुरीली तान छेड़ता है तथा श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर देता है ।

प्रसिद्ध शिकारी जिम कॉबेंट ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—

"कई वर्ष हुए बी० एन० डबल्यु० रेलवे के एक स्टेशन मनकापुर का ऐंग्लो-इंडियन स्टेशन मास्टर भूगराज तथा श्यामा पक्षी पाल-पाल कर बेचा करता था । ट्रेन वहाँ देर तक ठहरा करती है । अतः यह एक नियम-सा बन गया था कि यात्री ट्रेन छोड़ कर उसके डेरे पर जाते तथा भूगराज और श्यामा के पिंजरे ले-ले कर लौटते थे । वह पक्षी सहित पिंजरे की कीमत ३०) प्रति पिंजरा की दर से लिया करता था ।"

भूगराज पक्षियों की ही नहीं, बल्कि जानवरों की बोली की भी नकल बड़ी खूबी से करता है । जिम कॉबेंट ने अपनी उक्त पुस्तक में इसकी चर्चा करते हुए एक रोचक घटना का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

"मेरी उपस्थिति में एक चीते ने एक अल्पवयस्क हरिण की हत्या कर डाली । चीते को कुछ दूर भगा कर मैं मृत हरिण के पास लौटा तथा झाड़ी के एक वृक्ष से उसे बाधा । चूँकि आस-पास कोई सुभीते का वृक्ष न था, मैं अपना कैमरा लेकर जमीन पर ही बैठ गया । शीघ्र ही एक भूगराज कुछ छोटी चिड़ियों के झुंड के साथ वहाँ आ पहुँचा । मृत हरिण से तो नहीं, चूँकि उसके लिए यह कोई असाधारण घटना न थी, पर मुझे देखकर वह कुछ चकित-सा हुआ, पर जब उसे यह विश्वास हो गया कि मैं कोई भयकर वस्तु नहीं हूँ तो उडकर पुनः उन छोटी चिड़ियों के बीच चला गया जो डाल पर बैठी हुई चहक रही थी । चिड़िया मेरे बायीं ओर थी और मैं दायीं ओर से चीते के आने की आशा कर रहा था, जब कि सहसा भूगराज हरिणों की-सी आतकपूर्ण बोली बोल उठा जिसे सुनते ही बाकी चिड़िया, जिनकी सख्या पचास के करीब थी, एक साथ चिल्लाती हुई ऊपर की डालों पर भाग गयी और फिर जोर-जोर से भय सूचक शब्दों में बोलने लगी । भूगराज को देख कर मुझे अब चीते के चलने-फिरने का—अस्तित्व का—पता लगन

मगा, चीता पक्षियों की बोली से अप्रसन्न हो कर अपनी राह बदल कर अब ठीक मेरे पीछे की ओर मुड़ आया था। झाड़ी छिछली सी थी, अतएव वह आसानी से मुझे देख पाया तथा गुरगुराता हुआ जंगल की ओर बढ़ चला। साय-साय भृगराज भी। बड़े आनन्द के साथ अब वह विभिन्न उम्र के हरिणों की बोली—चीत्कार—घर्रा-घर्रा में बोल रहा था।

घोड़ी देर के बाद भृगराज ने पिण्ड छोड़ा कर चीता पुनः वहाँ लौटा और जब कि वह बड़े हुए मनु हरिण का वन्यन तोड़ने में लगा हुआ था, मने आसानी के साथ अपने कमरे में उसकी तस्वीर उतार ली।”



## बुलबुल

आलम को लुभाती हूँ पियानो की सदाएँ,  
बुलबुल के तरानों में अब लय नहीं आती।

जिन पक्षी के सन्ध में महाकवि अकबर की यह उक्ति है, मेरे इस छोटे-से बैठकस्थान के बरामदे में गत कई सप्ताह से उनके एक जोड़े ने घोंसला बना रखा है। सुबह से शाम तक अधिक मनन वे इस वसरे के इर्द-गिर्द मड़राते रहते हैं। घोड़ी देर के लिए बीच-बीच में बाग के सुदूर कोने पर जाते हैं, पर शीघ्र ही लौट आते तथा घोंसले में जा कर अपने नवजात शिशुओं की कुशल-क्षेम पूछते हैं। मैं बैठा-बैठा इस दृश्य को देखा करता हूँ और सोचता हूँ—क्या ये ही वे पक्षी हैं, जिनकी तारीफ में सैकड़ों वर्षों से फ़ारस के शायरों ने अपनी कलम तोड़ डाली है और उनकी नकल हिन्दुस्तान के गायरों ने भी की है। जब मेरे दिल में ये विचार उठते हैं, तो मेरी अवस्था कुछ वैसी ही होती है जैसी कि जगद्विख्यात अद्वितीय सुन्दरी हेलेन को देखकर डाक्टर फास्ट की हुई थी और वे चिल्ला उठे थे—

Is this the face that launched a thousand ships  
And burnt the topless towers of Ilium ?

—क्या यही वह मुखड़ा है, जिसकी प्राप्ति के लिए हजारों जहाज युद्ध के लिए निकल पड़े थे तथा ईनियम शहर की बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं को जल कर भस्मीभूत होना पड़ा था ?

ये उद्गार उन समय के हैं, जबकि मेफिस्टोफेलिस नामक एक जादूगर ने मृत हेलेन की आत्मा को शरीरवारी रूप में उनके नामने उपस्थित किया था। मेरा हृदय भी बुलबुल को देख कर पूछ उठता है—क्या यही वह पक्षी है, जिसे मोक्ष सादी एवं हाकिम जैसे महान् नाहित्यकारों का (उन्हें ‘बुलबुल-शिराज’ कहते हैं) उपमान बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ? उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि चक़ज़न्त ने लिखा था—

बुलबुल को गुल मुबारक, गुल को चमन मुबारक,  
हम बैरुतो को अपना प्यारा बदन मुबारक।

तथा फारसी के एक अन्य शायर ने—

य बुलबुल बुलबुलो कुमरो ब-स-रवे दोस्तां नाजब।

‘बुलबुल को गुल मुबारक’, शायर की इस उक्ति पर निस्सन्देह मेरे ध्यान की बुलबुलो ने पूरा उपयोग किया है तथा ‘गुलबुल’ (गुलाबों) पर अपनी पूरी प्रीति दिखाई है, यद्यपि—

कि इसमें रहने वाली बुलबुले, जिनकी सख्या सौ से कम न होगी, दिन भर डालों पर धिरकती और चहकती हुई निर्भयतापूर्वक फूलों का रसास्वादन करती रहती हैं। बगाल के प्रसिद्ध कवि नज्दुल इस्लाम ने इस भय से कि बुलबुल का डाल का हिलाना कहीं सोए हुए फूल को जगा न दे, कहा था—“बुलबुलि, तुझ फूल शाखा ते दिस ने आजि दोल”— अर्थात् बुलबुल, तू फूल की डाल को आज डुला मत दे। कवि को यह भले ही पसन्द न हो, पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि फूल अपनी प्रियतमा की इन छेड़खानियों के लिए तरसते रहते हैं।

तो आखिर ये बुलबुलें हैं कौन ? बुलबुल कद में गोरंये से कुछ बड़ी एक ऐसी चिड़िया है, जिसकी बनावट सुन्दर तथा अदायें मनमोहक होती हैं। इसके सिर पर मुर्गे-जैसा एक तुर्रा होता है, जो दो प्रकार का है—घना और नुकीला। भारतवर्ष की फुलवारियों, वन-उपवनों में ये बहुतायत से पाई जाती हैं। काली होने पर भी चित्ताकर्षक है। इनकी दुम के नीचे का भाग सुर्ख होता है, जो इनकी खूबसूरती को और भी ज्यादा बढ़ाता है। इनका भोजन अधिकतर फूल-फल है, पर कभी-कभी ये छोटे-छोटे पतंगों को भी अपना आहार बना डालती हैं। श्री मेसन नाम के एक सज्जन ने पूसा (बिहार) में एक दफा ३६ बुलबुलों की उदरस्थ वस्तुओं की परीक्षा की थी, जिनमें १२६ प्रकार के कीड़े-मकोड़े पाये गये थे, ६६ तो उनमें ऐसे थे जो मनुष्यों के लिए काफी नुकसानदेह माने जाते हैं और विषैले हैं।

धान आदि के खेत में लगे हुए नाज को खाने में भी ये अन्य पक्षियों से किसी कदर कम उस्ताद नहीं होती, खेत-का-खेत चट कर जाती हैं। तभी तो ‘बरगी,’ मराठी की लूटपाट से सतप्त बगाल के किसी किसान ने रो-रोकर कहा था—

छले घुमालो, पाडा जुड़ालो,  
बरगी एलो देशे,  
काल बुलबुलि ते धान खेलो,  
खाजना देवो किशे ?

—काल बुलबुलें खेत का धान चट कर गयी, अब सरकारी कर किस प्रकार दूंगा !

बुलबुलें पाली जाती हैं और पालतू बुलबुले काफी शोख भी होती हैं। इन्हें वधन में अथवा पिजरे में रखने की आवश्यकता नहीं रहती, ये पालने वालों के हाथों और कन्धों पर आनन्द से बैठती और चहकती रहती हैं।

प्राचीन काल में शौकीन-मिजाज लोग बाज अथवा परेवा-कपोत की भांति इन्हें भी हाथों पर बिठा कर घूमा करते थे। बुलबुल लड़ाने की भी परिपाटी थी। राजा-महाराजा, नवाब रईस, अमीर-उमरा, खास तौर पर बुलबुले लड़ाया करते थे और इनकी लड़ाई में आम जनता वैसे ही दिलचस्पी लिया करती थी,



जैसी कि भाजकल फुटबाल और क्रिकेट के मैचों में लिया करती है। लडाई के मैदान में भीड़ उमड़ पड़ती थी तथा विजेता बुलबुलों पर लोग कुर्बान जाते थे। अन्य सभी बुलबुलों को पराजित कर जो सर्वश्रेष्ठ, विजेता होती थी वह उस वर्ष की 'चैम्पियन' मानी जाती थी तथा उसके पालक उसके अङ्ग्रे—बैठने वाली काठ की लम्बी मीट—पर सोना-चादी मढाते थे। उसे अगले वर्ष के लिए बड़ी कद्र के साथ रखते थे तथा अन्य बुलबुलों को उडा देते थे। अवध के नवाबों को बुलबुले लडाने का खास शौक था। पर अब वह जमाना न रहा "वे चौकिया बदल गई, थाना बदल गया।" राजा-महाराजा, नवाब, ताल्लुकदार, जमींदार चले गये, रियासतें न रही और न रही बुलबुल पालने की वह पुरानी प्रथा।

बुलबुल की कई उपजातियां हैं (१) सबसे सार्वलौकिक बुलबुल वह है जो लम्बाई में प्रायः ६ इंच की होती है तथा जिसकी चोटी (तुरा) एव पूछ बिल्कुल काली होती है। हा, दुम के निचले हिस्से पर, कुछ सफेदी तथा गुलाबीपन अवश्य होता है। गले के पास का हिस्सा भी काफी काला होता है। भारतवर्ष के अधिकांश हिस्सों में इसी जाति की बुलबुले काफी सख्या में पाई जाती हैं।

(२) दूसरी किस्म की बुलबुल, देखने में पहली किस्म की बुलबुल से अधिक चित्ताकर्षक होती है। इसकी लम्बाई पहली किस्म की बुलबुल से कुछ छोटी होती है। इसकी पीठ भूरे रंग की और नीचे का हिस्सा पूर्ण रूप से सफेद होता है। दुम पर सफेद धब्बे होते हैं। पर इसी जाति की एक दूसरी बुलबुल भी पाई जाती है, खासकर हिन्दुस्तान के पश्चिमी प्रान्तों में, जिसकी छाती पर एक काली रेखा-सी खिंची होती है और पूछ पर सफेद धब्बे नहीं होते। दोनों के लम्बे, घने, काले तुरे होते हैं, गाल पर सुखं धब्बे तथा पूछ के नीचे सुखं होती है। इस जाति की बुलबुले हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों तथा बर्मा में पाई जाती हैं तथा सुन्दरता के लिए विख्यात हैं।

(३) तीसरी किस्म की वह बुलबुल है, जो कद में न० २ की ही भांति होती है। निर पर चोटी भी उन्हीं-जैसी होती है, पर रंग बिल्कुल भिन्न होता है। घना तथा बिखरा पख-समूह, जिसका रंग, शुरु से आखीर तक, भिवा काले सिर के, पीला तथा आखें भी अन्य बुलबुलों के ठीक विपरीत, पीली होती हैं। ये इस देश के कुछ ही हिस्सों में पाई जाती हैं।

(४) ध्वेत गालों वाली बुलबुल, सुन्दरता में सबसे बड़ी-चड़ी है। इसके हाव-भाव में यह नाफ जाहिर होता है कि इसे अपनी सुन्दरता पर बड़ा नाज भी है। कद में प्रायः ७ इंच की, गले पर कालापन, पूछ के निम्न भाग पर नतरे के रंग का पीला घन्ना, कहीं-कहीं नफेरी भी, और चेहरे के दोनों ओर ध्वेत-वर्ण के सुन्दर धब्बे होते हैं। आखें गाली और बड़ी तथा सिर के तुरे का हर एक पर भरा-पूरा एव घुघरागा-गा होता है। यह एक प्रकार से पर्वतीय बुलबुल है, क्योंकि इसका निवास-क्षेत्र मरी की पहाटी से लेकर भूटान तक है तथा ६००० फुट की ऊँचाई तक यह पाई जाती है। कश्मीर में लोग इसे बड़े प्यार से पालते हैं तथा चम्पा में इसे पेनजु के नाम से पुकारते हैं।

(५) पाचवी किस्म की बुलबुल यह है, जिसके कान ध्वेत होते हैं तथा पूछ के नीचे का हिस्सा पीला, बिल्कुल कैसरिया रंग का होता है। ये मध्य भारत से लेकर पाकिस्तान तथा फारस तक में पाई जाती हैं। फारस की प्रसिद्ध बुलबुल की इसमें अति नमानता



—ओ मधुकठी चिड़िया ! जो मूर्खतापूर्ण ध्वनियों से दूर रहती है ।

—ओ सर्वाधिक सगीतमयी ! ओ सर्वाधिक करुण ! ओ कल कूजनवती ! बहुधा वनो में तेरा सान्ध्यगीत सुनने के लिए मैं तेरा आह्वान किया करता हूँ ।

तथा एडविन आरनल्ड ने लिखा—

The Bulbul, which did chase the jewelled butterflies

—वह बुलबुल जो हीरो सी सुन्दर तितलियों के पीछे दौड़ती थी ।

और कश्मीरी ग्राम-गीत के किसी अज्ञात रचयिता ने कहा—

गाओ, गाओ, हे बुलबुल, आयी बहार, आयी बहार अब ।

लेकिन कुछ ऐसे “जाहिदे-खुश्क” इस मुल्क में पैदा हुए, जिन्होंने उसके आन्तरिक माधुर्य और उसके गुणों की ओर दृष्टि न डाल कर केवल उसके पार्थिव शरीर को ही देखा और बड़ी बेरहमी से साथ कहा—

मालूम है मुझे सब बुलबुल तेरी हकीकत,

एक मुश्त उस्तखा है, दो पर लगे हुए हैं ।

शायद ऐसे ही जनो के—जो बुलबुल की रूह को न देखकर केवल उपयोगितावाद के सिद्धान्त पर उसके शरीर को ही देखते हैं और उसके भीतर वहने वाली सरसता की शाश्वत निर्झरणी की ओर दृष्टिपात नहीं करते—सम्बन्ध में महाकवि क्षेमेन्द्र ने लिखा था—

यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्ट.

तर्केण दग्धोनल धूमिना वाप्य विरुद्धकर्णं. सुकवि प्रवर्ध.

न तस्य वक्तृत्व-समुद्भव. स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तः

न गर्वभो गायति शिक्षितोऽपि सर्दाशित पश्यति नार्कमधः ।

ठीक ही कहा है कि जो स्वभाव से ही प्रस्तर के समान है, वे बुलबुल की कीमत-कद्र क्या जान ? पर जिस ससार में ईसा और मसूर जैसे लोग सूली पर चढ़ा दिए गए, वहां यदि बुलबुल के साथ ऐसा निष्ठुर व्यवहार हुआ तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? कहा भी है—

निष्ठुरता ही तो इस जग का सबसे बड़ा नियम है,

कोमलता, करुणा, सहृदयता इन्हें ढूँढ़ना भ्रम है !

पक्षी-समाज के साथ मानव का व्यवहार एक-सा नहीं रहा है । कहते हैं कि इटली का प्रसिद्ध दार्शनिक चित्रकार जगद्विख्यात लियनाडों द विंची पक्षियों से इतना प्रेम रखता था कि वह उन्हें बन्दी अवस्था में देख ही न सकता था । उसकी यह आदत थी कि वह पिंजरबद्ध पक्षियों को खरीद-खरीद कर उन्हें बन्धनमुक्त करता रहता था । दूसरी ओर अंग्रेजी का कवि राल्फ हागसन लिखता है—

I saw with open eyes

Singing birds sweet

Sold in the shops

For the people to eat,

Sold in the shops of

Stupidity street.





मंने इन आँखों से देखीं  
 गानवती चिड़ियां सुन्दर  
 विकते घीच बजार, मनुज का  
 भोजन बनने हित रुचिकर  
 देसा ठूकानों पर विकते  
 मूर्ख-मार्ग पर, वीच सदर ।

मनुष्य की हृदयहीनता की इस से बढ कर दूसरी कौन-सी मिसाल हो सकती है ?  
 तभी तो नजरूल इस्लाम ने शोक भरे शब्दों में कहा था—

केमन राखि आखि-बारि चापिया,  
 प्राते कोकिला कांदे, निशिये पापिया !

पर बुलबुल उन पक्षियों में है जिन्हें देख कर हृदय में कषणा के नहीं, उमगो के भाव जगते हैं ।

किसी कवि ने उसे "वन-उपवन की आली" कहा है । इसमें सन्देह नहीं कि 'वन-उपवन की आली' बनने की योग्यता यदि किसी पक्षी में है तो वह बुलबुल में ही, प्रकृति-नटी की मधुशाला की निपुण नर्तकी बनने की भी योग्यता वही रखती है । तभी तो, जिन्दा लोगो की बात तो दरकिनार, कब्र में सोयी हुई आत्माएँ तक यदि अपनी मज्जार पर इन चहकती हुई बुलबुलो को नहीं पाती, तो इनके लिए तरसती रहती है । जेबुन्निसा के इन विपादपूर्ण शब्दों पर ध्यान दें—

घर मजारे मां गरीबा नै चिरागे, नै गुले,  
 नै परे परवान. सोजव, नै सवाए-बुलबुले !

—मुस दखि की कब्र दीपक और फूल, दोनो से रहित हैं । अतः यहाँ न तो परवानों के पर जलते हैं और न "सदाए-बुलबुल" (बुलबुलो की पुकार) ही सुनायी पड़ती है ।



## फटिकजल

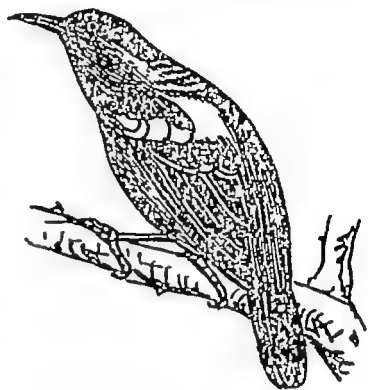
वर्षाकाल के सन्ध्याकाश में घन घिरने आ रहे हैं । सूर्य के अस्त होने में समय शेष रहने पर भी धीरे-धीरे बदकार का प्रसार होता जा रहा है । अधिकांश पक्षी घोंसलों में दुबके हैं । पर एक छोटा-सा पक्षी है जो वृक्ष से उड़ कर सीधे आकाश की ओर तेजी से जाता है, फिर उसी गति से पार्श्व बन्द कर नीचे आता है और फिर ऊर्ध्वगामी होता है । चोंचें उसकी खुली हुई हैं और वह लगातार कुछ बोल रहा है मानों किसी वस्तु की याचना कर रहा हो ।

शीघ्र ही उसकी दृप्त व्याकुलता का रहस्योद्घाटन होता है । मेष बरसते हैं और अपनी खुली चोंचों से वह घीतल जल-बिन्दु का पान करता है और अपने हृदय की ब्या को, प्यास को, बुझा लेता है । यह है वह छोटा-सा पक्षी, जिसे हिन्दी में "घोंदिया" और बंगला में "फटिकजल" कहते हैं । बंगाली कहते हैं कि "फटिकजल" फह-फह कर वह

मेघ से जल की याचना करता है। हिन्दी भाषा-भाषी कहते हैं, यह शोवि-इ-इ-इ-ग कहता है। पर खग की भाषाएँ जानने वाले ही बता सकेंगे कि यह वास्तव में क्या कहता है।

साहित्य में चातक की प्यास प्रसिद्ध है—‘चातक रटोह तृषा अति ओही’—और इसीलिए मेघ-वारि-बूदो का, वृक्ष की पत्तियों पर पड़े हुए वर्षाजल का वह मुक्क-कठ से पान करता है। इस पक्षी के सम्बन्ध में यह धारणा बंगाल में बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य का स्वाति-जल-प्यासा चातक यही है, पर बहुतो का मत इसके विपरीत है। उनके विचार से चातक और पपीहा दो नहीं, एक ही पक्षी है। वर्षा-बिन्दु के प्रेमी एक से अधिक पक्षी भी तो हो सकते हैं !

शोबिग या फटिकजल एक छोटा-सा पक्षी है—अत्यन्त लजीला, अधिकतर बड़े-बड़े बट, पीपल, नीम आदि वृक्षों की पत्तियों की ओट में बैठा हुआ यह छोटे-छोटे कीड़ों का शिकार करता या सुमधुर स्वर में गान करता रहता है। अधिकतर प्रजनन ऋतु



के आरम्भ होते ही नर अनेक हाव-भावों से मादा का चित्त हरने की कोशिश करता है, उसके पास जा कर बद्ध-पक्ष रीति से बैठता है, मानो प्रणय-याचना कर रहा हो, और फिर उठ कर मधुर स्वरों में गाता है। गरज यह कि उसे रिझाने की हर प्रकार की कोशिश करता है। मादा चुपचाप बैठी हुई उसकी प्रणय परीक्षा लेती है और अंत में उसकी प्रणय चेष्टाओं से सन्तुष्ट हो कर उसे प्रेम-भीख देती है।

नर जिन दिनों मादा को सम्मोहित करने में सलग्न रहता है, उन दिनों सुमधुर स्वर में गाता तो है ही, नये वस्त्र भी धारण कर लेता है अर्थात् उसके परो के रंग में एक विचित्र परिवर्तन आ जाता है। प्रजनन ऋतु के समाप्त होते ही वे फिर पहले जैसे हो जाते हैं।

कभी-कभी यह भी देखा गया है कि नर के बदले मादा ही काम-चेष्टा में सलग्न होती है। तरह तरह के हाव-भावों से नर को अपनी ओर आकर्षित कर के वह अपनी इच्छा की पूर्ति करती है। इस पक्षी की यह एक विशेषता है, क्योंकि पक्षियों में प्रकृति-नर ही मादा को रिझाने की चेष्टा करते हैं, मादा नरको रिझाने की नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि फटिकजल की मादा, अत्यन्त पति-अनुरागिनी है क्योंकि वह हमेशा नर के साथ-साथ ही रहती है, यहाँ तक कि नर यदि क्षणमात्र को भी उड़ा तो वह भी उसके साथ-साथ ही उड़ पड़ती है। मानो वह—

जिउ विनु वेह, नवो विनु बारी,  
तैसेइ नाय पुरुष विनु नारी।

के सिद्धान्त पर चलने वाली है।

फटिक पक्षी का रग-विश्लेषण एक कठिन समस्या है। एक तो यह ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ अपने परो का रग बदलता है, दूसरे इससे मिलते-जुलते और भी कई पक्षी हैं, जिनसे इसका अनिष्ट वर्ण-सादृश्य है। फिर भी यदि इसे हम उड़ते वक़्त देखें

तो इसे पहचानना फटिन नहीं है। सीधे आकाश की ओर उड़ने का इसका तरीका कुछ ऐसा विशिष्ट होता है कि इसे उड़ते देख कर हम जान सकते हैं कि यह अन्य कोई पक्षी न हो कर फटिकजन ही है।

कद में यह गौरंये से भी छोटा होता है। रंग में मादा के शरीर के ऊपर का हिस्सा जंतून के रंग का पीलापन लिए हरा तथा निचला पीला होता है। पाखों पर दो सफेद धारिया होती हैं। प्रजनन ऋतु में नर का ऊपरी हिस्सा विल्कुल चमकदार काला तथा निचला गाढा पीला होता है। पाखों पर दो सफेद मोटी-मोटी धारिया होती हैं। प्रजनन-काल के समान होते ही इसका वर्ण भी विल्कुल मादा के सदृश ऊपर जंतूनी हरा, नीचे हल्दी-सा पीला हो जाता है। गिनु पक्षी का रंग मादा जैसा रहता है।

मोटे तौर पर फटिकजन का यही रंग है। पर ऋतु एव स्थान-भेद में इसके रंग में काफी परिवर्तन हुआ करता है। ममलन, भारतवर्ष के दक्षिणी प्रान्तों में पाये जाने वाले पक्षी का रंग अधिक गाढा होता है, बाकी जगहों में हल्का। इसी तरह परिवर्तित रंग में भी कभी-कभी काफी भिन्नता पायी जाती है।

घोंसला बनाने में यह पूरा दख होता है। जमीन में कम ही ऊंचाई पर मुलायम घास-फूस की सहायता में यह कटोरे के आकार का घोंसला बनाता है जो देखने में सुन्दर नया साफ-सुथरा होता है। इसका भीतरी भाग मकड़ जाल की मदद में अच्छी तरह स्टाप्टर किया हुआ रहता है।

मई से सितम्बर तक इनके अंडा देने का समय है। अंडों की नब्ब्या दो से चार तक होती है। जिस प्रकार कौआ कोयल में तथा नतभइया पपीहे में छला जाता है, उनी प्रकार यह शाह-बुलबुल से। कभी-कभी शाह बुलबुल अपने अंडे इसके घोंसले में रख आती है और यह बड़े शौक से उन्हें नेता है। अंडों में निकल कर बच्चे यथा समय नौ-दो-ग्यारह हो जाते हैं।



## कौआ

मरत प्यास पिजरा पर्यो, सुआ सनय के फेर,  
आवर दें-वै बोलियत घायस बलि की घेर।

—विहारी

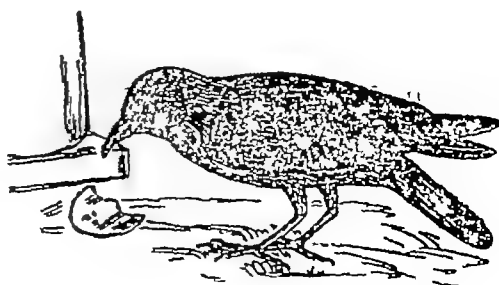
रेडियो सप्ताह-समारोह के सिलसिले में १६ फरवरी, १९५६ को आकाशवाणी, दिल्ली के प्राण में सुगम संगीत का आयोजन था। मुझे भी यही नियत एक दर्शक के इनमें शामिल होना पड़ा था। होली, भजन, आदि कई हल्के गाने गाये गये। फिर एक गायिका ने मधुर स्वर में एक लोक-गीत गाया—

जा, उड़ि जा रे कागा, उड़ि जा,  
ला, प्रोतन की ला रे सयरिया।  
तोरी सोने से जौंच मड़ाजगी,  
तोरे पायन में टाङ्गी छल्ला।

तोहि रचि रचि खोर खिलाऊंगी,  
तोरे पायन में डाहूंगी छल्ला ।

जा उड़ि जा रे कागा, उड़ि जा,  
ला, प्रीतम की ला रे खबरिया ।\*

मैं मन्त्रमुग्ध-सा होकर इसे सुनता रहा और सोचता रहा, यह मनुष्य भी कितना निर्मम एवं कृतघ्न प्राणी है कि विरहानल में दग्ध प्रोषितपतिका को प्रियतम के आने की पूर्व-सूचना देकर सजीवन प्रदान करने वाले काक पक्षी के लिए वह दो चार बड़ाई के शब्द भी न निकाल सका जब कि घूर्ताधिराज, “मधु तिष्ठति जिह्वाग्ने, हृदयेतु हलाहलम्” को सार्थक करने वाली कोकिल की प्रशस्ति में वह न जाने कितने शत-सहस्र शब्द-कुसुमों की माला गूथ गया ।



आज ही नहीं, युग-युगों से मानव-न्याय का यह भी एक अद्भुत नमूना है । भक्त-शिरो-मणि सत तुलसीदास तक ने तो यहाँ तक कह दिया—

वायस पालिय अति अनुरागा,  
होहि निरामिष कबहुं कि कागा ?

कवि ठाकुर ने कहा—

गुन के गाहक सहस्र नर, बिनु गुन लहै न कोय ।  
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय ।  
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन,  
दोऊ को इक रग, काग सब भये अपावन ।

और कविवर विहारीलाल ने फर्माया—

अरे हस ! यहि नगर में जैयो आप बिचारि,  
कागन सों जिन प्रीति करि, कोयल दई बिडारि ।

प्रियजन का सन्देश वाहक, भविष्यवक्ता काक तो गुणों से रहित, त्याज्य, समझा जाय, परन्तु कपट से दूसरों के घोंसले में अपने अड़े रख कर सिर का भार हटाने वाली कोयल गुणसम्पन्ना, स्तुत्य—कैसी विडम्बना है यह ।

ऐसा यह संसार ! सत्य का गया जमाना,  
रही कपटता और विहंस निज भाव छिपाना ।  
गुण छलियों का आज मनुज ऊँचे स्वर गाता,  
क्योंकि हृदय का छल-प्रपंच वह देख न पाता ।

---

\*विरह दग्धा एक दूसरी नायिका ने तो यहाँ तक कह डाला था—

कागा ! नैन निकारि लै, पिया पास लै जाय,  
पहले वरस दिखाय कै, पीछे छोड़ो खाय !

प्रियतम के परदेश रहने पर प्रमदाए जिनकी चोच सोने में मडाने की प्रतिज्ञा करनी आई है उस पक्षी का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। वह एक ऐसा पक्षी है जो मयार के हर देश में, शीतोष्ण प्रान्तरों में ममानरूप में व्याप्त है तथा जिसे दुनिया के सभी लोग पूरी तरह जानते हैं, पहचानते हैं। वह है वायम, जिसके दो प्रमुख भेद हैं—काग और कौआ।

काग और कौए में रंग का भेद तो है ही, स्वभाव का भी अन्तर है। काग न तो कौए जैसे झुंड बांध कर रहते हैं और न उन की तरह नगर-जीवन से प्रेम ही रखते हैं। इन्हें शहर की अपेक्षा वन अधिक प्रिय है और वस्तियों में ये तभी आते हैं जब कि इन्हें कोई मवाद सुनाना होना है अथवा किसी भावी घटना की पूर्व सूचना देनी होती है।

इनकी कई मुख्य-मृत्यु विस्मं हैं। एक वह है जो कि पंजाब, सिन्ध, उत्तर प्रदेश, बर्मा तथा मध्य प्रदेश में बहुतायत में पाई जाती है, दूसरी गले पर भूरे रंगवाली है जो बलूचिस्तान की ओर प्राप्त है। तिब्बत, भूटान, सिक्किम तथा भारत के कश्मीर आदि पहाड़ी प्रदेशों में पाये जाने वाले कागों में और भी भिन्नता है। आकार एवं रंग, दोनों में ही ये मैदानी कागों से भिन्न हैं। गरज यह कि मनुष्यों की भांति इनके रंग-रूप में भी स्थानान्तर से काफी फर्क आ जाता है। पक्षी तथा चोंचों की लम्बाई से ही एक की दूसरे से भिन्नता परिलक्षित होती है, पर मुख्यतः इनकी वह जाति, जो दक्षिण भारत तथा लका में पाई जाती है, हिमालय में रहनेवाली जाति से, जिसकी छाती के रोयें पूर्णतः श्वेत हैं, अत्यधिक भिन्न हैं। सिक्किम में ये १३-१४ हजार फुट की ऊँचाई पर भी पाये जाने हैं। अदमान, लका और जावा के काग की चोच औरों की अपेक्षा कहीं अधिक लम्बी होती है। प्रकृति यह दूर की यात्रा पसन्द नहीं करते। पर आवश्यकता आने पर पक्षीमो कोम तक भी चले जाते हैं, हिचकने नहीं। घुन के पत्ते हैं और इनकी चेष्टा “काक-चेष्टा” नाम से जगत् प्रसिद्ध है।

कौए कागों से कहीं ज्यादा भूरे होते हैं, आकार में छोटे पर छेड़छानियों में बड़े-बड़े। दूसरों के अडे चुरा कर खा जाना, मेटक तथा छिपकलियों को चोंचों से मार-मार कर तग करना, नोने-चादी के घर्तन अथवा आमूषणों को चोच से उड़ा कर वे भागना आदि इनके आये दिन के करिश्मे हैं। वाग और खेतों की कीड़े-मकोड़ों को ये चट कर खाते हैं। खेत में बोये हुए नाज के दानों को भी ये नहीं छोड़ते। वृक्ष के फलों के नों में ये शत्रु हैं ही। पर एक अर्थ में ये कृषकों के लिए उपयोगी भी हैं। खेत में गगे हुए नाज के पीघों तथा दानों को नुकसान पहुंचाने वाले कीड़ों को भी ये हजम कर जाते हैं और इन प्रकार किनारों को समय-समय पर बड़ी मदद भी पहुंचाते हैं।

कौओं की चोर-प्रवृत्ति जादू-विश्यात है। दूसरों के घोंमने में जाकर अडे चुराना इनका रोज का काम है। यही वजह है कि यदि भुजगे इन्हें अपने घोंमने के साम-साम देख लेते हैं तो क्रुद्ध होकर उन पर दूट पड़ने हैं और ये ‘रिट्रोड’ (पीछे हटने) के निद्रान पर अमल करते हुए, वहां से भाग पडे होते हैं।

पर यदि इनके घोंमने के पान हम वगैर इजाजत के चले जायें, तो ये आग-बदूला हो उठने हैं, हम पर चबुओं से आघात तक कर डालते हैं। ऐसी ही मुर्तायत में फसे हुए एक अंग्रेज लेनक की अपघाती सुनिए—

“मैं एक बार एक कौए के घोंमने के पास गया तथा उसके भीतर में उसके एक बच्चे को चुरा लाया। उसके मा-दाय मेरे बागों ओर उड़-उड़ कर, जब तक मैं घोंमने के मचीप



रहा, मुझे गालिया देते रहे । वृक्ष से नीचे उतर कर मैंने समझा, क अब सब ठीक है । पर हाय, जब मैं घर की ओर मुड़ा, खाली सर खाली पैर तो पीछे से बड़े अपमानजनक तरीके से मुझ पर आघात हुए । पहले मेरे सर पर एक सख्त चोट, फिर जब मैं भयभीत हो कर घर के बरामदे की ओर भाग चला, बायीं एडी पर उससे भी जोरदार चचु-प्रहार ।

• कई महीने बाद जब मैं विलायत लौटा, उपर्युक्त चचु-आघात के द्वारा किये गये घाव से तब भी कष्ट पा रहा था ।”

काग और कौए दोनों में ये प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं, पर काग में जातीयता का उतना जोर नहीं जितना कि कौओं में । कौओं में पारस्परिक एकता कही अधिक है । इसका तमाशा देखना हो तो किसी एक कौए को मार डालिए, फिर देखिये, हजारों कौए वहाँ एकत्र होकर शोर मचाना शुरू कर देंगे । विपत्ति में पड़े हुए अपने साथी के सहायताार्थ ये कुछ उठा नहीं रखते । साथ ही, यदि इनके बीच का कोई कौआ ऐसा काम कर बैठता है जिससे इनकी जाति के नाम पर बब्बा लगता है तो फौरन इनकी पचायत बैठ जाती है । सैकड़ों, हजारों कौए इसमें हिस्सा बटाते हैं तथा सर्वसम्मति से उसे समुचित दंड दिया जाता है । ये प्राणदंड तक दे डालते हैं । यदि अपराध गुरुतम हुआ, तो अपनी चोंच की ठोकरो से ये उसे मार डालते हैं ।

जातीयता को इस सकीर्ण भावना के कारण ही शायद इनकी ओर पक्षियों से तनिक भी नहीं पटती । ये जिस किसी भी पक्षी के निवास-स्थल की ओर जाते हैं उसके द्वारा इन्हें तिरस्कार मिलता है और समय-समय पर चोट भी खानी पड़ती है ।

काग वनविहारी भी हैं, ग्रामप्रेमी भी । पर कौए को नगर, गाँव, मकानों की छत, आगम, ये कही ज्यादा पसन्द हैं । सुबह हुई नहीं कि इन्होंने शोर मचाना शुरू किया । फिर तो सोना असम्भव-सा हो जाता है, सिवाय चारपाईं छोड़ने के और कोई चारा नहीं रहता । तभी तो वासक-शैया पर सोई हुई किसी नवविवाहिता नायिका ने फरियाद की थी—

सोवत निंदिया जगाई हो रामा,  
भोरहि भोरे ।

कारण भक्तकवि चंडीदास के शब्दों में सुनिए—

प्रभात कालेर काक, कोकिल डाकिल,

देखिया रजनी शेष,

उठिया नागर, तुरित गेल जे,

वांघिते-वांघिते केश ।

सइ (सखि) तोरे से वलिये कथा ।

से बंधु कालिया, नागल वलिया,

मरमे रहल ब्याया,

रहिया आलिसे, ठेसना वालिसे,

ढुलुढुलु बुटि आंखि ।

बसने बसने, बदल हंयाछे,

एखन उठिया देखि ।

घरे मोर बाबी, सासुडी मनदी,

मिछे करे परिवाद,  
इहाते एमन, करिव फेमन,  
कि हइल परमाव ।  
चडीबास कहे, मनैर आह्लादे,  
मुन हे रसिकजन !  
सदा ज्वाला जाय, तबे से ताहार,  
मिलये पिरोति घन ।

ब्राह्ममुहूर्त में ही जाग कर ये कौए (और राग) न जाने कौन-सा मन्त्रोच्चार करने लगते हैं ।\* घर की छतों पर तथा गृह-प्रागण में ये भाति-भाति के क्रीड़ा-कौतुक भी दिखाते हैं । ऐसे ही एक खिलवाड़ का एक रोचक किस्सा मेरे एक मित्र ने मुझे सुनाया था । वह इस प्रकार है—

एक मौलाना अपने आगन में बैठे हुए किसी पुस्तक का अवलोकन कर रहे थे । इतने में उनकी दृष्टि छत से लगी हुई एक काठ की सीढ़ी पर पड़ी । उन्होंने देखा कि एक कौआ एक के बाद दूसरे डंडे पर चढ़ता हुआ ऊपर बढ़ रहा है । अन्त में वह इसी प्रकार चढ़ता हुआ छत पर जा पहुँचा । वम, मौलाना ने फौरन सीढ़ी हटा ली और बोले, हज़रत ! देखें तो कि अब आप कैसे नीचे उतरते हैं ?

इस तरह के एक नहीं, दर्जनों खेल ये खेला करते हैं । अंग्रेजी के एक कवि का संकेत इसी की ओर है—

That for ways that are dark,  
And for tricks that are vain,  
The house-crow is highly peculiar,  
Which the same I am free to maintain

—घरेलू कौए का विचित्र ढंग होता है उसके विचित्र कौतुक होने हैं, और उसकी अर्थहीन क्रीड़ा होती है । वम-से-वम मेरा तो यही विचार है ।

मानव-जीवन के साथ इसका कुछ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है कि कभी-कभी इसकी अनुपस्थिति हमें खटकने लगती है । घर की छतों, दीवारों एवं प्रागण में यदि वे नजर न आयें तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैने कुछ खो गया हो । मानव और कौए का यह निकट सम्बन्ध इस देश में आज का नहीं, युगों का है । तभी तो प्राचीन साहित्य में इसकी चर्चा एक दो स्थानों पर नहीं, स्थान-स्थान पर की गई है । मन्त्रों ने ने कर

\* कालिदास का विचार इसके सम्बन्ध में कुछ और है । कहते हैं, निमिरात्मा के द्वारा निमिरत्यण होने के कारण वहाँ ये भी मार न दिये जायें, इन भय से ये कान पुकार-मुकार कर पों फटते ही कहने लगते हैं, हम बाग हैं, हम काग हैं, निमिर नहीं—

तिमिरादिस्तमो हन्ति शंका शक्तिमानसा,

वयं काका वयं काका इति जल्पन्ति वायसा ।

१. भारतीय साहित्य में काग और कौआ पर्यायवाची शब्दों की तरह व्यवहृत होते रहे हैं, वन इनमें निरुक्ता मानना कठिन है नहीं, सम्भव है । दरअसल उन दोनों के रग-महन, प्रवृत्ति आदि में अधिक अन्तर नहीं । एक ही जाति को ये दो उपजातियाँ हैं । प्रस्तुत लेख में भी इसी परिपाटी का आश्रय लिया गया है ।

सभी अर्वाचीन भाषाओं में इनका जिक्र है, यहां तक कि बुल्लेशाह जैसे पट्टचे हुए सूफी फकीर तक इसे न भुला पाये, बोले—

घूँघट खोल सज्जणा ! हुण शरमां के-हियां रक्खियां वे ?

\* \* \* \*

मैं बन्दी वा जेतू साईं, कदीं तां आवीं फेरा पाईं,  
मिहर करीं ते मुख दिखलाई, मैं काग उड़ावीं थक्कियां वे ।\*

हुण शरमां . . . . .

और राजस्थान की एक प्रोषितपतिका नायिका ने आरजू के साथ कहा—

उड़ज्या रे, काग, गिगन का वासी

खबर तो ल्याव म्हारे राजन की ।

काग उड़ा-उड़ा कर प्रियतम के आने का पूर्वाभास पाने की चेष्टा इस देश में शताब्दियों से रही है, अब भी है। यही नहीं, काग के द्वारा भावी विविध शुभाशुभ घटनाओं के जानने की प्रणाली भी इस देश में अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है। यथा, कौए यदि आहार बाट-बाट कर खाये तो यह बड़ा शुभ माना जाता है और इसी लिए भक्तकवि भ्रमदीदास की विरहिणी नायिका ने आनन्दोल्लास के साथ कहा था—

आजू परो भाते काके कलोकली

आहारो यांटिया खाय ।

ग्राम्य-कवि 'डाक' के कथनानुसार काक के कई भेद हैं और इनमें साहायणवर्ण के काक ही शकुन-निर्देश के लिए सर्वश्रेष्ठ हैं। 'डाक' कहते हैं—

तनु अतिकारी बड़का लोल, पैक काक अति ऊंचे बोल,  
ताहि काक के बाभन जान, कहयि 'डाक' जे आन नहि मान ।  
पिंगल आखि नील रंग ठोर, सब देह कारी क्षत्री सोर,  
पाछु नील रंग चोंचो देह, कहयि 'डाक' जे वैश्य कहिलेह ।  
भसमक रंग औ दुखर शरीर, कर-कर वाजय रह नहि थीर,  
ताहि 'डाक' कह शुद्र पुकारि, एहि सं आन थिक अन्त्यज धारि ।

—शरीर अत्यन्त काला, चोच लम्बी, कद बड़ा और आवाज तेज—ये लक्षण जिस काक में दीख पड़ें, वह ब्राह्मण हैं। पिंगल मेत्र, नीले होठ और समस्त शरीर काला—इन लक्षणों वाला काक क्षत्रिय है। जिस काक के शरीर और चोच पाछु और नील वर्ण के हों, वह वैश्य हैं। राख का रंग, क्षीण शरीर, कर्कश स्वर, प्रकृति का चंचल—इन लक्षणों वाला काक शूद्र है, और उपर्युक्त चार प्रकारों के अतिरिक्त अन्य सभी काक अन्त्यज हैं।

पाँचों में मुख बाभन जान, असगुन सगुन तकरे मान,  
जो मास धोकरय आगा आवि, कहयि 'डाक' निश्चय धन पावि ।  
आगा लावय माटिक डेप, भूमि लाम हो ताही खेप ।

---

\*प्यारे, तुम घूँघट खोली, अब शरमाने में क्या रक्खा है ? तू मालिक है, मैं तेरी चाकर हूँ । कृपा कर कभी तो आकर मुह दिखलाना ! मैं तो काग उड़ाते-उड़ाते थक गई !

चित्र सख्या • १५  
पायनू तोते



चित्र सख्या • १६  
तोता



चित्र सख्या १८

कठफोडवा

चित्र सख्या

मछमरनी



रतन आनि जे राखय अग्र, कहयि 'डाक' ज राज हो सग्र ।

काक द्वार में आवय जाय, कहयि 'डाक' जे पाहन लाय ।

—पाच प्रकार के काको में शकुन-निर्देश करने के लिए ब्राह्मण वर्ण काक की गति-विवि विचारणीय है । सामने आकर यदि काक मास उगल दे, तो निश्चय ही धन की प्राप्ति हो । यदि काक सामने आकर मिट्टी का ढेला रख दे, तो भूमि, और रत्न रख दे तो राज्य की प्राप्ति हो । जिसके द्वार में काक आया-जाया करे, तो समझ लो कि बाहर से कोई अतिथि आ रहा है ।

तात्पर्य यह कि काक या कौआ मानव-समाज का एक अभिन्न अंग रहा है । कोयल, पपीहा, हारिल आदि पक्षियों के गाने की हम चाहे जितनी भी प्रशंसा करे, उनकी प्रशस्ति में पृष्ठ के पृष्ठ लिख डाले, पर वे हम से दूर ही भागते रहे हैं, साथ काग-कौआ ने ही दिया है, इन्होंने नहीं । किसी कवि ने इसे 'जन-जीवन का साथी' कहा है—

जन-जीवन के साथी, कौए !

नहीं कल्पना के, स्वप्नों के,

लोकों में रहनेवाले,

गांव-गांव के, घर-घर के तुम,

पहचाने, चिर-वासी कौए ।

जन-जीवन के साथी, कौए !

शुक, पिक, चातक, हारिल के सम,

दूर नहीं हमसे रहते तुम,

करते कठिन, कठोर परिश्रम,

मधुपायी, न विलासी कौए,

जन-जीवन के साथी, कौए !

"मधुपायी न विलानी, कौए !"—कौए का यह गुण आज दिन हम जिम समाजवादी समाज का निर्माण करने जा रहे हैं, उसके लिए सर्वथा उपयुक्त है । बिनामी लोगों के दिन चले गये, रा ना-महाराजा, लमीर-उमराव, इनके अब दिन नहीं रहे । दिन उनके हैं जो श्रम ने अपनी रोटी कमाते हैं । अब हमें अपने शरीर से पसीना बहाना ही पड़ेगा । स्वयं कोकिल-कंठ, चानक-स्वर, कवि-प्रवर मुमिनान्दन पत तक इन्हे न भुला पाये और प्रेमभरे शब्दों में कविवर ने पूछा—

✓ कहां मड़ा लाये सोने से अपनी चोचें,

प्यारे कौए ! न्यारे कौए !

साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि यह ससार 'उदासी' (त्यागी) लोगों के नित्य भी नहीं है । समार उर्म पालन करने वालों के लिए है । बकनाम कि हनारे उर्दू के सादगी ने कौए का महत्वन समझा तथा वे शराब, साकी और दुग्धुल की गुल-नाया में ही अपनी कलम तोड़ते रहे, हमारे जीवन-भरण का साथी कौआ उनसे दो शब्द भी न पा गया ।

■ जाना! अन्तर इलाहाबादी ने यह निखने के बजाय—

हूज्जे-मुलबुल हुआ चमन में,

फिया जो गुल ने जनाल पंदा,

कमी नहीं कदवा की 'अकबर',  
करे तो कोई कमाल पैदा !

यह लिखा होता कि—

हुजूम-कौआ हुआ चमन में,  
किया जो भुंटे ने बाल पैदा,  
कमी नहीं कदवा की 'अकबर',  
करे तो कोई कमाल पैदा !

तो उनका यह सुन्दर कलाम, हमारे आधुनिक समाज की रूप-रेखा में अधिक उपयुक्त बैठता !

मानव समाज से इस पक्षी को कितना प्रेम है, इसका अन्दाजा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि जिस ग्राम या नगर में मनुष्यों की सख्या ज्यादा है, घनी है, वह उसी अनुपात से उनकी सख्या भी अधिक है। दृष्टांत के लिए कलकत्ता शहर को ही लीजिए। डेवर नामक एक अंग्रेज पक्षी-प्रेमी लेखक का कहना है कि इस नगर में दस लाख से अधिक कौए निवास करते हैं। कई वर्ष हुए कलकत्ते में बड़े जोरो का तूफान आया क्षणावत के शान्त होने पर देखा गया कि कलकत्ते के मैदान में कई लाख कौए मरे पड़े हैं। यह श्री डेवर के उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है।

भारतवर्ष में शायद दो ही ऐसे नगर हैं जहां किसी अज्ञात कारण से कौए नहीं पाए जाते, उन्होंने इन स्थानों का बहिष्कार कर रखा है। एक तो उत्तर प्रदेश में चित्रकूट है और दूसरा दक्षिण में कोडाइकनाल।

चित्रकूट के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि एक बार किसी काग या कौए ने वनवास के दिनों में, सीता के अंग पर चोच मारी और वह उनके अभिशाप का भागी बना, जिससे परिणामस्वरूप उसे ही नहीं, उसकी सारी जाति को मन्दाकिनी के तट पर स्थित इस पुनीत स्थान से सदा के लिए निवासित होना पड़ा। पर कोडाइकनाल में उनके पाव क्यों नजम पाये, इसके सम्बन्ध में न तो इतिहास ही कुछ बताता है, न किंवदन्तिया ही।

और पक्षियों की अपेक्षा कौओं में शायद पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव अधिक है क्योंकि इस समाज में पुरुषों से ज्यादा स्त्रियों की इज्जत है, हर बात में उनकी प्रवानत है। यही नहीं, मेम साहब (मादा) जब घर के घोंसले के भीतर बंठी रहती है तो साहब (नर) बाहर बैठ कर पहरा देते हैं। ग्रीष्मकाल के आते ही ये घर बनाने में लग जाते। तथा इनके भवन-निर्माण—नीह बनाने में, घास-फूस ही नहीं, मनुष्य के घर से चुराई हुए धातु की अनेक चीजें, टिन के टुकड़े, सोडावाटर की बोतलों के तार आदि भी प्रयोग लाये जाते हैं। बम्बई में एक बार किसी काक-दम्पति ने अपने गृह-निर्माण में चश्मे के सोने के कई फ्रेमों का भी इस्तेमाल किया था जिनकी कीमत प्रायः चार सौ रुपये थी इसी तरह मद्रास में बाजार से चुराये हुए टिन के टुकड़ों से एक दूसरे काग-दम्पति ने अपने भवन बनाया था। पाठकों को मेरा यह सुझाव है कि यदि कभी उनकी कोई धातु की वस्तु चोख गुम हो जाय तो इसके पहले कि वे इसकी खबर पुलिस को दें, आसपास इनके घोंसलों में उसकी तलाश अवश्य कर लें।

घोंसला बनाकर घर बसाने के बाद ये दूसरा कदम आगे बढ़ाते हैं, अर्थात् माद अंडे देती हैं। इनकी सख्या तीन से सात तक होती है तथा देखने में ये रंग-विरंगे होते हैं।

यही समय है जब कि कोयल को उनकी आय में घूल झोक कर अपने कार्य-साधन का मौका मिलता है। अडे वह भी देती है पर घमन्त का समय, दिन-रात गाने का शोक, आग्रमजरी मदिरा का अहोरात्रि पान, उसे फुरमत कहा कि वह घर में बैठे और अडे सेये या बच्चो का पालन-पोषण करे ? अत वह अपने सर की बला दूसरे के सर डाल आती है तथा नाचती-गाती स्वच्छन्दता-पूर्वक विचरती रहती है। अपने अडो को चुपके से, कोए के घोमने में रख आती है। इस काम को वह बड़ी चतुराई ने करती है। पहले नर घोसने के पान जाता है और कोए का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। कौआ उमठी ओर झपटता है। वह भाग खड़ा होता है। कौआ उसका पीछा करता करता जब दूर निकल जाता है तो मादा कोयल, जो पास में ही कहीं चोंच में अडा लिये बैठे होती है, कोए के घोसले में आहिस्ता से बड़ा डाल आती है और कभी-कभी कोए के अडे को दूर फेंक आती है। इस तरह उद्देश्य को साध कर एक खान आवाज देती है, जिससे नर समझ जाता है कि काम पूरा हो गया है और वह तेजी से उड़ता हुआ कोए की आखो से ओझल हो जाता है।<sup>१</sup> कौनी धूर्तता है यह। फिर भी हमारे कवियों ने "पिकी प्रवीण" की प्रशंसा में न जाने कितने शब्द कह जाते हैं। वे उसकी मीठी वाणी से छले गये हैं। इस मनार में कौन है जो इस मायाविनी को मधुर घोली पर मुग्ध न हुआ, इसकी फूक पर कुर्बान न हुआ ?

नर, तो कोए को कोयल की इस करतूत का पता आज तक न चला। वह निन्दक भाव से अडे सेता रहा, बच्चे हुए तो कोकिलवशीय शिशु को भी अपना ही शिशु समझता रहा, लालन-पालन में कतई भेद भाव न रक्खा। यही नहीं, ऐटकिल नामक एक अंग्रेज ने लिखा है कि उसने कोए के घोसले में शोर मचाते हुए दो बच्चो को देखा जिनमें एक तो उसका अपना था, दूसरा कोयल का, पर उसका व्यवहार दोनों के प्रति केवल एक-सा ही नहीं था बल्कि कोकिल उन दोनों, नर और मादा, का विशेष रूप से प्रेमपात्र बना हुआ था।

कोए की कद्र हम भारतवासी नहीं जानते, निजाय उनके जो अपने प्रवासी प्रिय-जनो को कुशल-वार्ता पाने के इच्छुक हैं और स्वार्थवश इनकी मुगामदे करते हैं। पर अन्य देशवासी इसके महत्व को पूरी तरह पहचानते हैं। फ्रान्स को नष्ट करने वाले कौओं को लान्सा कर ये फ्रान्स की रक्षा करने हैं, इस उपयोगिता को वे भली भाँति समझते हैं। यही कारण है कि जहाँ हम इन्हें रोटे मार-मार कर भगाने फिरते हैं वहाँ जनीवार में कुछ वर्ष हुए बाहर में कोए मगवाये गये। मलय प्रायद्वीप में भी लका ने हंगगे कोए जहाज भर कर माराये गये थे।

पर कोए दूसरों ने नहायता की याचना भी नहीं करने। अपने पाव पर गडे होते हैं। अपनी ग्हा आप करते हैं। पक्षी सरजाना कानून के द्वारा बढतेरे पक्षियों को सरकारी नरक्षण प्राप्त है, पर इन कानून के फायदे में भी ये वनित रहते गये हैं। यही नहीं, कई बार हमारे हाथों इन्हें घोर मुनीबनों का भी नानना करना पडा है जिनका एक दृष्टांत नीचे पडे।

बात पुरानी है, सन् १९१४ की। नेपाल गया अंग्रेजों के चीन लार्ड लिटो

१. कोए की अपेक्षा कोयल की रचनार कहीं ज्यादा होती है।



हुई थी। अंग्रेजों की एक पलटन कर्नल ओलाहरन की सेनाध्यक्षता में नेपाल जा रही थी। रास्ते में दरभंगे (बिहार राज्य का एक शहर) में उसका पड़ाव पड़ा। दरभंगा के तत्कालीन जमींदार—दरभंगा नरेश—ने कर्नल ओलाहरन को खूब आवभगत की, उनके लिए उपहार प्रस्तुत किये। पर कर्नल उन व्यक्तियों में थे जो न तो स्वयं कोई उपहार ग्रहण करते थे, न पलटन के और लोगों को ही ग्रहण करने देते थे। सधन्यवाद उपहारों को लौटाते हुए उन्होंने कहा, “महाराज! मैंने सुना है कि आपके यहां का कौआ बहुत बढ़िया होता है, यदि आप उसमें से कुछ दे सकें तो मैं सानन्द स्वीकार करूंगा, उपकृत होऊंगा।” महाराज बड़े चकित हुए और बोले “हा, कौआ तो यहां बहुत मिलता है पर यह तो सारे हिन्दुस्तान में पाया जाता है।”

“नहीं महाराज!” कर्नल ने कहा, “मैं तो कम्पनी के सारे इलाकों में गया हू। कहीं भी यह देखने को न मिला। आप विश्वास करें, मैंने इसकी पूरी छानबीन की है।”

महाराज ने अपने दरबारियों की ओर देख कर कहा—“बड़ा ताज्जुब है।” वे बोले—“सरकार, ताज्जुब तो अवश्य है पर हुजूर का इकबाल कि यहां सब-कुछ पलता है। खैर, यदि कर्नल साहब को इसका शौक है तो हमें कौआ इकट्ठा कर इन्हें अवश्य देना चाहिए।”

कर्नल ने कहा, “यदि आप मुझे थोड़ा भी उपलब्ध करा देंगे तो मैं और मेरे साथी आपके अत्यन्त कृतज्ञ होंगे। नेपाल की कड़ी सर्दियों में हमें लम्बी लडाईं लडनी है। यह निस्संदेह उसमें हमारे लिए सहायक होगा। हम सभी को कौआ अत्यन्त रुचिकर है।”

महाराज ने कहा—“अवश्य, आप जितना भी चाहेंगे, मैं आपकी सेवा में हाज़िर करूंगा।”

कर्नल बोले—“यदि इसे लूट न माना जाय तो मैं दो तीन थैलियां भर कर ले जाना चाहूंगा।”

महाराज ने कहा—“मुतलक नहीं, मैं अभी वापिस जाकर इन्हें सग्रहीत करने की आज्ञा देता हू।”

महाराज की आज्ञा से दिन भर बन्दूक से कौओं का शिकार होता रहा। शाम को जब कर्नल और उनके साथी खाने पर बैठे हुए थे, चपरासी ने आकर कहा—“महाराज की भेंट ले कर उनके प्रतिनिधि पधारे हैं।”

कर्नल ने कहा, “उन्हे शीघ्र भीतर लाओ।”

तीन भरे हुए बोरी के साथ महाराज के प्रतिनिधि भीतर आये और महाराज के भेजे हुए उपहार को कर्नल साहब के पेशे-नज़र किया। कर्नल की खुशी का ठिकाना न रहा। उनकी आज्ञा पाकर खानसामे ने बोरे के भीतर हाथ डाला तथा एक कौए को बाहर निकाला। कर्नल ने तब महसूस किया कि उन्होंने कितनी बड़ी भूल की थी। उनके कहने का मतलब “कहवा” (काफी) से था, पर भाषा की अनभिज्ञता के कारण “कहवा” न कहकर “कौआ” कह डाला था जिसके कारण दरभंगे के बेचारे सैकड़ों कौओं को अपने प्राणों का वलिदान देना पड़ा। पर इन सारी मुसीबतों के बावजूद कौओं का वंश घटने की वजाय उत्तरोत्तर वृद्धि ही पाता रहा है। ये किसी की खुशामद नहीं करते, लोग ही समय आने पर इनकी खुशामद करते हैं, तरह-तरह की प्रतिज्ञाएं करते हैं, कहते हैं —

थंठी सगुन मनावति माता,  
कव ऐहं मेरे लाल कुशल घर,  
कहहु फाग ! फुरि याता ।

\* \* \*

दूध भात की दोनी बँहों,  
सोने चोंच मँहो । —आदि

श्राद्ध के अवसर पर भी उनकी आवश्यकता अनिवार्य है । कहते हैं कि इन्हें भोजन देने में मृतात्मा को मतोप होता है तथा बैतरणी पार करने में ये उनके महायक होते हैं । पर मनुष्य को तो देखिए, आवभगत के साथ इन्हें बुलाते हैं, पिताते हैं पर ज्योंही यज्ञ समाप्त होता है इन्हें मार-मार कर भगा देने हैं । यही नहीं, साक शब्दों में कहते भी हैं कि—

जब लग फाग, सराध पल,  
तब लगि तब सनमान !

यह उनकी उदारता है कि इस पर भी वे मनुष्य जाति के प्रति बदले की भावना नहीं रखते, पुन बुलाने पर दौड़े आते हैं । यही नहीं, गिकारियो तक को अपनी बोली में गिकार की स्थिति का सहो पता बता देते हैं ।

काकभनुडि जैसे ज्ञानी को जन्म देने का श्रेय काक जाति को ही प्राप्त है । और फिर कृष्ण-विरह में ब्रजवालाओं के साथ-साथ इन्होंने भी तो व्रत ग्रहण करना त्याग दिया था—

घायस बलिहि न खात । (सूरदास)

सात्पर्य यह कि इनके बीच केवल चोर डाकू ही नहीं, ज्ञानी और भक्त भी होते आये हैं ।

नेत्र में यत्र-तत्र सगुन मनाने का जिज्ञासा है । इनकी कई प्रक्रियाएँ हैं, पर दो मुख्य हैं —

१. फाग की बोली सुनने ही जमीन पर दृष्टि डालना तथा सर्वप्रथम दृष्टि-स्थल पर आने वाली लकड़ी अथवा सूखी घास के टुकड़े को अंगुलियों में मापना और इसके द्वारा शुभाशुभ फा, भावी घटना का ज्ञान प्राप्त करना । सराध के सम अथवा विषम होने पर 'हां' और 'न', शुभ या अशुभ होना निर्भर करता है ।
२. फाक-याणी सुनते ही भू-तल पर चिन्हांकित करना तथा चिन्हों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना ।

## कवूतर

कविवर बिहारीलाल ने कवूतर के सम्बन्ध में कहा है—

पट्ट पाखें, भखु कांकरै, सपर परेई संग,  
मुखी परेवा पुहुमि मै, तू ही एक विहंग ।

और इसमें सन्देह नहीं कि कवूतर एक सुखी दाम्पत्य-जीवन के प्रतीक है ।

कपोत का दाम्पत्य-प्रेम जगत् प्रसिद्ध तो है ही, मानव-जाति के लिए आदर्श भी है । मानव पति-पत्नियों में, यदि कपोत का-सा पारस्परिक प्रेम होता तो भारतीय ससद में तलाक का कानून न बनता ।

ऐसे तो बहुतेरे पक्षी हैं जिनके नर और मादा साथ-साथ रहा करते हैं, पर इनमें कवूतर ही एक ऐसा विहंग है जिसके नर-मादा आठो पहर एक दूसरे से विलग नहीं होते (चित्र मख्या ५), बल्कि लोक-लाज की कतई परवाह न कर एक दूसरे के प्रति विलक्षण प्रणय-भाव प्रदर्शित करते रहते हैं । घर की छतों अथवा गृह-प्रागण में आमतौर पर इनके ये भाव प्रदर्शन—नर का मादा के आसपास नाचना, गाना, घुटकना, थिरकना एवं चोंच से चोंच मिला कर प्यार दिखाना—देखेंगे । यह इनकी ऐसी विशेषता है जो शायद ही और किसी पक्षी में इस परिमाण में पायी जाती हो । संस्कृत के किसी रसिक कवि ने शायद कपोत<sup>१</sup>को कभी ऐसी ही किसी मुद्रा में देख कर कहा था—

कल ववणित गभेण कंठेनावर्णितेक्षणः ।

पारावतः परावृत्य रिरंसुश्चुन्वति प्रियाम् ।

—यह कवूतर मधुरवाणी बोल कर, गर्दन घुमा कर, मदभरी आखों से प्यार से देखता हुआ अपनी प्रियतमा के साथ रमण करने की इच्छा से उसे चूम रहा है ।

बहुधा अपने गले की थैली फुला कर “गुटरगू” कह-कह कर यह प्रियतमा के चारों ओर नृत्य करता है । प्रकृति कपोत कामी तथा प्रेमी होता है । इसका अतिशय पारिवारिक प्रेम कभी-कभी इसके अपार दुःख का कारण भी बन जाता है । तभी तो राजा यदु से एक अवधूत ने कहा था—

नातिस्नेहः प्रसगो वा फलं नैव क्वापि केनचित्,

कुर्वन्विन्देत सन्ताप कपोत इव दीनघो ।

और फिर, किस तरह कपोत का एक जोड़ा बहेलिए द्वारा शिशुओं के जालबद्ध होने पर सन्तान-स्नेह के अत्याधिक्य से अघा हो कर स्वयं उस में जा फसा था । (श्रीमद्भागवत, ११।७। में यह कथा वर्णित है) ।

पर दूसरी ओर, यजुर्वेद में (मन्त्र २४-२३) लिखा है—“मित्रावरुणाम्या कपोतान्”—मित्र और वरुण अर्थात् मित्रता, स्नेह और परस्पर वरण के लिए कपोत नामक पक्षियों को देखें ।

पारस्परिक प्रेम तो उनमें है ही, मानव-समाज के साथ भी उनका घनिष्ठ प्रेम है । ये उन पक्षियों में हैं जो वन की अपेक्षा जनपदों-मानवगृहों को अधिक पसन्द करते हैं तथ्यः बड़ी-बड़ी इमारतों से लेकर छोटे-छोटे घरों मस्जिद, मन्दिर आदि देवस्थलों में झुंड के झुंड निवास करते हैं । शहरों में शायद ही कोई ऐसी इमारत मिले जिसमें कवूतरों के दो चार

परिवार न रहते हो। जैनियो में पक्षियों को बिलाने की परिपाटी है। कवूतर ही एक ऐसा पक्षी है जो बम्बई आदि नगरों की सड़कों पर झुंड बाध कर उनके लिए हुए दानों को चुगता तथा नाच-नाच कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करता है।

कवूतर इस देश के सभी प्रान्ता में, सभी गहरों और गांवों में, पाये जाते हैं तथा वनान्त, ग्रीष्म, वर्षा, शीत—सभी ऋतुओं में ये एक जैसे ही रहते हैं। समतल देश में तो ये बहुतायत में पाये ही जाते हैं, पहाड़ों तक में इनका आवास है। हिमाच्छादित अमरनाथ की गुफा में मैंने आज से २४ वर्ष पहले कवूतर का एक जोड़ा देखा था जो नीलामयुक्त भूरे रंग का था। किंवदन्ती है कि ये युग-युगों से वहां निवास करते आये हैं। कहते हैं, किमी समय महादेव ने पार्वती को कुछ कच्चा सुनाई जिन्हें इन दो कवूतरो—कपोल-दम्पति—ने सुन ली और वे अमर हो गये। तब से आज तक ये इस गुफा में निवास कर रहे हैं। यह कहानी कपोल-कल्पित हो क्यों न हो, पर इसमें शक नहीं कि मदियों से अमरनाथ की यात्रा करने वाले यात्रियों ने इस गुफा में दो कवूतर देखे हैं और उनकी चर्चा की है। मार्कों की बात यह है कि किमी ने भी वहां दो ने अधिक कवूतर नहीं देखे। वर्ष से ढके हुए इस सुनसान स्थान में, जिसके इंद-गिंद मौलों तक कोई आवादी नहीं है, ये कवूतर न जाने किस आकर्षण से निवास करते हैं।

वैसे तो कवूतर की अनेक उपजातियां हैं, और ये अनेक रूप और रंग के होते हैं पर देश भर में बहुतायत से पाया जाने वाला कवूतर वह है जिसके शरीर का रंग स्नेही गर्दन पर चमकीले हरे पंखों की एक कड़ी और उसके नीचे, चतुर्दिक एक चमकीली बंगनी पट्टी होती है। पीठ तथा डंती का रंग अत्यधिक गहरा, दुम का शीर्ष काला और उसके दोनों ओर सफेद धारी होती है। आस की कानी पुतली तथा पैरों का गहरा गुलाबीपन इसकी शोभा-वृद्धि करते हैं। नर और मादा में कोई अन्तर नहीं होता है। अन्य अनेक पक्षियों की भांति इसके पैर की चार अंगुलियों में तीन ज्ञाग की ओर होती हैं और एक पीछे की ओर। मिर छोटा, शरीर भारी हाता है। चाच नर्म होती है पर डंते बड़े मजबूत होते हैं। ये जब कभी लड़ते हैं तो पाया या पंखों के सहारे, चाचा के नहा।

दाना चुगने वाने अन्य पक्षियों का भांति इसके शरीर के भातर भी एक रंग होता है जिसमें घटाघट नाज के दाने पहुंचा दिए जाते हैं। कवूतर की इन रंगों में से एक किस्म का तरन पदार्थ निकलता है जिसे आमतौर पर दूध कहते हैं और जिसे, जब तक कि उसके बच्चे दाना खाने लायक नहीं हो जाते हैं, वह उन्हें खिलाता है। बच्चे बड़े आनन्द से उसकी चोंच में अपनी चोंच डाल देते हैं और रंगों के इस तरन पदार्थ में भूग मिटाते हैं।

कवूतर पोलला नहा बनाना। मकानों के बानस, आ इसे सजसे अधिक प्रिय है, अथवा छज्जे आदि पर हा यह रान गुजार देता है। वहां जड़े देता है और बच्चा का पानन-पोषण भी करता है। यह नान भर जड़े देता है। भार होतो ही यह घुटनना पुन कर देता है। इस जय में बद तक ने इसे मानव मनाज के लिए आदस स्वरूप माना है। यजुर्वेद के २४वें अन्वाय के २५वें मन्त्र में कहा है—'अहो पारायतानानमन , अयात् दिवसारम्भ के लिए कवूतरा का ५१, ३ भार में हा उठता है, बानना शुद्ध करत है, यैसे ही मनुष्य भी गोप (ब्राह्ममुनि न) उठ और नमपाठ कर। उन ज्ञाना का आ श्रतः ५ बजे गया ताति और नार दूने हा 'बड-डी'—बाय की आकर्षकता अनुभव करते हैं, सायन कवूतर की यह आस पतन्द न आए और न वेद की यह उक्ति हा

साधारणतः उपर्युक्त जाति के कबूतर ही सबत्र पाए जाते हैं, पर इसके अलावा भी इसकी अनेक किस्में हैं जो पालतू हैं, स्वेच्छाचारी नहीं। इनके रंग भी नाना प्रकार के हैं—काला, हरा, गुलाबी, श्वेत आदि। मुख्य किस्में ये हैं—

१ गिरहवाज

२ लोटन

३ मुक्खी

४ शीराजी

५ बगदादी

६ लक्का

गिरहवाज वे हैं जो उड़ाने पर सुदूर आकाश में उड़ जाते हैं और उड़ते हुए बारम्बार गिरह मारते जाते हैं, फिर घर की ओर लौटते हैं। इसमें इन्हें काफी वक्त लगता है।

विहारी के इस दोहे में इसी जाति के कबूतर की ओर संकेत है—

ऊँची चितै सराहियत

गिरह कबूतर लेत ।

बूग पुलकित, पुलकित बदन,

तनु पुलकित कहि वेत ।

लोटन हाथों से जमीन पर छोड़ देने से ही लोटने लगते हैं और देर तक लोटते रहते हैं जब तक कि उन्हें हाथ से कोई उठा न ले (चित्र सख्या ३२)। ये दो प्रकार के हैं—

(१) कागजी, जो सिर पर केवल ठोकर मार देने से ही लोटने लगते हैं।

(२) वे जो कि हाथ से झकझोरकर, हिलाकर, जमीन पर रखने से लोटते हैं मुक्खी का सिर काला, शरीर सफेद होता है। ये सिर ऊँचा करके चलते हैं तथा देखने में अत्यन्त सुन्दर होते हैं।

शीराजी और बगदादी, जैसा कि इनके नाम से जाहिर है, शिराज और बगदा के कबूतर हैं, और देखने में बड़े खूबसूरत होते हैं। आकार में काफी बड़े और लक्षणों से ही लगता है कि अपनी जाति—कपोतवश के ये सरदार विशिष्ट पक्षी हैं। ये काले, गुलाबी बंगनी आदि कई रंगों के होते हैं।

कई लोग लक्का (चित्र सख्या ३३) के मांस को लकवे के रोगी के लिए अतिशय लाभदायक मानते हैं। लकवे का कोई शिकार हुआ नहीं कि गांव भर के या शहर के लक्का कबूतरों पर आपत आ जाती है। यह अधिकांशतः श्वेत रंग का पाया जाता है जो कि इसका अपना खास रंग है, पर दोगले में रंग-परिवर्तन हो जाता है। इसको पूछ उठो हुई, मोर की खड़ी पूछ से मिलती-जुलती-सी, जापानी रमणी के हाथ के पल्ले-जैसी देखने में अत्यन्त सुहावनी होती है।

एक और प्रकार का कबूतर होता है जिसके मुँह में हवा देते ही उसका गला बिल्कुल बँलून जैसा फूल उठता है, पर यह मुश्किल से पाया जाता है।

कबूतरों की ये किस्में—गिरहवाज, लोटन, मुक्खी, शीराजी, बगदादी और लक्का—आम तौर पर, हर जगह प्राप्त नहीं हैं, केवल कबूतर के शौकीनों के पास ही मिलेंगी। इस देश में कबूतर पालने का रिवाज मुसलमानों के शासनकाल में अत्यधिक बढ़ा। मुगल बादशाहों में कई ऐसे हुए जिन्हें कबूतर पालने का बड़ा शौक था। अकबर ने तो कपोत-

وہی ہے جس نے یہ کتاب لکھی ہے اور جس نے اسے  
 لکھنے میں مدد کی ہے اور جس نے اسے



جہانگیر کے یوں میں چھپنے ایک پتھر

साधारणतः उपर्युक्त जाति के कबूतर ही सबत्र पाए जाते हैं, पर इसके अलावा भी इसकी अनेक किस्में हैं जो पालतू हैं, स्वेच्छाचारी नहीं। इनके रंग भी नाना प्रकार के हैं—काला, हरा, गुलाबी, श्वेत आदि। मुख्य किस्में ये हैं—

१ गिरहबाज

२ लोटन

३ मुक्खी

४ शीराजी

५ बगदादी

६ लक्का

गिरहबाज वे हैं जो उड़ाने पर सुदूर आकाश में उड़ जाते हैं और उड़ते हुए बारम्बार गिरह मारते जाते हैं, फिर घर की ओर लौटते हैं। इसमें इन्हें काफी वक्त लगता है।

बिहारी के इस दोहे में इसी जाति के कबूतर की ओर संकेत है—

ऊँची चित्तै सराहियत

गिरह कबूतर लेत ।

बूग पुलकित, पुलकित बदन,

तनु पुलकित कहि वेत ।

लोटेन हाथों से जमीन पर छोड़ देने से ही लोटने लगते हैं और देर तक लोटते रहते हैं जब तक कि उन्हें हाथ से कोई उठा न ले (चित्र सख्या ३२)। ये दो प्रकार के हैं—

(१) कागजी, जो सिर पर केवल ठोकर मार देने से ही लोटने लगते हैं।

(२) वे जो कि हाथ से झकझोर कर, हिला कर, जमीन पर रखने से लोटते हैं।

मुक्खी का सिर काला, शरीर सफेद होता है। ये सिर ऊँचा करके चलते हैं तथा देखने में अत्यन्त सुन्दर होते हैं।

शीराजी और बगदादी, जैसा कि इनके नाम से जाहिर है, शिराज और बगदाद के कबूतर हैं, और देखने में बड़े खूबसूरत होते हैं। आकार में काफी बड़े और लक्षणों से ही लगता है कि अपनी जाति—कपोतवंश के ये सरदार विशिष्ट पक्षी हैं। ये काले, गुलाबी, बैंगनी आदि कई रंगों के होते हैं।

कई लोग लक्का (चित्र सख्या ३३) के मांस को लकवे के रोगी के लिए अतिशय लाभदायक मानते हैं। लकवे का कोई शिकार हुआ नहीं कि गाँव भर के या शहर के लक्का कबूतरों पर आफत आ जाती है। यह अधिकांशतः श्वेत रंग का पाया जाता है जो कि इसका अपना खास रंग है, पर दोगले में रंग-परिवर्तन हो जाता है। इसको पूछ उठी हुई, मोर की खड़ी पूछ से मिलती-जुलती-सी, जापानी रमणी के हाथ के पंखे-जैसी देखने में अत्यन्त सुहावनी होती है।

एक और प्रकार का कबूतर होता है जिसके मुँह में हवा देते ही उसका गला बिल्कुल बँलून जैसा फूल उठता है, पर यह मुश्किल से पाया जाता है।

कबूतर की ये किस्में—गिरहबाज, लोटन, मुक्खी, शीराजी, बगदादी और लक्का—आम तौर पर, हर जगह प्राप्त नहीं हैं, केवल कबूतर के शौकीनों के पास ही मिलेंगी। इस देश में कबूतर पालने का रिवाज मुसलमानों के शासनकाल में अत्यधिक बढ़ा। मुगल बादशाहों में कई ऐसे हुए जिन्हें कबूतर पालने का बड़ा शौक था। अकबर ने तो कपोत-







पानन पर पूरा एक ग्रय ही तैयार कराया था । उन्ही दिनो जान नाम के एक मुसलमान कवि ने भी "कवूतर नामा" नामक एक पुस्तक लिखी थी (जो अग्रकाशित है), जिनके आदि की पकितया इस प्रकार है—

आदि सुमिरि करतार कौं, जाके आदि न अन्त ।

पलक माहि सब जगु रच्यो, नर पसु पछ अनंत ॥

दोम महमद सुमिर हौं, जातें सब जगु दोम ।

सरल रसूलनि मधि बन्धो, ज्यो उडिगन में सोम ॥

मत्र पछिन में "जान" कहि, उत्तम कवूतर आहि ।

नर नयो फं हेत तें, सब को बाढ़ि चाहि ॥

नयो अवावकर जहा नाहिन तीजो और ।

तवहि कवूतर आप कौं, पढ़वायो तिह ठौर ॥

भलौ कवूतर सयनि में, तातें बाढी चाव ।

रग जात औपद कहौं, और उछायन चाव ॥

अबहि सुनहु सब करौं यपान ।

समझाऊ नपत्ति परिमान ॥

अंग्रेजो की देवादेवी जैसे भारतीय जन कुत्ता पालने लगे—स्पेनियल, ग्रेटडेन, डेरियर, ग्रेहाउन्ड, आल्बोर्गियन आदि की बन आयी—वैसे ही मुसलमान बादशाहो की नकल में देश के प्रती-मानी व्यक्तियों ने लेकर आम जनता तक कवूतर-पालने का शौक चढ गया । देश-निदेश के कवूतर पाले जाने लगे । पर अब वह शौक बीन्ने-बीरे पडता जा रहा है ।

दर असल कवूतर पालने की प्रथा उन देश में प्राचीनकाल में भी प्रचलित थी जैसा कि महाभारत की इस उक्ति ने प्रतीत होता है—“गृहे पाण्डिता प्रया ।”

कवूतर की कई उपयोगिताएँ भी हैं, जिनमें सबसे बड़ी उपयोगिता तो यह है कि ये सारा ने मन्देश-बाहक का काम करने आए हैं । सभी तो निरह्णी अन्तिना ने रहा था—

लेने गए यमो न मुहें कसोत । ये,

गाते सदा जो गुण ये सुनारे,

जाते तुम्हें हा । प्रिय-मित्र पोत के,

हु जाविष में जो घनते नहारे ।

सातीतकाल में, कहे हैं, मिन की जगा-मिगान मुदरे सभी त्रियोईदा ने जनाप्राय-मत्र एक कवूतर के द्वारा ही रोग में गार्गे एन्डानी के पान भेजा था तथा मारनाह अकसर ने बीन हमार मसार-बाहक कवूतर पाल रहे थे ।

आधुनिक समय में, सारसर की नसार एवैती कहे-नएन जने वासवत मसार कवूतरो ही मारक ही मनु-मनु भेग करती थी ।

जिसने कुछ कवूतर तजई किता में दूर-दूर मत्र मत्र ने पाला कनी है । उछा के ये कवूतर यदि ने-जो सोन दूर भी ओढ दिण, मणु तो ये उा मत्र पुन कनी उगह पन, जाने पन, मिन था मने है । नागमन भी यदि ये बागम की ओर उछा दिण, मणु तो मुरर आकाश में नीलो वा उछो मने जाते हैं और पदो तर उछो मने हैं, फिर जने निशा-म्यान पर नौट जाने हैं । सारे अधिग उछानी दूरी मति ने

कबूतर हैं। ये कई रंग के होते हैं।

पक्षी शास्त्र के विशेषज्ञों ने पड़ुक, हारिल, आदि पक्षियों को भी कपोत के ही वंश अथवा श्रेणी में रखा है पर आमतौर पर हम इनका कबूतरों में शुमार नहीं करते। हा, एक पक्षी है जो कबूतर तथा फाखता-पड़ुक के मेल से पैदा होता है और देखने में दोनों से ही मिलता है, वह है—कुमरी। कबूतरों की तरह लोग इसे भी पालते हैं। यह अधिकतर दो रंगों में पाया जाता है, सफेद तथा हल्का बादामी। आकार में पड़ुक से मिलता-जुलता सा होता है। फारसी तथा उर्दू-साहित्य में कुमरी का जिक्र बहुत आया है, खासकर सर्व (अशोक) वृक्ष के साथ-साथ, यथा—

बगुलबन बुलबुलो कुमरी बसबें बोस्तां नज्द ।

(वेदिल)

\* \* \* \*

जिस जगह जलवानुमां रहते थे सर्व-ओ-शमशाद,  
मुश्ते पर कुमरी के उस जां नज्द आये यफ वार ।

(सौदा)



## हारिल

जिन दिनों मैं स्कूल में पढ़ता था, मुझे शिकार का और शिकारियों के साथ घूमने का बहुत शौक था। मैं स्वयं तो किसी जानवर या पक्षी को नहीं मारता था, किन्तु बन्दूक अथवा रायफल का निशाना ठीक बैठने पर उल्लास से अवश्य ही भर उठता था। यही था मेरा शिकार। उपाकाल से लेकर सन्ध्या तक शिकारी मित्रों के साथ वन-प्रान्तरों में, तराइयों में, पैदल, नाव पर, जल-विहगों की खोज में झीलों के आस-पास, घड़ियाल की तलाश में बागमती, कमला, गडकी आदि सरिताओं के बीहड़, जनहीन तटों पर मैंने न जाने कितने दिन बिताए होंगे। सवाद मिला कि नदी के अमुक स्थान पर घड़ियाल निकला हुआ है और हम खाना-पीना छोड़-छोड़ कर दौड़े। घोर शीतकाल में पी फटते ही—या उसके भी पूर्व—ठढक से थरथराते हुए हम लालसर आदि जल-चिड़ियों के शिकार के लिए मीलों फैली हुई झीलों की ओर चल पड़ते थे। कोहरे में ये पक्षी दूर तक देख नहीं पाते, अतः नौका इनके विलकुल समीप ला कर शिकारी इन पर बन्दूक दागते हैं तथा एक-दो नहीं, बल्कि दर्जनो की सख्या में इन्हें मारने में सफल होते हैं।

किन्तु जीवन के उस उपाकाल में, जिस चीज की खोज में मैं सबसे ज्यादा घूमता रहा वह न तो घड़ियाल था और न जल के पक्षी ही। वे हारिल थे (चित्र सख्या . ८) जिनके प्रति न जाने क्यों मेरे मन में एक खास आकर्षण था। अधिकतर विशाल सेमल अथवा बट, पीपल और पाकड़ के वृक्षों पर वे पाए जाते थे, उनके पके हुए छोटे-छोटे फल मानो उन्हें वहा खींच लाया करते हो। घटो हम ऐसे वृक्षों की तलाश में, गांवों से बाहर, सरिता के पुलिन-प्रान्तरों में विचरते तथा हारिल की मधुर कूजन की प्रतीक्षा में समग्र वित्तिया करते थे। इनके शरीर का रंग वृक्ष के पत्तों जैसा हरा होने के कारण उनसे

कुछ ऐसा मिनता-जुलता सा होता है कि सहमा इनका पता पाना कठिन हो जाता है। कुछ कान घात-भाव से व्यतीत करने पर ही, जब ये अपने को खतरे में बाहर समझकर आनन्द में कूजने लगते हैं, इनके अस्तित्व का पता चलता है। स्वभाव ने ही ये भीषण गर्मी होते हैं तथा मनुष्य की नमीपता का आनास पाते ही चुप हो जाते हैं अथवा उड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं। ये झुड़ बाध कर रहने हैं और उड़ कर दूर नहीं जाते, आसपास के ही किसी दूसरे वृक्ष पर जा बैठने हैं।

वृक्ष ही उनका निवास-स्थल है और श्रौडा-क्षेत्र भी। यथावद ही कभी वृक्ष से नीचे उतरने हो। दहनियों को बड़े जोर से अपने चगुलों के सहारे पकड़ कर सर नीचे, पैर ऊपर करके ये फन खाते हैं तथा इस प्रकार न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत पर अवदन्त आघात कर डालते हैं। छोटी दहनियों को चगुलों से ये कुछ ऐसे जोर से पकड़ते हैं कि उनका कोमल हिस्सा टूट कर इनके चगुलों में जा फँसता है। इस जनश्रुति का कि हारिल कभी जमीन पर नहीं उतरते और यदि कभी पानी पीने के लिए उतरते हैं तो पावों में लकड़ी का टुकड़ा लेकर, यही जावार प्रतीत होता है। निम्नन्देह हारिल को वृक्ष बटाप्यारा है और यथावद ही किसी ने उसे जमीन पर अथवा किसी मकान की छत पर, या और कहीं, बैठा पाया हो, वृक्ष की दहनियों ही मानो उनके जीवन का जावार हो। काम! जिन प्रकार हारिल ने वृक्ष की दहनियों से नेह लगा रखा है उसी प्रकार हम परमात्मा ने नेह लगा पाते। भक्त कवियों ने हारिल को इन परम्परा का अपने पदों में पूरा उपयोग किया है। सूरदास ने कहा है, “हरि मेरे हारिल की लफरी” तथा बाँद भी जनेक भक्त-हृदय कवियों ने इस रूप का व्यवहार किया है—

फत न भयो मन धीर,  
तज पीतम को घरण-छाह फन, इत-उत भमत बावीर ।  
स्वाति-वारि तजि फवहक चातक, बूजो वारि ग्रह न,  
तजि तर-डार पर्वो हारिल लजु, चल निज पांव घर न ।

हारिल के जमीन पर पाव न रखने की बात सन हो या गलत, पर इसमें गन्देह नहीं कि इन देश में गरियों ने यह धारणा बनी रही है और कवियों ने उसकी उस मनोवृत्ति की, उनके इन प्रण-भाव की, भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसे जादग माना है।

हारिल तो उस देश के सम्पन्न में मने बहुत छान-बीन को, अनुपमाल दिया, पर कोई ऐसा न मिला जो यह कह सके कि उसने इसे जमीन पर उतरने देगा है। पानी पीने के लिए भी यह तरीका अथवा नरोपन नवदती ऐसे वृक्ष की छान पर बैठता है जो जन सम्पन्न लग्न हो या उतरे त्रिभुज नमोप नम जाती हुई हो। ऐसी ही दहनियों का विश्रुत बाण-प्रधान ने बड़े सुन्दर रूप पर दिया है—

पानी पी देती हो झुक-झुक से गुल की दहनो,  
जो हमोन कोई आदिना देना हो।

पर हा, एक मन्त्र भी निज रोजार, निर्दोष पर्वो-नीचन का पानी अव्ययन दिया है, निर्दोष है कि हारिल जमीन पर भी उतरते हैं पर जमीन-नमी ही, जो उतर पर छोटे-छोटे हीने का भक्षण करते हैं। हिमालय की पर्वतियों में ये उतर-उतर कर खड़े-खड़े के गों में जाती नूटनट भवति है। उर्वी जिले के एक गाँव में उतरते हारिलों

को नीचे उतर कर खर्रा मिट्टी तक खाते देखा था । वे कहते हैं कि आदिवासी जाल लगा कर इन्हे फँसाते भी हैं, वह भी एक नहीं, बीसो को एक साथ ।

श्री भिक रोजनर का यह कथन हारिल-सम्बन्धी इस प्राचीन धारणा पर, कि वे जमीन पर पाव नहीं रखते, एक प्रबल आघात है ।

साधारणतः यह धारणा है कि हारिल की दो ही किस्में होती हैं, एक वह जो कि भारतवर्ष की समतल भूमि पर पाई जाती है और दूसरी वह जो कि हिमालय की पहाड़ियों में । पर गौर से देखने से पता चलता है कि समतल क्षेत्रों में पाए जाने वाले हारिलो की एक नहीं, नौ किस्में हैं । इन सब के पर हरे अवश्य होते हैं किन्तु हरेपन में काफी फर्क है—कोई गाढा, कोई हल्का, कोई धानी, कोई बट वृक्ष के पत्तों के रंग का । इनके सर, छाती, डँने, पीठ तथा मल-त्याग के छिद्र पर श्रेणी-भेद से लाल, बैंगनी, स्लेटी, रक्ताभ, बादामी, भूरे आदि रंगों की छाप होती है । पाव सबों के नारंगी लाल होते हैं, केवल एक के गाढे पीले होते हैं । आँख की पुतली नीली होती है और उसके चारों ओर एक गुलाबी घेरा होता है । चोंच मोटी और मजबूत होती है, जिसका निचला हिस्सा हरा और आगे का नीलापन लिए सफेद होता है ।

गरज यह कि हारिल एक सुन्दर पक्षी है । यद्यपि यह कोयल अथवा पपीहे की तरह जोर-जोर से बोल कर दुनिया भर में अपनी वाणी के माधुर्य का ढिंढोरा नहीं पीटता, इसका आहिस्ता-आहिस्ता बोलना, कूजना, कानों को बड़ा प्यारा लगता है ।

ऊपर जिन नौ प्रकार के हारिलो की चर्चा की गई है, उनमें सबसे बड़ा वह है जो प्रायः १८ इन्च लम्बा होता है तथा अधिकतर मलाबार के वनों में तथा अल्प संख्या में बंगाल, उड़ीसा, असम तथा बिहार में भी पाया जाता है । छोटा नागपुर तथा असम में पाए जाने वाले हारिलो में बाहुल्य उनका है जिनकी छाती का रंग गाढा नारंगी तथा कद साढ़े ग्यारह इन्च का होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि हारिलो ने अपने क्षेत्र बाट लिए हैं क्योंकि भारतवर्ष के खास-खास क्षेत्रों में खास-खास किस्में पाई जाती हैं और एक क्षेत्र में एक से अधिक किस्में शायद ही पाई जाती हों । सबसे साधारण जाति का हारिल वह है जो हिन्दुस्तान के प्रायः सभी प्रान्तों से लेकर बर्मा, लका, चीन, विएतनाम तथा थाइलैण्ड तक में पाया जाता है ।

यह कद में १३ इन्च होता है तथा इसका रंग हरापन लिए हुए पीला तथा राख के रंग का भूरापन, डँने में कालिमा, परो के किनारे खूब चमकीला पीलापन होता है । कन्धों पर फालसई रंग का छोटा-सा घब्बा होता है । नर और मादा में कोई खास अन्तर नहीं होता । इसके अंडा देने का समय मार्च से लेकर जून तक है । अंडे बिल्कुल सफेद होते हैं ।

आकार में सबसे लम्बा वह हारिल है जो १७-१८ इन्च का होता है तथा रंग में साधारण जाति के हारिल से कुछ भिन्न है, और जो मलाया, फिलिपीन, इण्डोनेशिया तक में पाया गया है । भारतवर्ष में अधिकतर मलाबार के वनों में तथा कुछ और हिस्सों में भी प्राप्य है, जसा कि ऊपर कहा जा चुका है ।

अदमान तथा निकार क द्वीपों में एक और ही प्रकार का हारिल पाया गया है जो इस दश में पाई जाने वाली ७ किस्मों से बिल्कुल भिन्न है । कई वर्ष हुए हिमालय की उस तराई के जंगलों में भी, जो उत्तर-बिहार के सन्निकट है, एक खास किस्म का हारिल

दिगाई दिया था जिसकी दुम ह-वह तोने की पूछ जैनी लम्बी थी। मि० मन्त नामक एक अंग्रेज शिकारी ने इसे बन्दूक का निगाना बना कर इसके मून धरोर को बम्बई की नेचुरल-होलास्टी के पास भेज दिया था। नन्तर के और किसी हिस्से में इस जाति के हारिल के अस्तित्व का उत्प्रेषण किसी पुस्तक अथवा पत्रिका में देवाने को अब तक नहीं मिला है। आमतौर पर हारिल को पूछ छोटी होती है, तोने जैनी लम्बी नहीं। गन्धव है यह हारिल तथा नौने के मेल से पैदा हुआ हो।

हिमालय की पहाड़ियों में पाए जाने वाले हारिल को कोकिला नाम से पुकारते हैं। नर के वदन में हरापन औरों की अपेक्षा अधिक होता है, दुम ज्यादा लम्बी होती है और पीठ तथा उनो पर खताभ, छाती में नारंगी तथा गुलाबी रंगों का आभिरूप होता है। मादा की छाती नारंगी रंग की नहीं होती तथा उने एव पीठ रक्तवर्ण के नहीं होते। इसकी माह जून का माह हरापन होता है। चीन तथा आन्ध्र के चारों ओर का चमड़ा नीला और पाय लाल होते हैं। बग के दोष भाग नर जैसे ही होते हैं। बम्मीर से लेकर दहाग तथा भूटान तक ४,००० फुट से ८,००० फुट की ऊंचाई पर, पूर्व में अमम के पहाड़ों से गैफर टेनगरीम, यहाँ तक में इस जाति के हारिल उल्लेख हैं। बट्टीनाथ-दिदारनाथ के पड़े बहुधा इन्हें पिंजरे में लाते हैं तथा अपने यजमानों के हाथ बँध जाते हैं पर इन्हें यहाँ की गर्मी बर्दाश्त नहीं होती। मने स्वयं आज से प्राय बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व इन्हें रखने की कई चेष्टाएँ की, पड़ो के द्वारा बारम्बार इन्हें मँगवाया, पर प्रयत्न विफल रहा, मैं इन्हें जिन्दा न रख सका।

कोकिल का स्वर अन्य जाति के हारिलों की अपेक्षा अधिक मीठा होता है। ये निपुण गायक होते हैं, पर अफसोस ! इन्हें हमारा देश पसन्द नहीं, हिमालय का शैल-शिखर ही इन्हें प्यारा है, नमतन भूमि के प्रान्तर नहीं।

घोड़े में हारिल का वही परिचय है। ऐसे तो इसकी गणना हन कपोतों में ही करते हैं, पर सिमाय उनके कि इसकी बनावट में नादृश्य है, इनके तथा कपोतों के बीच लम्बी गार है, न तो ये बचतनी की तरह ढीठ होते हैं न तप-नशी ही। मानव-आवाज में दूर जगना अथवा गाय में बाहर के पेड़ों पर रहने हैं। नजोने ऐसे होते हैं कि मनुष्य को देखते ही चुपकी भाष लेते हैं—तथा बट, पीपल आदि के छोटे-छोटे फलों से, जिन्हें एक बार में ही निगल जाते हैं, अपना पेट भरते हैं। श्री राजनर भने ही गढ़े कि ये कोटे भी चट कर जाते हैं पर किसी जार ने आज तक उन्हें फल छोड़ कर गुछ और, यहाँ तक कि नाज भी, गाल नहीं देगा। नभय है, राजनर माहव ने जिस हारिल की चर्चा की है वह पारचात्य-नम्यता के प्रभाव में आया हुआ तोर हारिलवर्गीय पक्षी रहा हो, किन्तु आमतौर पर हारिल पनाहारी ही होते हैं। ऐसे तो पिंजरे में रखे जाने इन्हें भात तथा मत्तु भा मिलता है, पर पनाहार त्याग कर ये अधिक दिना तक जीवन धारण करते नहीं देत गए हैं। अपनी टक रंगन में, चाह वह भनो हा या सुरी, ये बहादुर हैं, मर जायें पर अपनी टक न छोड़ें—

गहो टेक छूँ नहीं, फोटिन करी उपाय,  
हारिल पर पग ना पर, उदन-किस्त मरि जाय।

इस वच में हमारे लिए ये अत्यन्त ही आदर्श-व्यक्त हैं।

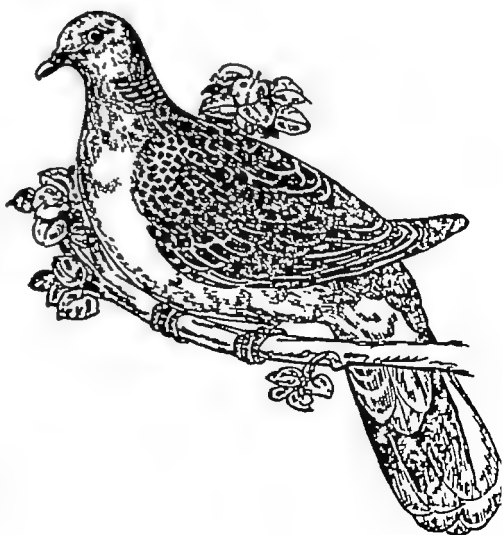
## फाखता या पंडुक

फाखता उन पक्षियों में है जो भारतवर्ष के कोने-कोने में पाये जाते हैं । इस देश में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो इस पक्षी को न पहचानता हो । बाग-बगीचों में, सड़कों तथा गाव की पगड़डियों के ऊपर, घर की सहन में—हर जगह नर और मादा पंडुक एक सग दाना चुगते हुए नजर आयेंगे । अंग्रेजी के ऐंग्लो इंडियन कवि डिरोजियो ने (१८०६) इसके सतत सहवास तथा सुखी दाम्पत्य-जीवन का बड़े सुन्दर ढंग पर चित्रलेख किया है—

Through blackest skies the fond dove flies,  
Nor fears the shafts of fate,  
Though winter raves, the blast she braves,  
For with her flies her mate  
Oh ! their's the hallowed charm that brings  
Such solace to the dove,  
And that alone's the spell that makes  
Her life a life of love

घोर तम को ओर भी पंडुक उड़ानें भर रहा ह  
भाग्य के शत-शत शरों से वह नहीं भयभीत  
शीत चीखे, हवाए हर वम बहें,  
वह उड़ रहा है  
पर्योकि उसके सग है उसका मनोरम भीत  
एक जादू है मिलन का, प्रेम का,  
पंडुक उसी में मुग्ध है ।

कबूतर और फाखते की बनावट और स्वभाव में अत्यधिक समानता है । कबूतर की ही तरह इसमें दाम्पत्य-प्रेम का आधिक्य है । नर और मादा हमेशा साथ-साथ रहते हैं । नर थिरक-थिरक कर, गला फुला कर, "कू-कू-कू" कह-कह कर मादा के आस-पास नाचता तथा उससे प्रेम की भीख मांगता है । एक को दूसरे का वियोग उसी भांति असह्य है जैसे कि कौंच को । एक के मर जाने पर दूसरा उसके पास उड़-उड़ कर आता



मया अपने आत्मा दुःख का परिचय देता है । मेरे एक बन्धु को फावता के निकार का अत्यन्त गीत था । बहुधा बन्दूक लेकर वह घाग-गोपी की ओर निकल जाने तथा फावतो का निकार बिया करने थे । कई बार मुझे भी उनके संग जाने का मौका मिला । मैंने देखा, जब कभी एक फावता बन्दूक की गोली का निशाना बन जाती, दूसरी भी बारम्बार उसके समीप बा-आ कर बैठती तथा गोली का गिटार बन्ती थी । बड़ा ही हृदय-विदारक दृश्य उपस्थित होता था । पर निवारियों के हृदय बड़ा ! उन्हें तो अपने गिटार की धनी उन पक्षियों में भग्नी रहती है, जिनका गोदन स्वादिष्ट होता है । और इसमें शक नहीं कि फावते का मागमाने में अत्यन्त ही मुन्वादु होता है । वह मोरमक्षियों को बड़ा शक्ति है । पर ईसाई फावते का निकार नहीं करने । उनके धर्मग्रन्थ बाइबिल में लिखा है—“और जीमस<sup>१</sup> वपतिन्मा<sup>२</sup> के बाद नीचे जल ने बाहर हुए और तब आत्मा—म्यंग—के पट गुल गये तथा उन्होंने भगवद्वाक्मि को फावता के रूप में स्वर्ग से उतरते तथा अपने ऊपर बैठने देखा ।”

यह नये टेस्टामेंट (बाइबिल का द्वितीय भाग, जिनका सम्बन्ध ईसा मसीह से है) का एक अवतरण है । पुराने टेस्टामेंट (जो ईसा के पूर्व के विभिन्न पैगम्बरों से अव्यक्त है) में भी, आदि में जहाँ मनुष्य एवं पृथ्वी की सृष्टि तथा आरम्भिक जन-प्रलय की चर्चा है, फावते का इस प्रकार जिक्र आया है—

“उन्होंने<sup>३</sup> एक फावते को बाहर प्रेषित किया ताकि वह देख आवे कि पृथ्वी-जन से जन अभी हट पाया है या नहीं । किन्तु फावते को पाय रखने तक के लिए कच्ची धोर न मिला और वह वापिस लौट आयी, चूँकि मानी पृथ्वी पर जन ही जन था, और उन्होंने हाथ बढ़ा कर उसे अपनी नौका में ले लिया । पुनः सात दिनों तक वह रुके रहे । फिर फावते को उन्होंने दूसरी बार बाहर भेजा । सन्ध्या पाल में वह फावता लौटी और उस बार उनके मुँह में ओलिव (जैतून)<sup>४</sup> का एक पत्ता था जिनमें नौह को यह पता लग गया कि पृथ्वी-जन पर न जल अब हट गया है । वह सात दिन और रुके, फिर फावते को पुनः बार पुनः बाहर भेजा । पर इस बार लौट कर वह सन्तान न आयी ।”

मगज यह कि ईसाइयों की दृष्टि में फावता एक पवित्र पक्षी है और वे उसे बड़े आदर से मानते हैं, मानते वदापि नहीं । ईसाई-मन्त्र में यह शान्ति और नन्द का प्रतीक मानी गयी है । और इसमें मन्देह नहीं कि यह देवने ने ही एक निरर्थक एवं नायक पक्षी बना दिया है ।

फावता के कई भेद हैं और यह हिन्दुस्थान के सभी प्रांतों में पायी जाती है । वह ने मीत-नीती होती है । प्रांत में उसे पुष्प अथवा पुष्पी नाम से पुकारते हैं, देग ने

१ ईसा ।

२ ईसाइयों का एक धार्मिक मस्जिद, जिसमें जल छिड़का जाता है या स्नान कराया जाता है ।

३. नोट की पत्ता इस प्रकार है . जल-प्रलय के पूर्व भगवान ने एक नौका तैयार कर के धर्मग्रन्थ नोट को कुछ पक्ष-पक्षियों के संग उसमें रख छोड़ा ताकि वे उसे रूँ और उनसे ही सृष्टि का पुनः आरम्भ हो ।

४. जैतून के पत्ते शान्ति के प्रतीक माने गये हैं ।



बाकी हिस्सों में पड़क अथवा पड़की के नाम से। यह उन चिड़ियों में है जो केवल दाना चुग कर ही जीवन बसर करती हैं। फलों के बाग में रह कर भी यह उन पर आघात नहीं करती। दाने चुगती हैं और मौज आने पर नाचती हैं। न ऊधो का देना, न माधो का लेना। न कौओ की तरह चींजे चुराती हैं, न कवूतर की तरह हमारे घरों में घुस कर गदगी फैलाती हैं, न कोयल की तरह हम से दूर भागती हैं और न तोते अथवा बुलबुल की भांति हमारे बाग के फलों, खेत की फसल, को तहस-तहस ही करती हैं। मानव-आवास के अति निकट रह कर भी यह पक्ष-पक्ष की भांति ही रहती हैं।

इसकी कई किस्में हैं, कई उपजातियां हैं, कई नाम हैं—

**घौरी पड़क कहु पिउ नाऊ,**

**जों चितरोख न दूसर ठाऊं ।**

पर इसे पहचानना कठिन नहीं है क्योंकि यह उन पक्षियों में है जिन्हें हम निरन्तर देखते आये हैं। यह खजन की तरह अच्छे दिनों में साथ, बुरे में त्याग के सिद्धांत पर चलने वाली चिड़िया नहीं है, यह बारहमासी है, हर हालत में हमारे सग है। इसकी मुख्य किस्में ये हैं—

१ काल्हक फाखता—इसे अंग्रेजी में 'टर्टल डव' कहते हैं। कद में यह सबसे बड़ी होती है, प्रायः १३ इंच लम्बी। सर, गर्दन तथा ऊपर का भाग ललछौंह भूरा, नीचे का हल्का कल्यई और गर्दन के पिछले हिस्से पर दोनों ओर काली-काली चित्तियां होती हैं। डैनों पर हल्की स्याही का सा रंग तथा कुछ धब्बे-से बने होते हैं। घुम भूरी, कालापन लिये हुए होती है जिसके सिरे पर गाढा कल्यई रंग होता है। आख का रंग गाढा लाल, पुतलिया सफेद और चोंच भूरी होती है। पांव नीलापन लिए हुए गहरे लाल रंग के होते हैं।

आमतौर पर काल्हक फाखते की यही रूप-रेखा है। पर एक विशिष्ट श्रेणी की फाखता का रंग बिल्कुल ही सफेद होता है, आखें पीली, पुतलिया लाल तथा चोंच रक्तवर्णी होती है। कभी-कभी एक ऐसी किस्म की फाखता भी पायी जाती है जिसका रंग हल्का पीला, गले पर और पूँछ के नीचे काले की जगह हल्का भूरापन तथा पर की नोक एवं पूँछ पर श्वेत रंग के धब्बे होते हैं। संभवतः यह फालसई तथा श्वेत रंग के पड़को का सकर है। पर यही जाति है जो पिंजड़े में अधिक सुगमता से पाली जाती है तथा पिंजड़े में अंडे देती है।

काल्हक की एक और भी जाति है जिसका रंग बाकी सब से भिन्न, गाढा हरा, होता है (चित्र सख्या ९)। पीठ तथा डैने हरे, नीचे के हिस्से अगूर की वेल जैसे होते हैं। कपोल तथा भोंहे सफेद होती हैं। नर और मादा के रंग में कोई अन्तर नहीं होता। इसे पन्ना फाखता भी कहते हैं। यह अधिकांश हिमालय के पूर्वीय इलाकों में पायी जाती है, और दक्षिण भारत तथा बंगाल, बिहार, उड़ीसा के कुछ हिस्सों में भी। पहाड़ों की तराई में बास आदि के वनों से परिवेष्टित स्थानों में रहना इसे ज्यादा पसंद है क्योंकि और फाखतों की तरह यह मानव-आवास के अडोस-पडोस में नहीं बल्कि उससे दूर, पेड़ों की घनी छाया अथवा पर्दे में रहना चाहती है। पहाड़ों पर भी यह पायी जाती है पर ६,००० फुट की ऊंचाई से ऊपर नहीं। असम के चाय-बागानों के इर्द-गिर्द यह काफी संख्या में प्राप्त है।

शाह बलबुल  
(श्रीमती चन्द्रिका गुप्तल  
द्वारा चित्रित)

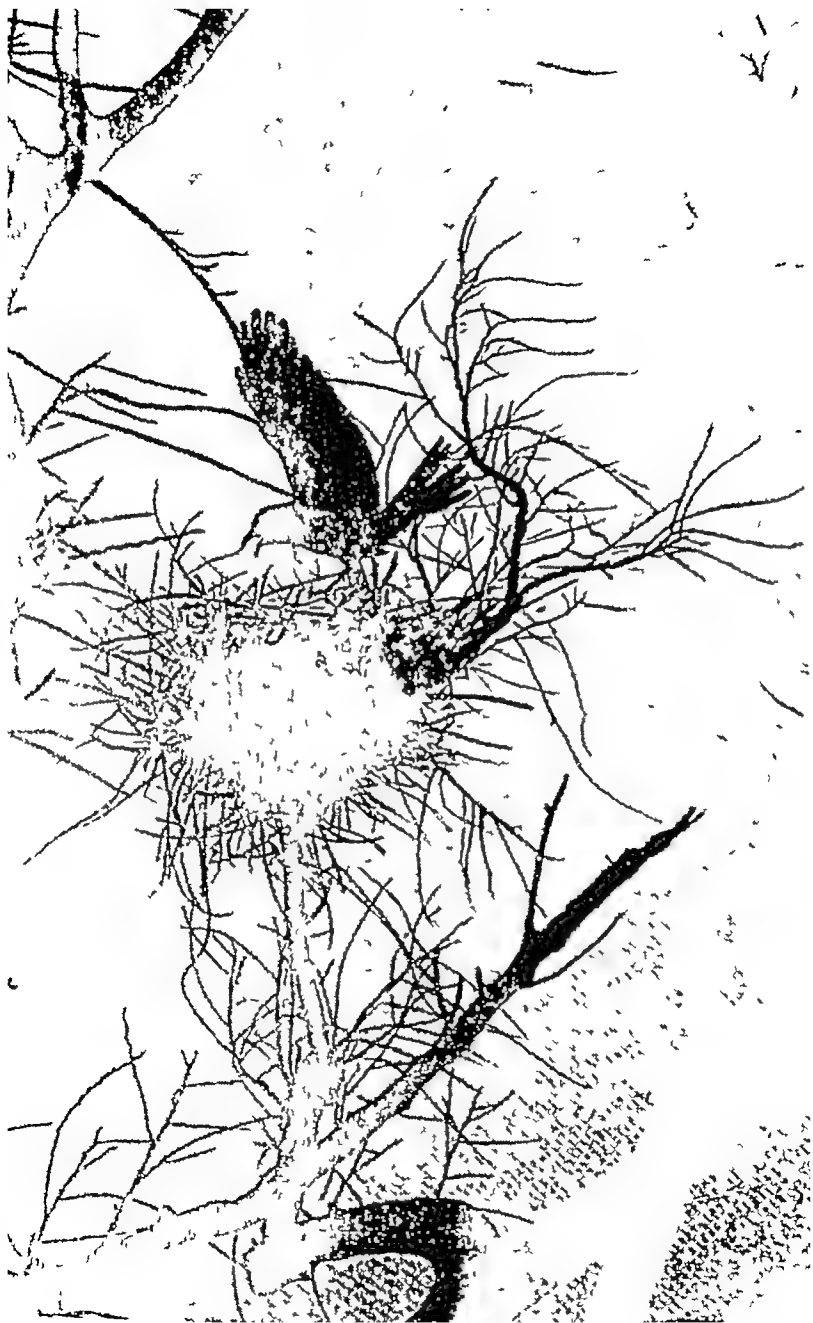
चित्र संख्या २०



चित्र संख्या २३

बलबुल और उसका  
परिवार





कही-कही तो काफी मन्त्रा म देखने को मिलनी है और कहीं बिना किसी कारण-विशेष के एक दम ही गायब । गाव में दूर खेत तथा झाड़ियों में दाना चुगना उसे अधिक प्रिय है । अधिकतर तर और मादा एक साथ मिलेंगे पर कभी-कभी उनके झुंड भी नजर आते हैं ।



फाउलों की मुख्य जिम्मे इतनी ही है । इनके रंग, बनावट और कद में न्यूनान्तर ने कुछ फर्क भी आ जाता है । एक ही किस्म की फावता उत्तर बिहार में छोटे कद की पर पंजाब में कही-कही बड़े कद की पायी जाती है । मनुष्यों में जैसे जलवायु के कारण रंगत तथा कद में अन्तर आ जाता है, निम्न-न्देह पक्षियों में भी वैसा होता है ।

चाहे कोई फावता फाल्गुन हो या चित-रोमा बयबा ई टकोहरी, सभी के स्वभाव और प्रवृत्तियों में, समानता होती है । मगलन,

ये सभी माल भर अडे देनी है । इनके घोंसले कम या अधिक एक जैसे ही बँटीन होते हैं—दो-चार लकड़ियों के टुंडो ने बनाये हुए मचान-जैसे, जिसके अन्दर अडे तथा बच्चे बाहर से साफ नजर आते रहते हैं । अडे का रंग अधिकांशत एक जैसा होता है । छोटे दरख्तों, गामक़र बबूल के वृक्षों पर घर बनाना इन्हे नमानरूप ने रचिकर है । मोर और पय़गर की तरह प्रेमोल्लास में नाचना भी इन्हे प्रिय है—

माचहि पड़क मोर परेवा,  
यिकल न जाय फाटु फं सेवा ।

## तोता

एक पुगनी क्या है । बहुत दिन हुए मुश्किल ने एक फोने में तोतो की एक विगट न्मा हुई जिसका मनापतित्व फाल्गुन वस के एक पक्षिराज ने किया । मनापति जी ने कहा—

मित्रो, एक गाव या जर कि इन नगर में गायन भागदप में तोतो की इन्ने कुछ हुआ करती थी, मानव-मनाइ इन्ने यही उज्जा की निगाह ने देता मन्ता था, हमारी मन्दाओं को पुनः मन्त्र ने मन्त्रित कर इन्ने पड़ा था और उनके प्रान्त में मन्त्रित होता था । अन्धेय हीमना तोंग के प्रति उन्ने अपने ज्ञान के जी भार शिखरे, उसकी मन्त्रि-वृत्ति में जिस प्रकाश मन्त्रित बना, उसे वहन की शक्तमन्त्रा नहीं । इतिहास के पृष्ठ ही उसे मन्त्रित है । इतना कारण केवल मानव जति की उदरगा हो नहीं, हमारे अन्तों कोरगा भी थी । हम विप्रावेसी से, मेतवी से, गीतवृद्धि से,

४ राज या रामघुघु—कद में बहुत छोटी, अन्य फाखतो से भिन्न, तीतर से मिलती-जुलती सी है। नर और मादा में रंग-भेद है। नर का रंग हल्का चाकलेटी, डेने पर हरियाली लिये हुए पीतल का रंग, सर पर भूरी टोपी, कपोल तथा भौंहे श्वेत रंग की होती है। आखें बड़ी-बड़ी, चोच प्रवाल के रंग की लाल तथा पैर रक्तवर्ण के होते हैं। मादा में पर का कथई रंग मद, सर पर भूरी टोपी का अभाव, कपोल तथा भौंहे श्वेत की जगह भूरी होती है। अडे का रंग एकदम सफेद नहीं, जैसा कि और फाखतो का होता है, बल्कि पीलापन लिए होता है। आकार में छोटी होकर भी यह देखने में अतिशय दृष्टपुष्ट तथा बोलने में अत्यन्त मधुरभाषिणी है। पिंजड़े में अन्य पक्षियों के साथ लडने की इसकी प्रबल प्रवृत्ति है। इसके घोंसले अन्य पड़ुको से अधिक सुघड एव साफ सुथरे होते हैं।

भारतवर्ष के सभी हिस्सों में यह नहीं मिलती। हिमालय के नीचे के प्रान्तों, बगाल (रामघुघु नाम बगला भाषाभाषियों का ही दिया हुआ है), मलाबार के जंगलो तथा गंगा और महानदी के प्रान्तों में यह उपलब्ध है। मानवनिवास-स्थल से अलग, जंगलों में रहना इसे अधिक पसंद है।

५ चोटीदार—दरअसल यह रहने वाली आस्ट्रेलिया की है, पर भारतवर्ष में भी सुन्दरता के कारण इसे लोकप्रियता प्राप्त है, खास कर पक्षी पालनेवालों के बीच। कद और रूपरेखा में यह बहुत हद तक धवर फाखते से मिलती-जुलती है, पर इसकी पूछ और पाव बड़े होते हैं तथा सर पर एक सुन्दर-सा तुरा होता है। प्रणय-प्रदर्शन के समय नर अपनी पूछ उठा कर फैला लेता है तथा अपने डेने को विस्तृत कर मादा के पीछे-पीछे दौड़ता है।

६ धवर—कद में चितरोखा के बराबर, पर रंग चित्तेदार न होकर राख का जैसा होता है। सर और गले पर इसके गुलाबी मिश्रित भूरापन होता है। गले के ऊपरी भाग पर काले रंग की एक कठी भी। देखने में सुन्दर, पर मानव से दूर-दूर ही रहना इसे अधिक रुचिकर है। खेतों तथा छोटे-मोटे जंगलों की झाड़ियों में (घोर वन भी इसे प्रिय नहीं) झुंड बांधकर रहती है जैसा कि अन्य फाखताएँ नहीं करती या कम करती हैं। इसकी बोली में भी एक प्रकार का कडापन है, माधुर्य नहीं। हा, घोंसला बनाने में औरों की अपेक्षा यह अधिक निपुण है और इसके नींद अधिक मजबूत और सुरक्षित होते हैं। ११,००० फुट की ऊँचाई तक यह पायी जाती है।

७ ई टकोहरी या सिरोटो—कद में सबसे छोटी (९ इंच) होती है पर बोली इसकी सबसे मधुर होती है। इसके नर व मादा का रंग एक दूसरे से भिन्न होता है। ई ट का-सा रंग होने से ही इसे ई टकोहरी कहते हैं।

नर के सर का रंग स्लेटी, वाद का हिस्सा ई ट की तरह सुखं, डेने के सिर पर कथई रंग, गले में काली कठी होती है। दुम स्लेटी रंग की होती है, किन्तु मध्यभाग में भूरापन होता है। किनारे काले और सफेद होते हैं। नीचे का हिस्सा लाल होता है। केवल दुम के नीचे सफेदी होती है।

मादा का ऊपरी भाग राख के वर्ण का होता है। डेने पर लाली नहीं होती। गले में नर की ही भांति काली कठी होती है। भारतवर्ष के तमाम हिस्सों में यह उपलब्ध है, पर

कही-कही तो काफी सग्या म देवने को मिलनी है और कहीं बिना किसी कारण-विशेष के एक दम ही गायब । गांव में दूर खेत तथा झाड़ियों में दाना चुगता छने अधिक प्रिय है । अधिकतर नर और मादा एक साथ मिलने पर कभी-कभी इसके झुट भी नजर आते हैं ।



फावतो की मुख्य निम्में इतनी ही है । इनके रंग, बनावट और कद में न्यानान्तर ने कुछ फर्क भी आ जाता है । एक ही किस्म की फावता उत्तर बिहार में छोटे कद की पर पंजाब में कही-कही बड़े कद की पायी जाती है । मनुष्यों में जैसे जलवायु के कारण रंगत तथा कद में अन्तर आ जाता है, निम्न-न्देह पक्षियों में भी वैसा होता है ।

चाहे कोई फावता फाल्गुन ही या चित-रोग्या बयवा ईंटकोटरी, सभी के स्वभाव और प्रवृत्तियों में, समानता होती है । मगनन, ये सभी गाल भर अडे देती हैं । इनके घोंसने कम या अधिक एवं जैसे ही बँटीन होते हैं—दो-चार लकड़ियों के टुकड़ों में बनाये हुए गचान-जैने, जिनके अन्दर अडे तथा बच्चे बाहर से नाफ नजर आते रहते हैं । अडे का रंग अधिकांशतः एक जैसा होता है । छोटे दरन्ती, सामान्य बयल के वृक्षों पर पर बनाना इन्हें समानरूप में रुचिकर है । मोर और कायूतर की तरह प्रेमोल्लास में नाचना भी इन्हें प्रिय है—

नाचार् पड़क मोर परेया,  
बिकल न जाय काहु कं सेवा ।

## तोता

एक पुरानी कथा है । बहुत दिन हुए गुडगुन के एक कोने में तोतों की एक बिराट सभा हुई जिसका समानान्तर बरतानुज-वश के एक परिवारा ने किया । समारंभ जो ने था—

मित्रो, इस समय का जब कि उन नगर में सामान्य भारदस्त में तोतों की बड़ी बूझ हुआ करती थी, मानव-समाज उन्हें बड़ी इज्जत की निगाह से देता था तथा हमारी भावओं को पुनः हम में नर्मित कर डाले पल्लव का और उनके प्रचार ने गहरा होता था । अक्षय जीवनन तोता के प्रति अपने आनन्द के आभार सिपाये, उनकी स्तुति-वृत्ति ने जिस प्रकाश महारा बना, उसे अपने की आत्मव्यक्ति नहीं । इतिहास ने स्पष्ट ही इसे दर्शाया है । इसका कारण केवल मानव जाति की उत्तमता ही नहीं, हमारे जतनी सोचनी भी थी । एक शिवाजी से, नेत्रकी से, तीक्ष्णदृष्टि से,

## भारत के पक्षी

भगवद्भक्त थे और ससार में स्वभावतः अपना स्थान रखते थे । जिन चीजों को मान कुल के विद्यार्थी हफ्तों, बल्कि महीनों में रट-रट कर कठस्थ करते थे, उन्हें हम दो-एक दिनों में ही सीख लेते और इस प्रकार अपनी अद्भुत मेधाशक्ति का परिचय देते थे स्मरण होगा, जब भगवान् शंकराचार्य भारतवर्ष के विविध विद्वानों को शास्त्रार्थ : परास्त कर मिथिला पधारें थे ताकि तद्देशीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् ५० श्री मंडन मिश्र व भी पराजित करें, तथा कुर्वे पर पानी भरती हुई किसी ग्राम वाला से उनके घर का पत पूछा था, तो उसने इन शब्दों में उनके गृह का परिचय दिया था—

जगद्ध्रुवंस्यात् जगद्ध्रुवस्यात्  
शुकांगना यत्र गिरो गिरन्ति,  
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा  
जानीहि तं मंडन पंडितौकः ।

अफसोस कि आज वह हमारी स्थिति नहीं । न तो मानव समाज गुणों का पारख ही रहा, न उसके दिल में पहले जैसी कद्रदानी रही, और न हमारे बीच वे गुणमण्डार ही हर चीज में, हर बात में, परिवर्तन हैं—

वह मुतरिव और वह साज, वह गाना बदल गया,  
नींवें धदल गयीं, वह फिसाना बदल गया !  
रंगे रखे बहार की जीनत हुई नयी,  
गुलशन में बुलबुलों का तराना बदल गया !

ध्यान दीजिए—'गुलशन में बुलबुलों का तराना बदल गया ।' मानव से यह न हुआ कि इस मिसरे में बुलबुल की जगह वह हमारे तोते का जिक्र करता । यही नहीं, 'तोताचश्म' जैसे मुहावरे की ईजाद करके हमारे सारे समाज को कलकित करने की उसने चेष्टा भी की । पर—

निगाहें कामिलों पर पड़ ही जाती हैं जमाने की,  
फहीं छिपता है तोता फूल पत्तों में निहा हो कर ?

फहना न होगा कि तमाम उपस्थित तोतों ने कर्णभेदी 'टरं-टरं' शब्दों में हर्षध्वनि कर इस भाषण पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी । निस्संदेह प्राचीन काल में इस पक्षी विशेष की जो कद्र थी वह आज नहीं रही । उदाहरण के लिए विशिष्ट कुल की सुन्दरियों के दृष्टिकोण को ही लीजिए । जहा पूर्वकाल में नूरजहा तथा मुमताज महल जैसी बेगमों, जिनके सौंदर्य की शोहरत सारे जहान में फैली हुई थी, दिन-रात अपने हाथों पर तोता लिये फिरती थी, जो उनके प्राचीन चित्रों से साफ जाहिर है, वहा आज की रूपयौवन-सम्पन्न महिलाएँ कुत्ते लिए फिरती हैं ।

सभा समाप्त हुई । निम्नलिखित सह-गान के साथ देश-देश से आये हुए सुगमों ने कार्यक्रम को पूरा किया और कुछ काल सुन्दरवन में बिता कर स्वागत समिति के द्वारा आयोजित विविध फूलों की दावत खाकर वे अपने-अपने देश को चले गये । गान यों था—

यंश-गौरव को न हम छोड़ें कभी,  
नाम-साधन से न मुख मोड़ें कभी,

बैठ विहगों से सभी हम, भाइयो ।

प्रति ससृति से न हम जोड़ें कभी ।

पूर्वोक्त समाया महानमा में भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में आये हुए तोते तो भी ही, बर्मा, मलय, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि के तोते भी सम्मिलित हुए थे । गमापति का स्थान, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, काकातुआ (चित्र मस्या ८६) न ग्रहण किया था ।

काकातुआ को हम शुद्ध भाग्यवान् नहीं कह सकते, पर साथ ही इन देश के लोग इन जाति के तोते में बिल्कुल अपरिचित भी नहीं हैं, क्योंकि एक बड़े अमें में, नदियों से, ये यहाँ के लोकप्रिय पालतू पक्षियों में स्थान पाते आये हैं । पर रहने वाले ये मलक्का, फिनिपीन, और साम करके आस्ट्रेलिया के हैं, जहाँ इनकी छोटी-बड़ी अनेक उपजातियाँ पायी जाती हैं । इनके रंग और इनकी नूरने तरह-तरह की हैं । आमतौर पर इनकी पृष्ठ छोटी तथा नर पर तुरी या चोटी नफेद, काली, भूरी, लाल किंवा पीले रंग की होती हैं । नीची आँतें तथा लाल तुरे वाले काकातुआ अधिक सुन्दर लोग पड़ते हैं । अपनी बनावट-सजावट में ही ये पक्षी-नमाज में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो ये पक्षियों के शहशाह हों ।

भारतवर्ष में इनके पालने की परिपाटी बहुत पुरानी है । अधिकतर लोग इन्हें पिण्डों में न रख कर लोहे के गोटे अड़्डों पर ज़ीर से बांधकर रखते हैं । किसी अमान आगन्तुक के आने पर जोरों से चिल्ला कर गृहस्वामी को ये सूचित कर देने हैं और यदि आने वाले का उद्देश्य चोरी करने का हो तो इसे वे फौरन ताड़ भी जाते हैं मानो अन्तर्धानी हों, तथा तब ता शोर मचाते रहते हैं जब तक कि घर का कोई व्यक्ति वहाँ आ न जाय । कभी-कभी ये चोंच से आगन्तुक पर प्रहार भी कर डालते हैं ।

कनकते में आमतौर पर इनके पालने का रिवाज है । प्राचीन बंगाली परिपारों में शायद ही कोई ऐसा परिवार मिले जिनके घर में ये नजर न आये । ये काफी वजनदार होते हैं और इनकी कीमत आकार एवं रंग-रंग के अनुसार पाँच-छ नौ रुपये तक भी होती है । यदि हफ्ताजत के साथ रखे जाय तो ये बहुत दिनों तक ज़िन्दा रहने हैं । कहते हैं, इनकी उम्र काफी लम्बी—सौ-दस-सौ साल तक की होती है । मनुष्य में ये कहीं अधिक आयु वाले होते हैं । कनकते में एक विशिष्ट सज्जन रहा करने में । मैं उनसे मिलने बहुधा जाता करता था । पक्षी पालने का उन्हें गान पोग था । पिण्डों में बाँधकर, जो बगल में मेहरा शीतल के आगमन तक रुका पाठ-पाठ कर जाती तथा तब मुहल्ले को प्रणिष्ठा कर गगनी पी, मान मुनिये, तब तो वे आदि-तरा-तरा ये पक्षी राखे थे; साप-साप एक बड़े आकार का, रंगी सुन्दर रंगों वाला तागातुआ भी, जो नवान की मोरियों के पान अपने छट्टे पर देठा हुआ पारो और नरर शीतल करता था । आने वालों की पूर्व-नूचना यह जानी जाना में दे देता था तथा उसकी आवाज सुनते ही ये समाज जाते थे कि कोई आता है । मुस-मुस में मुने देखा भी न ऐसा ही करता था पर पीछे पन कर मुने पहनाय गया था, एक चुप रहता था । लखनौ, राज १-६ मान हुए उत्तरा देशान हो गया, पर चिन्हे की सोचन और यह मानातुआ आर भी सोचते हैं । मैं सब भी पहा जाता करता हूँ, पर न वो यह सोचन ही उन ओजो-मोह के



## भारत के पक्षी

साथ गाती है और न उस काकातुआ में ही उत्साह की वह पुरानी भावना रह गयी है । वह नतमस्तक, सुस्त बैठा रहता है । पक्षियों में स्नेह का भाव कितना प्रबल है, इसका दृष्टांत यह काकातुआ है ।

पालतू हो जाने पर बहुत से लोग काकातुआ को बन्धन-मुक्त करके भी रखते हैं । वह अडोस-पडोस, बाग-बगीचों में घूमता है और फिर अपने अड्डे पर लौट आता है ।

काकातुआ की एक छोटी किस्म भी है जिसे हम काकातुई के नाम से पुकार सकते हैं । कद में छोटा पर देखने में यह भी बड़ा सुन्दर रंग-विरंगा तोता है । काकातुआ और काकातुई दोनों ही आस्ट्रेलिया के सर्वश्रेष्ठ पक्षी हैं और शाम के वक्त वे वहाँ किसानों के दरवाजों पर दल-के-दल उसी तरह दाने चुगने को आ पहुँचते हैं जैसे कि हमारे देश में पालतू कबूतर । खेतों में हल के पीछे-पीछे भी ये चला करते हैं । ऐसे तो सभी वृक्षों पर रहते हैं, पर युकलिप्टस् का वृक्ष इन्हें सबसे अधिक पसन्द है । जिन्होंने इनके मांस को अधिक खाया है, उनका कहना है कि इनके मांस से भी युकलिप्टस् की तीव्र खुशबू आती है ।

काकातुआ इस देश का पक्षी नहीं है पर इसके पालने का इस मुल्क में कुछ इतना ज्यादा रिवाज रहा है, कि हम इसके साथ वही आत्मीयता अनुभव करते हैं जो हरे तोतो के साथ । यह अपने तुरों को अधिकांशतः गिरा कर रखता है पर जब उठाता है तो ऐसा लगता है मानो किसी जापानी महिला के हाथ में विभिन्न रंगों में रंगा हुआ व्यजन हो अथवा किसी लोकपाल का मुकुट हो ।

ऊपर जिस सभा का उल्लेख किया जा चुका है उसमें अधिक सख्या उन तोतो की थी, जिन्हें हम रोज दिन में अपने बाग-बगीचों के वृक्षों पर दल बाध कर बैठे हुए अथवा खेतों में लगी हुई फसलों—बाजरा, भुट्टा आदि की बालियों पर आघात करते हुए देखते हैं या कि आकाश में उड़ते हुए, अर्थात् हरे रंग के देशी सुग्गो की । दूर से देखने से ये सभी एक समान ही नजर आते हैं । पर इनकी दर्जनों किस्में हैं । किन्तु दो प्रकार के तोते उत्तर भारत में अधिक पाये जाते हैं, एक वे जिनके शरीर का रंग हरा, दुम के पर पीले-हरे, चोंच लाल, ठोड़ी पर काला घब्बा होता है । नर के एक कठी होती है जिसका रंग ऊपर गुलाबी, नीचे लाल होता है, आख से लेकर नाक तक एक काली धारी भी होती है । मादा की कठी का रंग हल्का हरा होता है । आखें सफेद होती हैं । लम्बाई में ये प्रायः १६ इंच होते हैं, १० इंच की पूँछ और छ इंच का बदन । दूसरे वे जिन्हें लालटुइया या लालसिरा भी कहते हैं । फर्क इतना है कि इसकी चोंच लाल नहीं, नारंगी रंग की होती है और गर्दन बैंगनी रंग की । आखें श्वेत भी होती हैं और गुलाबी भी, तथा पाँव का रंग भूरा न होकर गुलाबी लिये होता है । आमतौर पर ये दो प्रकार के तोते भारतवर्ष से लेकर लका आदि देशों में तथा पीरू तक में पाये जाते हैं । आज से हज़ारों वर्ष पूर्व ये रोम तथा यूनान तक में लोकप्रिय हो चुके हैं । रोम के प्रसिद्ध कवि ओमिड ने जिस तोते पर मरसिया लिखा था, उसके रूप-वर्णन से साफ़ ज़ाहिर है कि वह उपर्युक्त जाति का ही कोई तोता था । कहते हैं, सिकन्दर जब भारत से लौटा तो अपने साथ अनेक तोते लेता गया और तभी से यूनान में और फिर रोम में तोता पालने की प्रथा चल पड़ी । फिर तो समुद्र हो कर जो कोई भी जहाज कालान्तर में, पूर्व से पश्चिम को गया, सैकड़ों तोते भेता गया । यूरोपीय देशों में तोता पालना भी एक फैशन-सा हो गया ।

एक तीसरे प्रकार का तोता, जो समस्त भारत तथा नेपाल, बर्मा, अरुमान आदि में पाया जाता है, वह है जिगली ममाना पूर्वोक्त विष्मो के तोता में तो है, परन्तु जो कद में उनमें बड़ा होता है तथा जिगली पाया पर गहरे लाल रंग का एक धब्बा-भा होता है । बंगाल में उसे 'जग्गला' नाम से पुकारते हैं ।

एक और तोता हिन्दुस्तान के कई हिस्सों में मिलता है जिसका बदन छोटा, भेना के आकार का, पर पूछ काफी लम्बी होती है । शरीर हरा, पर शर का रंग नीलापन लिये लान होता है । पूछ के मध्य भाग के पर नीले होते हैं जिनके अग्रभाग पर गफेदी होती है ऐसी पर लाल धब्बे होते हैं । चोंच लान न होकर नारंगी रंग की होती है । बर्मा में भी इस प्रकार के तोते पाये जाते हैं पर उनके परो में नीलापन नहीं होता, वे बिल्कुल पानी होते हैं ।

इन विष्म के तोता तथा औरों में परं यह है कि जहाँ उनकी आवाज में टर्रापन है, भाग्य का अभाव है, वहाँ इनके कूजन में एक प्रकार की मधुरिमा है जो मानों को बड़ी प्यारी लगती है । मार्च में लेकर मई तक इनके अंडे देने का समय है । बाकी तोते, जिन का ऊपर उल्लेख हो चुका है, उत्तर भारत में मार्च-अप्रैल में और दक्षिण भारत में जनवरी-फरवरी में अंडे देते हैं । अंडों का रंग बिल्कुल स्वेत होता है । तोते घाम-पूंग के घोलते नहीं बनाते । मादा दीवार क्यथा वृक्षों के मुरागों में अंडे देती है । बना-बनाया मुराग यदि नहीं मिला तो खुद चोंच की गहायता से नर-मादा मुराग बना टालते हैं जिसे पूरा करने में कभी-कभी इन्हें महोनी लग जाते हैं । मुराग का दरवाजा प्रायः दो इन चौड़ा होता है, भीतर ४-५ इंच । यहाँ चपटी की कुछ तिलिया बिछा कर मादा चार-चार छ-छ अंडे तक दे टालती है ।

जैसा कि मैं पहले कह आया है, तोता के एतन्ही नहीं दर्जनों भेद हैं (चित्र नम्बर १५, १६ आर ३४) और आमतौर पर इनका रंग हरा होता है चाहे उनमें शरीर के जिन-जिन स्थान में लान का मिश्रण हो या पीले अथवा नीले रंग का या और किसी का । भारतवर्ष के कोने-कोने में, हिमालय की ८-९ हजार फुट की ऊँचाई तक, वे पाये जाते हैं । बर्मा, नेपाल, मलय, ताइलैंड, ब्रिटेन नाम, चीन आदि देशों में भी पाये जाते हैं । ताता की प्रकृति में, चाहे वे किसी भी उप-जाति के हों, एक गहरी नमाना है । उद्यम में और पक्षियों की अपेक्षा वे ज्यादा तेज होते हैं, पतवारों हैं, कोयल, पंखिया आदि की तरह अन्य पक्षियों पर परावर मुठों में रहते हैं, अर्थात् सामाजिक प्रकृति के हैं, पक्षी की भाँति जाया भी दायाद-प्रेम तथा एक भावपूर्ण है, नर य मादा पोंच मिला कर एक दूसरे के प्रति प्यार-प्रशंसा करते हैं ।

जो लोग प्राचीन वृक्षों के बाहर ही तोता के निवासस्थान हैं । यदि लान किसी नदी-जलधारा स्थान पर, पौन क्यथा समस्त वृक्ष पर गौर से निगाह टालें तो वहाँ काले-अनले के टोनों में बँट हुए और गुरु-व्यक्तिता की वाद-मेला कर्मा पायेंगे । शायद इनकी की और देग पर गहरी चान्सीरि में सा गया से वह दृष्टा प्रकट की सो जि—

तत्तोरे तरषोटरानगने मां विष्णो वर ।

—मा, गने ! तुम्हारे तटवर्ती वृक्ष के किसी बाहर में मैं पक्षी होऊँ । वाञ्छितान ने भी वनिशात शायतन में दिया था—

नीपातः शुभमर्शोटरनुपगष्टालनमानयः ।

तोतो के सम्बन्ध में यह एक प्राचीन धारणा है कि सेमल वृक्ष के घोंसलो में पले हुए तोतो में अधिक वाक्-चातुर्य होता है । पता नहीं, इसमें कहा तक सचाई है । निस्सन्देह सबसे अधिक इन्हे वन एव वृक्षों के कोटर अत्यधिक प्रिय है—

वासः काञ्चनपजरे नृपकराम्भोजैस्तनूमाजर्जं

भक्ष्यं स्वादुरसालवाङ्मिमलपेयं सुधामं पयः

पाठः ससवि रामनाम सततं धीरस्य कीरस्य मे

हा ! हा ! हन्त ! तथापि जन्म विटपिञ्जोऽं मनो धावति ।

—सोने के घर में मेरा निवास है और ये बड़े-बड़े राजा-महाराजा स्वयं अपने हाथों से मेरा अभिषेक करते हैं, आम, अनार आदि फल खाने को, अमृत, मधुर जल पीने को देते हैं, सभा में राम-नाम का पाठ भी चलता रहता है । पर इन सारी सुख-सुविधाओं के रहते भी मेरा मन अपने जन्म-स्थान वृक्ष की गोद की ओर ही भागता रहता है ।

कथन सत्य है, पाले हुए परेवा को यदि आप पचासो कोस की दूरी पर भी छोड़ आये तो वह उड़कर अपने निवास-स्थल पर लौट आयेगा । पर तोता, बरसो तक पाले जाने पर भी पिंजड़े से छूटते ही वन-वृक्ष की ओर ही दौड़ता है, पीछे लौटकर भी नहीं देखता । इसीलिए क्षण भर में ही नजर बदलने वाले अकृतज्ञ जनो को 'तोता चश्म' कहते हैं । पर मातृभूमि का प्रेम सर्वोपरि है, तोते की यह प्रवृत्ति क्या इस बात की ही परिचायक नहीं है ? भगवान् कृष्ण का हृदय भी तो कह उठा था—

मणिकांचन की बनी द्वारिका,

गोकुल की छवि नहीं !

कलकत्ते के चिड़िया-बाजार में अथवा न्यू मार्केट के इर्द-गिर्द यदि आपको कभी जाने का सयोग प्राप्त हुआ हो तो आपने रंग-बिरंगे मध्यम कद के कुछ पक्षी बिकते देखे होंगे । ये आस्ट्रेलिया के तोते हैं, जिनके कई भेद हैं । आकार में ये उपयुक्त तोतो से छोटे होते हैं, पिंजड़ों में काफी दिनों तक ठहरते हैं, अड़े देते हैं, रूप-रेखा, रंग बड़े सुहावने होते हैं तथा इनका चहकना भी कर्ण-प्रिय है, कर्ण-कटु नहीं । इनमें सबसे प्रसिद्ध वे हैं जिन्हें आस्ट्रेलिया-निवासी "बुद्धगेरिगर" नाम से पुकारते हैं । ये पिंजड़ों में बड़ी अच्छी तरह रहते हैं तथा गौरवों की तरह आसानी से सन्तानोत्पत्ति भी करते हैं, उनकी ही तरह इनकी वंश-वृद्धि होती है । आज प्रायः पचास वर्षों से ये यूरोप के विभिन्न देशों में बड़े शौक से पाले जाते रहे हैं । ये बोलना भी आसानी से सीख लेते हैं । इटली में औरतें इन्हीं पिंजड़ों में रखती हैं और भविष्यवाणी करना सिखाती हैं । फिर यूरोप के अन्यान्य शहरों में इन्हें ले जाती हैं तथा इनके द्वारा काफी पैसे पैदा करती हैं । लोग इनसे अपने भविष्य-सम्बन्धी प्रश्न पूछते हैं और ये जिप्सियों की तरह उनके प्रश्नों का उत्तर देते हैं । जैसे यदि आपने प्रश्न किया कि मेरी आयु कितनी है, तो पिंजड़े के अन्दर से तोता कह उठेगा, ७० वर्ष । लोग इसकी बातें सुनकर स्वभावतः बड़े चकित होते हैं ।

कलकत्ते के बाजारों में ही एक और प्रकार के बहुत छोटे कद के तोते बिकते मिलेंगे जो सुगो की सबसे छोटी उपजाति है । ये फल खाते हैं, साथ-साथ फूलों के पराग एव मधु का भी पान करते हैं, जो बड़े तोते नहीं करते । इनके रंग विविध प्रकार के तथा

चित्र नम्बर २३  
सिंघ

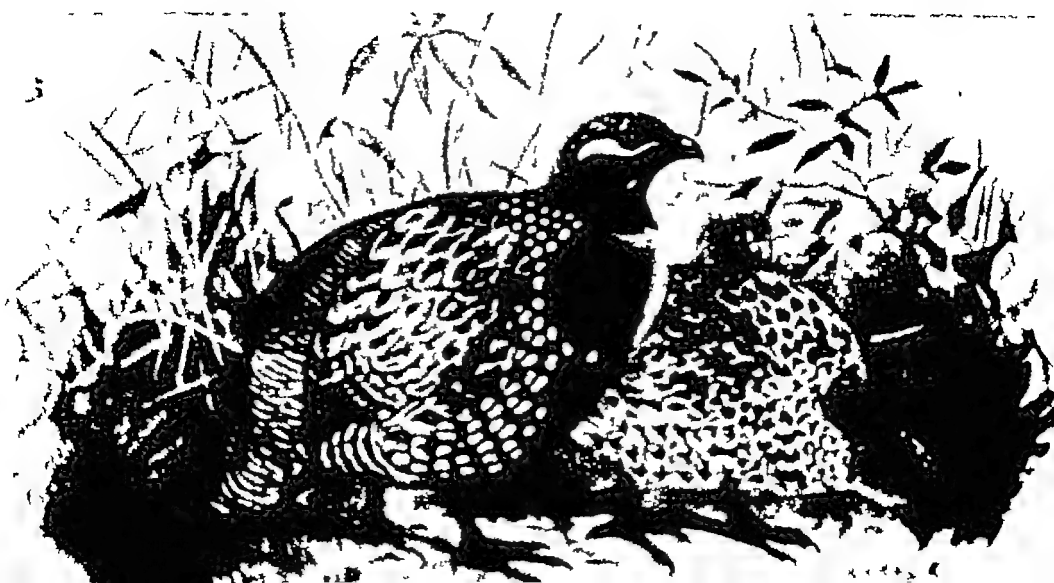


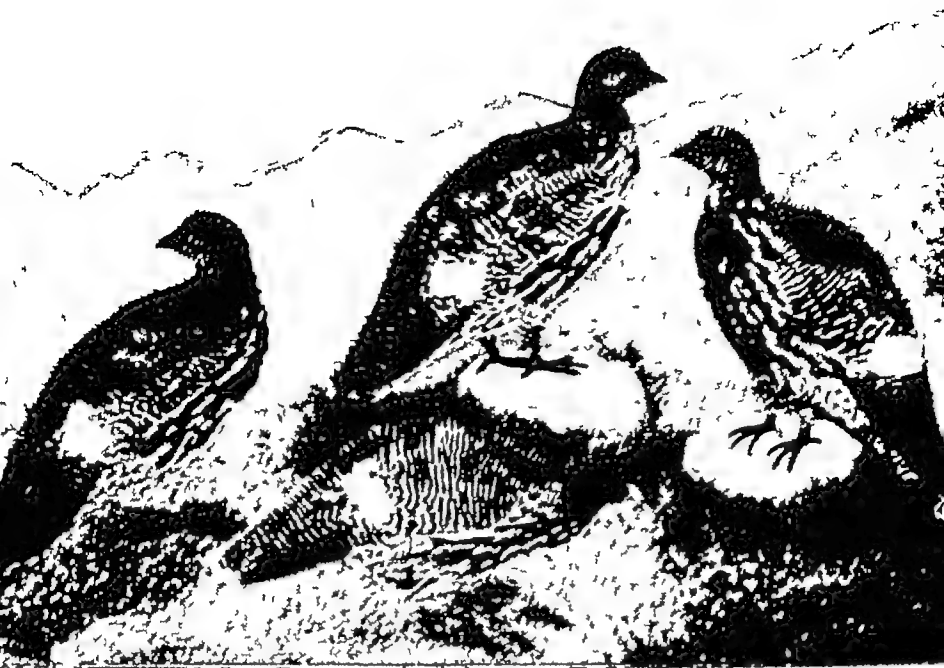
चित्र नम्बर २४

उ०

चित्र नम्बर २५

२५, नं० २५





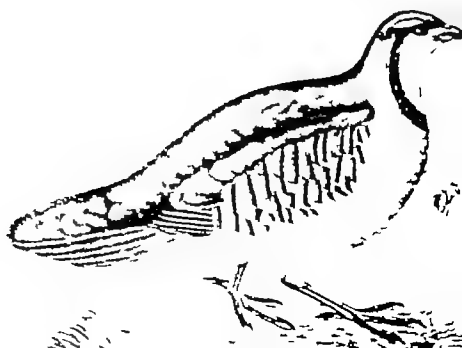
चित्र सख्या : २८

भटतीतर



चित्र सख्या ३०

च





के तोते उतर रहे हैं, इसकी चर्चा, आदि पुराण के निर्माता गुणमद ने कितने सुन्दर ढंग से की है—

यत्र शालिवनोपान्ते खातपतन्तीं शुकावलीम्,  
शालिगोप्योऽनुमन्यन्ते दधतीं तोरणश्रियम् ।

—घान के खेतों के पास आकाश-मार्ग से उतरती हुई शुक-पक्षितया, जो तोरण की शोभा पा रही थी, कृषक बालाओं के द्वारा सम्मानित हुई ।

और फिर—

शुकाऽच्छुकच्छदच्छायैश्चिरांगीस्तनांशुकैः  
छोत्कुर्वतीः कलमवाणं सोऽपश्यच्छालि गोपिकाः ।

—उसने उन गोपबालाओं को देखा जिनके अगो का लावण्य पाख से पाख सटा कर उड़ड़ीयमान तोतो की छाया से सुशोभित स्तनवस्त्रों से निखर रहा था तथा जो मधुर ध्वनियों से उनका वारण कर रही थी ।

शुको की इन पक्षितियों को देख कर महाकवि कालिदास का भी हृदय सोच उठा था—

मुखैरसौ विद्रुममंगलोहितं  
शिखाः पिशांगोः फलमस्य विभ्रती,  
शुकावलिवर्धक्तशिरीषकोमला  
धनुश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ।

—मूंगे के समान लौहवर्ण चोचों से घान की पकी हुई पीली बालों को धारण करते हुए, शिरीष के समान कोमल अगवाले शुको की पक्षितया इन्द्रधनुष की शोभा पा रही हैं ।

तोते की स्वामि-भक्ति का भी एक उदाहरण मुझे पिछले दिनों देखने को मिला । भारतीय ससद् के मेरे एक साथी हैं, बंगाली सज्जन । उनका एक तोता है । वह उनके कलकत्ते के घर में, और दिल्ली के भी घर में जबकि वह यहा ससद् की बैठक के सिलसिले में रहा करते हैं, खुला हुआ ही, बन्धन-मुक्त अवस्था में रहा करता है, घर के कमरों में, अडोस-पडोस में, वृक्षों पर, स्वेच्छा से विचरता है । बाकी समय उनके पावों के पास धबका उनके कंधे पर बैठा रहता है । उनकी अनुपस्थिति में घर में किसी आगन्तुक के आने पर जोरों से बोलने लगता है । यदि वह बीमार होते हैं तो उनकी चारपाई के पास ही सारा समय गुज़ारता है । उनके बाहर से लौटते ही उनके पास आकर चिल्ला-चिल्ला कर खुशी जाहिर करता है । सुबह होते ही उनके पावों पर ठोकर दे-दे कर उन्हें जगाने लगता है । गरज यह है कि उसके सारे आचरण परिवार के किसी व्यक्ति जैसे ही होते हैं । किसी के आते ही वह उनसे पूछने लगता है—इन के ? इन के ? (ये कौन हैं ? ये कौन हैं ?) दिन रात में केवल दो बार ही भोजन करता है, वह भी अपने ही बर्तन में । गर्म चाय पीने का उसे खास शौक है ।

यही नहीं, निम्नोक्त उक्ति का वह अपवाद भी है, खुला रह कर भी कभी घन की ओर नहीं भागता—

द्राक्षा प्रदेहि मयु वा वदने निधेहि,  
देहे विधेहि किमुवा करलालनानि,





भ्रमणशील तुम, हे विहगवर,  
हे पंडित, हे ज्ञान-गभीर ।  
मेरे अति अशान्त इस मन को  
कर दो, कर दो, शान्त, सुधीर ।

पर अफसोस कि अब हम उसके इस सदुपयोग से क्रमशः वंचित होते  
रहे हैं । किन्तु भगवद्स्मरण कराने वाले पक्षी के प्रति किसी ने ठीक ही कहा है,—

द्विजकुलपते, मेघासिन्धो, सुभाषितकोविद,  
त्वयिगूहमुपयाते जात धनुषकृत मम,  
यदिह नियत बालावृद्धाः स्त्रियः परिचारिका,  
शुक भगवतो नामप्रीता गुणान्ति मुहुर्मुहुः ।

अर्थात् हे बुद्धिसागर, द्विजकुलपति सुभाषित कोविद, शुक । मेरे इस घर में तें  
धा जाने से मेरा बड़ा उपकार हुआ है क्योंकि तेरे बहाने घर के सब लोग रामनाम तो ले  
लगे हैं ।

पर इसका परिणाम बेचारे तोते के लिए बुरा ही हुआ । आज्ञादी खोनी पड़ी  
किसी सहृदय व्यक्ति ने तभी तो कहा—

अखिलेषु विहगेषु हत स्वच्छन्द सारिषु  
शुक ! पञ्जरबन्धस्ते मधुराणां गिरोफलम् ।



## मैना

आलोके ते निपतति पुरा सा धलिध्याकुला वा  
मत्साद्भ्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती  
पृच्छन्ती वा मधुरवचना सारिका पञ्जरस्था  
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्व हि तस्य प्रियेति ।

—मेघदूत

शुक और सारिका उन भारतीय पक्षियों में हैं जिनकी इस देश के कथा-साहित्य  
में बड़ी चर्चा है । ये दोनों ही वाचाल, अत्यन्त वाक्पटु पक्षी हैं । एक समय था  
जबकि साधारण जनता से लेकर लोकपाल तक में इनकी बड़ी कद्र थी ।

तोता और मैना दोनों ही बड़ी आसानी से दूसरों की बोली सीख लिया करते  
हैं । जब ये पदों की ओट से मनुष्य की बोली बोलते हैं तो यह समझना कि यह मनुष्य  
नहीं बल्कि कोई और बोल रहा है, कठिन ही नहीं, असम्भव है । पर मैना में एक  
विशेषता है जो तोते में नहीं है । वह विभिन्न पक्षियों की बोली और गाने  
आप-से-आप सीख लेती है । अभी पिछले दिनों मुझे शिमला जाने का मौका मिला ।  
वहाँ जिस उद्यान-भवन में मैं ठहरा था उसके करीब ही एक विशालकाय चीड़  
के वृक्ष पर प्रतिदिन सुबह-शाम एक पहाड़ी मैना बैठी हुई विविध पक्षियों के गाने



कर कि हमने ऐसे कोई दुष्कर्म नहीं किये, हमारी अन्तरात्मा साफ है, सदैव आत्म-विश्वास एव साहस से परिपूर्ण रहती है—कौआ की तरह वह हमेशा सशक्त नहीं बनी रहती ।

मेरे कमरे के ठीक सामने बुलबुल के एक जोड़े ने घोंसला बना रखा है जिसमें दो नवजात शिशु ची-ची चू-चू किया करते हैं । बुलबुलें आसपास बैठी हुई उनकी निगरानी करती हैं । एक शाम की बात है । मैं खड़ा इन बुलबुलों का चहकना सुन रहा था । इतने में 'पर्यटन् विविधान् लोकान्', धूमता-धूमता एक कौआ वहाँ आ निकला । वस उसे देखते ही बुलबुले उस पर टूट पड़ी तथा उसे दूर भगा आईं । मैं इस दृश्य को देखकर अवाक् रह गया । कहा कौआ जैसा मुचड़ पक्षी और कहा बुलबुल जैसी छोटी चिड़िया जिसके पास सिवा एक मुठ्ठी हड्डी और दो छोटे पत्थरों के और है ही क्या ? फिर भी कौआ आत्मबल की कमी के कारण इस छोटे से पक्षी का भी मुकाबला न कर सका ।

शान्तिकाल में ये मैनाएँ अलग-अलग खिचड़ी भले ही पकायें, किसी बाहरी दुश्मन के दिखते ही ये एक हो जाती हैं—जैसा कि दुर्योधन ने एक बार कहा था पारस्परिक झगड़ों में पाँच पाँच, हम सौ हैं, पर किसी तीसरे के खिलाफ हम एक सौ पाँच हैं । यही हाल इन मैनों का भी है । जहाँ किसी दुश्मन को इन्होंने देखा—सर्प, नेबला, बाज या शिकरे को—ये इकट्ठा होकर जोरों से आवाज करना शुरू कर देती हैं और इस कदर आवाज करती हैं कि सुननेवाला फौरन समझ जाता है कि अमुक जगह पर पूर्वोक्त जीव-जन्तुओं में से कोई घुस आया है । मैनों के शोर करने के कारण न जाने कितने सर्पों का पता लगा है और उन्हें मनुष्य के हाथों प्राण देने पड़े हैं ।

मैना के नर और मादा में काफी पारस्परिक प्रेम होता है तथा बहुधा वे चोच से एक दूसरे के पर सवार होते हुए नजर आते हैं ।

दिनभर ये अलग-जोड़ों में हमारे मकान की छतों पर, गृह-प्रागण में अथवा बाग-बगीचों में विचरती फिरती हैं—पर सन्ध्या होते ही ये गिरोह बाधकर एक साथ हो जाती हैं और किसी तरु-शाखा पर या टेलीग्राफ के तारों पर कतार बाध कर बैठी हुई देर तक—जब तक कि घने अन्धकार से पृथ्वी ढक न जाय—शोर करती रहती हैं, मानो कोरस में गा रही हों । फिर सब की सब एक ही ढाल पर एक साथ रात गुजारती हैं । कभी-कभी आधी रात में अथवा रात के पिछले पहर में जोरों से एका-एक शोर भी कर बैठती हैं । घोर रात्रि में ये इस प्रकार क्यों शोर कर उठती हैं इसका पता आज तक कोई न पा सका ।

भोजन के मामले में ये सर्वभक्षी हैं । दाना चुगती हैं, कोड़े-मकोड़े खाती हैं और मौका मिलने पर मरी हुई छिपकलियों तथा मृत पक्षी को भी अपना आहार बना डालती हैं । शायद इस तामासिक आहार के ही कारण ये कभी-कभी आपस में खूब लड़ती भी हैं । एक दूसरे पर जोरदार आक्रमण करती हैं । दूर जाने की जरूरत नहीं, आपके गृह-प्रागण में ही यदि आप चाहे तो यह अपना दगल दिखा देंगी । दिन में प्रायः कई बार इनकी झपटें हुआ करती हैं—अधिकतर नरों के बीच, मादा के लिए । प्राचीनकाल में जैसे किसी अविवाहिता सुन्दरी के लिए अनेक

भोकपाल आपन में लड पडते थे—प्रमिद्ध सुन्दरी हैलेन के लिए तो दूँय का-मा महानुद्ध उठ खडा हुआ तथा डलियम के समान सुन्दर नगरी को भस्मीभूत होना पडा था—वैसे ही मादा के पाणिग्रहणार्थ इनके बीच भी कभी-कभी घोर सघर्ष उठ खडा होना है । नर चगुल और चोचो के सहारे एक दूसरे पर भीषण आघात करते हैं । वाग-वगीचो तथा गृह-प्रांगण, एव अडोस-पडोस की शान्ति कुछ काल के लिए भग सी हो जाती है । कितना अच्छा होता कि हम इन्हें भी 'पचगोल'—सहअस्तित्व—के सुन्दर सिद्धांत सिखा पाते ।

उपर्युक्त बातों से यह साफ जाहिर है कि इनमें मादा की सख्या कम और नर की अधिक है । कारण अज्ञात है ।

जिस समय खेतों में हल चलते रहते हैं, ये हलो के पीछे-पीछे चला करती हैं तथा जमीन से मिट्टी के साथ-साथ बाहर निकले हुए कीड़े-मकड़ों को पेट भर खाती रहती हैं ।

इनके अंडे देने का समय जून से अगस्त तक है । साधारणतः चार-पाच अंडे एक साथ देती हैं । ये मकान की छतों पर अथवा मकानों, वृक्षों और कुओं के सूरखों में घोंसले बनाती हैं, जिनके निर्माण में तरह-तरह की चीजों—घास-फूस, काठ के छोटे-छोटे टुकड़े, रुई के टुकड़े, चिथड़े, सर्प की कँचुल आदि—का इस्तेमाल करती हैं । ये घोंसले देखने में असुन्दर और बेडौल होते हैं ।

पता नहीं, हमारे घरों से इनको इतना प्यार क्यों है । दिन भर हमारी छतों पर, दीवारों पर, प्रांगण में ये घूमती तो रहती ही हैं, कभी-कभी गयन-कद अथवा स्नानागारों में भी अपने घोंसले बना डालती हैं और इस प्रकार हमें असुविधा में डाल देती हैं । ऐसी ही एक घटना पिछले वर्ष दिल्ली में हुई ।

मेरे एक ससद्मदस्य मित्र हैं जो जैन मतावलम्बी हैं । वे एक मान के लिए दिल्ली से बाहर, कलकत्ता चले गये पर बदकिस्मती से अपने 'वायरूम' का रोशनदान खुला छोड़ गये । लौटने पर उन्होंने देखा, घर में एक देशी मैना घोंसला बना कर अंडे में रही है और वह भी एक ऐसी जगह पर कि पानी के हौज की जर्जर खिंचते ही सारा घोंसला नीचे आ गिरे । मेरे मित्र कट्टर जैनी थे . किमी हिंसात्मक कार्य में किस तरह पड़ें ! घोंसला गिरा नहीं कि अंडे फूटे—हज़रत बड़े हैमवैस ने पडे । पर अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि जब तक अंडे बच्चों की समस्या हल न हो जाय, वह 'वायरूम' का इस्तेमाल न करेंगे और इस तरह पूरे एक महीने तक वह इसके व्यवहार में बचित रहे—तब तक जब तक कि अंडों ने बाहर निकलकर बच्चे उड़ने लायक न हो गये और एक दिन स्वयं वहाँ से विदा न ले गये ।

कनिष्क ने लिखा है—

“हमारे घरों में मैना बेखटके अपनी जगह बना लेती हैं और 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' को चरितार्थ करते हुए वह जब, जहाँ, जितने समय तक अच्छा होती है, जम जाती है ।”

पर ऊपरकी घटना से स्पष्ट है कि ये कभी-कभी हमारे साथ सम्पर्क स्थापित

करने, घनिष्ठता बढ़ाने में, सीमा का उल्लंघन भी कर बैठती हैं और इस तरह हमें काफी तकलीफ भी पहुंचाती हैं।

मैना की मुख्य किस्में इस प्रकार हैं —

१ किलहटा मैना : साधारण, देशी मैना को 'किलहटा' मैना भी कहते हैं मैना में यह सबसे बड़ी—प्रायः ११ इंच की—होती है। नर और मादा के रूप में कोई अन्तर नहीं—खैरा रंग, सर, गर्दन, दुम, सीना काला, पेट और डैनों के कुछ भाग, पूछ का सिरा एवं निचला हिस्सा सफेद, आंख की पुतली ललछौंहु भूरी, चोंच की जड़ से नेत्रों के नीचे तक का गोश्त तथा पैर पीले, यही इस मैना का रूप-रेखा है। यह हमारे अति-परिचित पक्षियों में है।

२ दरिया मैना : इसे गंगा मैना, किलनहिया, चही आदि नामों से भी पुकारते हैं। कद में यह देशी मैना से छोटी पर रंग-रूप में प्रायः उसके ही समान होती है सर और गर्दन काले तथा शरीर का बाकी हिस्सा भूरा होता है। चोंच नारंगी रंग की एवं नेत्र के चारों ओर का चमड़ा लाल होता है।

नदियों के किनारे में घोंसला बनाने के कारण ही इसका नाम दरिया मैना पड़ा है। एक साथ बहुत सी मैनाएं घोंसला बनाती हैं और साथ-साथ उपनिवेश बनाकर रहती हैं। घोंसला बनाने का समय अप्रैल से जुलाई तक है। इसकी आवाज बहुत कुछ देशी मैना की सी है। नर और मादा का रूप-रंग, स्वभाव आदि एवं से ही होते हैं। हिन्दुस्तान के बाहर यह मैना नहीं के बराबर पाई जाती है।

३ गुलाबी मैना देखने में इसकी सुन्दरता अद्वितीय है। सर, वक्षस्थल तथा डैने बिलकुल काले, शरीर का शेष भाग सुन्दर गुलाबी होता है। गर्मियों में ये न जाने कहा से झुड़-की-झुड़ इस देश में आ जाती हैं, जाड़ों में कहीं अन्यत्र चली जाती हैं। फसल को इनसे काफी नुकसान पहुंचता है।

४ तेलिया मैना : गुलाबी के ठीक विपरीत ये जाड़ों में झुड़-की-झुड़ आती हैं, गर्मियों में किसी दूर देश में चली जाती हैं, जहां घोंसले बनाती हैं, अंड देती हैं और फिर सर्दियों में जल-वायु-परिवर्तन के लिए हमारे देश में आ पहुंचती हैं। इन्हें तिलोरी भी कहते हैं। इनका रंग काला और खूब चमकीला होता है शरीर पर जहा-तहा बादामी चित्तिया सौन्दर्य-वृद्धि करती हैं। फूल का रस इन्हें अतिशय प्रिय है—महुए के फूलों का खासतौर पर।

५ अबलखा मैना अबलख रंग, शरीर काला, गाल श्वेत, चोंच नारंगी रंग की। पैर और दुम पर सफेदी, चोंच का निरा भी सफेद। कद किलनहिया के बराबर, नर और मादा में कोई अन्तर नहीं।

अन्य मैनाओं में तथा इसमें एक जबर्दस्त फर्क यह है कि यह उनकी तरह घर में या सूरखों में घोंसले न बनाकर पेड़ों पर बनाती हैं। फूलों का रस, तय वृक्षों के फल भी इसे उतने ही प्यारे हैं जितने कि कीड़े-मकाँड़े। यह भी झुड़ों में रहने वाली मैना है। वर्षाकाल में वृक्षों पर एक साथ इनके दर्जनों घोंसले आपको नजर आयेंगे। एक साथ रहने के कारण ये निर्भीक-सी रहती हैं।

६ पहाड़ी मैना . यही वह मैना है जिसे हम यथार्थरूप से वनवासिनी कहें





सकते हैं क्योंकि यह गावों और शहरों में न रहकर जंगलों में—वृक्षों पर रहती है । फल ही इसका आहार है । देशी मैना की तरह जमीन पर फुदक-फुदक कर चलना इसे नहीं आता । दुम और ढँने तथा चोंच और पैर भी छोटे पर काफी मजबूत होते हैं । इसके पंरों का रंग काला होता है । किन्हीं-किन्हीं पर सफेदी भी होती है । चोंच नारंगी, आँखें काली, पैर और सिर की त्वचा पीले रंग की होती है । नाक पर के बाल खड़े होते हैं । पहाड़ी या जंगली मैना को एक उपजाति है जिसमें एक विचित्रता यह है कि जहाँ बर्मा तथा उत्तर भारत में पाई जाने वाली इस मैना की आँखें चमकदार पीली होती हैं, वहाँ दक्षिण भारत में प्राप्य मैना की आँखें कान्तिहीन नीली होती हैं । दरअसल मैना जाति-मात्र में ही यह देखा गया है कि एक ही किस्म या जाति की मैनाया में जहाँ तक आँख का सम्बन्ध है, अनेक वर्ण-भेद पाये जाते हैं ।

पहाड़ी मैना को फूलों के रस-पान का उतना ही शौक है जितना कि फुलचुही और शकरखोरा को । अतः पराग-संक्रमण में यह भी काफी सहायक होती है । पहाड़ी मैना पहाड़ों पर तो पाई जाती है, बर्मा, ताइलैंड, मलय तथा मध्य प्रदेश के कुछ हिस्सों आदि में भी यह प्राप्य है । यही वह मैना है जिसे अपनी सुमधुर बोली के लिए पिंजड़ी में बन्द होना पड़ता है । अमीर खुसरो की इन पक्तियों में शायद इसी की ओर इशारा है—

आठ पहर मेरे ढिग रहे,  
मोठी प्यारी वाते कहे ।  
स्याम घरन औ राते नंना,  
ऐं सखि, साजन ? ना सखि, मैना ।

गिरोह बाधकर उठते समय यह पंरों से वैसी ही आवाज करती है जैसी कि हारिल ।

७ पवई मैना . इसका वदन गहरे वादामी रंग का होता है । ढँनों का कुछ हिस्सा काला होता है और दुम के नीचे का हिस्सा सफेद । माय का रंग काला होता है । ऊपर एक काली चाटी भी होती है ।

इसकी आँख की पुतली में हरापन लिए हुए सफेदी होती है । चोंच का अग्रभाग पीला, बीच का हरा और जड़ नीली रहता है । पैर चटक पीले रंग के होते हैं ।

इसके अंडा देने का समय मई से अगस्त तक है । तर-कोटर अथवा मकान की सूराखों में यह घोंसला बनाकर अंडे देती है ।

पवई का गला सुराला होता है—गाने में यह प्रवीण है, और इसीलिए बहुधा इसे भी पिंजरबद्ध होना पड़ता है ।

साधारण मैना की भाँति यह भी सर्वभक्षी है तथा गिरोह बनाकर दरस्तों पर खूब शोर भी मचाती है । घर के आगन की अपेक्षा खेत और पगडडियाँ इसे ज्यादा पसन्द हैं । कद में सबसे छोटी है । नर और मादा इसको एक-सा ही होती हैं । औरों की अपेक्षा इसकी दुम अधिक लम्बी है । इस जाति की मैना को बंगाल में 'मुगेर पवई' के नाम से पुकारते हैं । सम्भव है, किसी जमाने में इसके पूर्वज मुगेर (विहार के एक जिले) से ही बंगाल को गये हों ।



कलकत्ते में 'अडमन पवई' नाम की भी एक मैना बिकती हुई नजर आती है जिसका रंग सफेद होता है । पीठ पर हल्का भूरापन तथा चोच काली होती है । कद में और पवइयो से यह कुछ बड़ी होती है । गला सुरीला होता है ।

मैना पक्षी की ये खास उपजातिया है । इनके अलावा भी और कई किस्में हैं, पर इस देश में अधिकांशत पायी जाने वाली किस्में यही हैं ।

पिछले दिनों एक रेलवे स्टेशन के प्लैटफार्म पर यात्रियों की भीड़ की कतई परवाह न कर, दाना चुगते हुए, मुझे चार ऐसे मैना दीख पड़े जो ऊपर जिन उपजातियों का उल्लेख है, उनसे बिल्कुल भिन्न थे । यही नहीं, शोखी में भी औरो से कहीं बड़े-चड़े मालूम पड़ते थे । इसी तरह मैना की और भी कई किस्में हैं जिन्हें श्रेणी-बद्ध करना कठिन है ।

मैना की बहुत कुछ आदतें कौए से मिलती हैं, पर इसका दिल कौए-जैसा काला नहीं होता—महाकवि शेक्सपियर के शब्दों में—

I am not black in my heart, though yellow in my legs!

‘मैं दिल से काली नहीं

पाँव मेरे भले ही पीले हों ।’

—यह सही तौर पर कह सकती है ।



## कस्तूरा

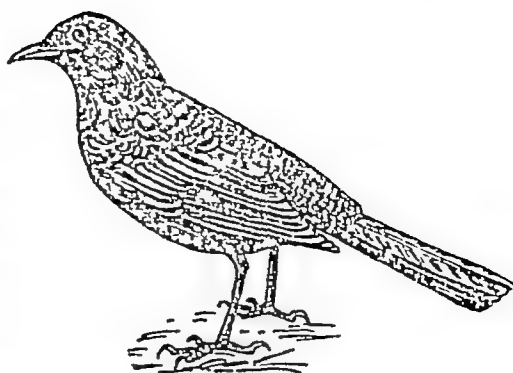
कस्तूरा उस जाति की एक चिड़िया है जिसे गर्मी बिल्कुल पसन्द नहीं है और शायद इसीलिये ग्रीष्म ऋतु में यह पहाड़ों से नीचे उतरती नहीं, बल्कि आठ-दस हजार फुट की ऊँचाई पर ही अधिकतर रहती है । जाड़ों में यह पहाड़ों से उतर कर हमारे देश में आती है तथा अपने सुरीले गले से हमें आनन्द प्रदान करती है । पहाड़ी नदियों के किनारे विचरती हुई यह कीड़े-मकोड़े तथा घोघे इत्यादि छोटे जीव-जन्तुओं से अपना पेट भरती रहती है । घोंसला भी नदी, झील या झरनों के अड़ोस-पड़ोस में बनाती है ।

इसके गाने का समय उषा-काल है । जब हम विस्तर पर अर्ध-निद्रावस्था में पड़े रहते हैं, धीरे-धीरे तम का जाल फटता है तथा उसके भीतर से उषा-काल का झिल-मिल प्रकाश झाकने लगता है, ऋषि गण निद्रा त्याग कर कुटी से बाहर निकलते और कहते हैं—

‘वन्दे देवीं जगद्वन्ध्यां, उपमपि वन्दे भगवतीम्’

हे ससार की वन्दनीया देवि उषे, भगवति ! मैं तेरी वन्दना करता हूँ ।—तो उसी ज्योति की वर्षा के पवित्र समय में कस्तूरा भी सरिता-तट के किसी वृक्ष की डाल से अपने सुमधुर स्वर में गा उठती है । और उसकी ध्वनि उस शान्त वातावरण में दूर-दूर तक पर्वतों के बीच गूँज उठती है । तभी हम समझ जाते हैं कि अब सूर्योदय होने में विलम्ब नहीं है ।

कद में यह एक फुट से बड़ी होती है, वनावट में सुघड़। रंग इसका नीला-ग्रायलेट के फूल की तरह का होता है। रंग में चमक होती है। चोच पीली तथा पैर काले होते हैं। नर और मादा में कोई अन्तर नहीं होता। दक्षिण भारत में एक छोटे कद की कस्तूरा भी पाई जाती है जिसकी चोच पीली नहीं, काली होती है।



एक और पक्षी है जिसके वदन का रंग काला होता है, चोच नारंगी लाल तथा पांव नारंगी कत्यई वर्ण के होते हैं। इसे भी कस्तूरा की ही एक किस्म मानते हैं। पर इसमें मतान्तर है। यह हिमालय से लेकर मणिपुर तक में पाई जाती है। इसकी आवाज भी बड़ी सुरीली है।

कस्तूरा की यह खास आदत है कि वह बारम्बार अपनी पूछ को फैलाती रहती है।

पता नहीं इस जाति की चिड़ियों का नाम कस्तूरा क्यों पड़ा। क्या पर्वत पर विचरने वाले कृष्णसार की नाभि से टपकती हुई कस्तूरी का भक्षण करने के कारण ?



## शकरखोरा

ओ मधु चाखन-हार, विहग !  
 घचल-चित्त मधुर अति वाणी  
 सुघड़ सलोना अंग ।  
 किन परियो का, कौन देश से  
 आए तजकर सग ?  
 किस पुष्पा के आकर्षण में,  
 लाया खींच अनंग ?  
 ओ मधु चाखन-हार, विहग !

उस छोटे से पक्षी को देखकर, जो हमारी पुष्प वाटिका में फूल वेलो के मधुर अधरो का अपनी चोच से पान करता हुआ अक्सर विचरता रहता है, ये प्रश्न मन में आप से आप उठते हैं। यही है वह शकरखोरा जो फूल के रस से ही अपनी वासना तृप्त करता है—और शायद उदरपूर्ति भी। जिस तरह बसन्त काल में भौंरे फूलों पर मडराते रहते हैं उसी भाँति शकरखोरे भी।



कद में यह बड़े भौरे से थोड़ा ही बड़ा होता है। रंग-भेद से इसकी कई किस्में हैं पर दो मुख्य हैं जो इस देश में पाई जाती हैं—एक वह जिसका रंग हल्का बैंगनी होता है, दूसरी गाढ़े बैंगनी रंग की। पर इसके बैंगनी रंग में कुछ ऐसा चमकीलापन है कि प्रकाश-भेद से इसके कई रंग मालूम पड़ते रहते हैं, जैसे कि छाह में काला, धूप में कभी हरा

कभी नीला। ऋतु के अनुसार भी इसके रंग में फर्क आता रहता है।

नर का रंग वसन्त काल में अधिक चित्ताकर्षक रहता है, सन्तानोत्पत्ति के बाद जाड़ो में बदल कर मादा जैसा हो जाता है, खूबसूरती कम हो जाती है। वसन्त से लेकर वर्षा काल तक इसे मादा को आकर्षित करने, फूल-बाला का दिल लभाने की आवश्यकता रहती है, शायद इसीलिए यह ज्यादा भडकीली पोशाक पहने रहता है। फिर जब जोड़ा बाध लेता है, घर में बाल-बच्चे हो जाते हैं, तो सादगी अपना लेता है।

इसकी चोच लम्बी और नकीली होती है, किंचित मुड़ी हुई-सी। इसके द्वारा घड़ फूलों में छेद करके रस-पान किया करता है। यह मधुपायी भी है और मधुभाषी भी। इसकी बोली कानो को बड़ी प्यारी लगती है।

फूलों में रस आया नहीं कि शकरखोरे आ पहुँचे। वसन्त के आते ही जब सेमल वृक्ष पर पुष्प-मधू के प्याले ढलने लगते हैं तो वहाँ मधुपायी पक्षियों का मेला-सा लग जाता है। ऐसे स्वर्ण सयोग को शकरखोरे कब छोड़ने वाले हैं? वे सबसे पहले वहाँ आ जाते हैं और मन्घ्याकाल तक मधू मदिरा के प्याले ढालते रहते हैं, जी भर पीते हैं, फिर भी नहीं अघाते, सुबह होते ही दूसरे दिन पुन वहाँ आ पहुँचते हैं। हफ्तो तक उनका यह सिलसिला जारी रहता है। सेमल का यह वृक्ष ही मानो उनका मदिरालय है।

मधूमक्खियो की तरह शकरखोरे भी फूल का पराग स्त्री-केशर तक पहुँचाते रहते हैं और इस प्रकार नए फूल और बीज की सृष्टि में सहायक होकर वन-विस्तार के कारण बनते हैं। यह इनकी सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता है।

शकरखोरे की यह खास आदत है कि यह उड़ता हुआ भी फूलों का रस पी लेता है। मुँह का स्वाद बदलने के लिए जब-तब छोटे-छोटे कीड़ों को भी खाता रहता है।

घोसला यह फरवरी से लेकर अगस्त तक बनाता है। यह घोसला डाल या टहनी से लटकता हुआ तथा मकड़ी के जाल से सुगठित होता है। इसके भीतर नाना प्रकार की वस्तुएँ रखी रहती हैं, यहाँ तक कि स्टाम्प भी पाए गए हैं। स्वभाव से मधुपायी और विलासी होने के कारण इसे मुलायम सेज की जरूरत पड़ ही जाती है, अतएव यह अपने घोसले के भीतर सेमल की रुई भी बिछाए रहता है जिसपर मिया-बीवी उस समय भी आनन्द से सोते हैं जबकि बाहर बादल गरजते होते हैं, बिजली कौंधती है, बूँदें पड़ती रहती हैं।

इसकी मादा प्रजनन-क्रिया में बड़ी सिद्धहस्त है—साल में एक नहीं, तीन-तीन चार-चार बार अंडे देती है। इसके अंडों के प्रबल शत्रु हैं—साप, कोए, गिल-हरिया। फिर भी इनकी सख्या घटती नहीं है और आज भी पुष्प वाटिकाओं में ये दर्जनों की सख्या में विचरते रहते हैं।

शकरखोरा वश की ही एक छोटी सी चिड़िया है फूलचुही जो कद में अत्यधिक छोटी पर चुलबुलाहट में काफी बड़ी-चड़ी है। इसे फूलों से बड़ा प्रेम है। उनका रस तो पीती ही है, छोटे-छोटे फूलों को भी यह अवरो के रास्ते अपने भीतर छुपा रखती है। देखने में इसका ऊपरी हिस्सा, गर्दन से पीठ तक, कजई होता है जिसमें हरे रंग की झलक आती है, नीचे का हिस्सा पीलापन लिए हुए सफेद होता है। दुम और डंने भूरे रंग के होते हैं। चोंच स्लेटी रंग की होती है जिसमें पीलापन रहता है। पैर भी स्लेटी रंग के होते हैं जिनमें पीलेपन की भी झलक आती रहती है।



## फुदकी या दर्जिन

बया यदि अपना घोंसला बुन-बुन कर तैयार करता है तो फुदकी (फुदक फुदक कर चलने से ही यह फुदकी कहलाती है) सी-सी कर। निस्सन्देह यह भी एक कलाविद् पक्षी है। इसकी कारीगरी भी सराहनीय है।

कद में यह गौरों से भी छोटी है, पर उन चिड़ियों में है जो हमारे बाग-बगीचों में, मकान के वरामदे तक में, फुदकती फिरती है। यही नहीं, बोलती भी रहती है और दिन भर बोलती रहती है। ग्रीष्म काल की कड़ी दुपहरी हो या कि जाड़ों की सन्ध्या, इसकी बोली तथा कीड़ों का शिकार वन्द नहीं होता। बोलते-बोलते जब जोश में आती है, तो अपनी दुम ऊँची कर लेती है। इसके ऊपर के हिस्से में पीलापन लिए हुए हरापन होता है, नीचे के हिस्से में सफेदी, सर का ऊपरी हिस्सा वादामी तथा गर्दन में एक काली कठी होती है। इसकी आँखों की पुतलिया सुर्खी मायल पीली, पैर पीलापन लिए हुए भूरे होते हैं। चोंच नुकीली होती है (चित्र सख्या - १७)।

अब देखिए, घोंसला यह किस कारीगरी से बनाती है। पहले मकड़ी का जाल, सेमल की रई आदि इकट्ठा कर के उसका तागा तैयार करती है, फिर पेड़ की कुछ पत्तियों में चोंच से छेद कर डालती है और तब चोंच के सहारे उपर्युक्त तागे से इन पत्तियों को सी देती है। वस, एक सुन्दर सा गोलाकार घोंसला सी-सा कर तैयार हो जाता है और यह आनन्द के साथ उसमें बैठकर भई, जून, जुलाई के महीनों में २, ३, ४ अंडे तक दे डालती है। पता नहीं, किस नारी-शिल्प-कला-भवन में शिक्षा प्राप्त करके इसने ऐसा सुन्दर घोंसला बनाना सीखा है (चित्र सख्या ३५)।

इसके घोंसले अधिकतर आम या अमरुद के वृक्षों पर बने होते हैं। कभी कभी जमीन से कुछ ही दूर पर, बैंगन आदि के पौधे पर भी बनते हैं। घोंसले का मुह ऊपर, नीचे अथवा बगल में, कहीं भी होता है। घोंसला नर नहीं, मादा बनाती है।

जोड़ा बाधने के दिनों में नर की दुम के बिचले दोनों परो की लम्बाई बढ़ जाती है, बाद में पुन ये पर छोटे हो जाते हैं।

बगल में इसे 'टुनटुनी' के नाम से पुकारते हैं। इस देश के हर प्रात में यह पायी जाती है।



## बया

यजुर्वेद, अध्याय २४ का २४वा मन्त्र है—'सोमाय लवानालभते त्वष्ट्रे कौलीकान्', अर्थात् सौम्यभाव के लिए 'लवा' नाम के पक्षी को देखे, कारीगरी के लिए बया को। और इसमें शक नहीं, कि बया की नीड़-निर्माण-कला को देखकर हम चकित रह जाते हैं। छोटी सी चिड़िया और उसमें इतना कला-नैपुण्य।

बया अपने घोंसले को जुलाहे की तरह ताना-बाना देकर, बुन-बुन कर बनाती है और इसीलिए अंग्रेजी में इसे जुलाहा पक्षी के नाम से पुकारते हैं। देखने में यह ७७ प्रतिशत गौरेये की तरह की होती है और हम इसे देखे या न देखें, पहचानें या न पहचानें, पर इसके घोंसले को पहचानने में हमें देर नहीं लगती। गाव के बाहर, खेतों में खड़े हुए ताड़ के लम्बे दरख्तों पर या किसी जलाशय के करीब बबूल के वृक्षों पर यदि आपको दर्जनो तूम्बों की शकल-सूरत और आकार के घोंसले नजर आए तो समझ लीजिए कि यही उसके घोंसले हैं जिन्हें वह बड़ी मेहनत के साथ अप्रैल-मई के समाप्त होते ही बनाने में सलग्न हो जाती है। घोंसले को देखने से ही पता चलेगा कि इस छोटी सी चिड़िया में कितना हुनर है (चित्र सख्या ३६)। पता नहीं 'हुनर ब हुनर मन्दाने अवध' नामक पुस्तक के लेखक ने अपने ग्रन्थ में अवधी बया के इस हुनर का कहीं जिक्र किया है या नहीं।

बया के घोंसले ताड़ के पत्ते की नोक से अथवा बबूल की ऊँची डाल से बंधे हुए लटकते रहते हैं और इस पर बैठा हुआ यह पक्षी कभी तो घरती की ओर और कभी आकाश को देखता है और नीचे की हरियाली तथा आकाश के उमड़ते हुए काले-काले मेघों को देखकर आनन्दोल्लास में गाता है। इसके घोंसले बनाने की विधि इस प्रकार है—

सबसे पहले बया अपनी चोंच से सरपत, केला, कास आदि की सींको को चीरती है, इनके कई टुकड़े करती है और फिर इन टुकड़ों के रेशों को ताड़ के पत्ते या बबूल की टहनी के सिरे से जोड़ देती है। डोर की लम्बाई पांच से बारह इन्च तक की होती है। इसी डोर से नीचे की ओर लटकता हुआ इसका घोंसला होता है। यह नीचे की ओर गोल और ऊपर पतला होता है। इसका प्रवेश द्वार नीचे की तरफ होता है। घोंसले के दो भाग होते हैं—एक वह, जिससे होकर बया बाहर से प्रवेश

करती है, दूसरा वह ज़िममें किंचित ऊपर जाकर वह फिर नीचे की ओर उतरती है । गरज यह कि घोंसले में एक तो कोठरी होती है जिसमें मादा अण्डे देती है, और दूसरी सुरंग होती है । इसकी वनावट ऐसी होती है कि कोई भी दूसरा पक्षी आसानी से प्रवेश नहीं कर सकता है, पर वया, जो कि इसकी रूपरेखा से पूर्णतः परिचित रहती है, उड़ती हुई भीतर प्रवेश कर जाती है । घोंसला हल्का होने की वजह से हवा में झूलता रहता है । इसका हल्कापन कम करने के उद्देश्य से, ताकि यह जोरो में न झूल कर मन्द-मन्द झूलता रहे, वया मिट्टी लाकर प्रसव-ग्रह में डाल देती है । पेड़ों पर उड़ते हुए जुगुन कभी-कभी आप-से-आप इसमें आ घुसते हैं और रात्रि में गृह को प्रकाशित करते रहते हैं, और घर के लघु प्रदोष से लगते हैं ।

वर्षाकाल के आरम्भ होते ही वया घोंसला बनाना शुरू कर देती है । एक ही वृक्ष पर एक-साथ अनेको बनाती है । सबसे पहले नर घोंसला बनाने के काम में लगता है । वह अकेले घर का बाहरी ढाँचा तैयार कर लेता है । तब मादा उपस्थित होती है और अन्दर जाकर गौर से घोंसले का निरीक्षण करती है । नर उत्सुकतापूर्वक उसके निर्णय की प्रतीक्षा करता है । मादा को यदि घोंसला पसन्द आ गया तो वह उसके प्रणय-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है, और गृह-निर्माण में हाथ बटाने लगती है, वह भीतर बैठी हुई अपनी रुचि के अनुसार नीड़ का भीतरी हिस्सा सरपट आदि के तारों से बुन-बुन कर तैयार करती है । दोनों के संयुक्त परिश्रम से जब वह पूरी तरह तैयार हो जाता है तो वे जोड़ा बाँधते हैं । मादा अंडे देती है, जिनकी संख्या दो से चार तक हुआ करती है, और उन्हें सेने में सलग्न हो जाती है ।

इधर नर दूसरा घोंसला बनाने में लग जाता है और इससे आकर्षित होकर जब कोई दूसरी मादा आकर उपस्थित होती है और उसका प्रणय-प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है तो वह उसके सग भी दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । इस तरह वह प्रजनन-ऋतु में आठ-आठ दस-दस मादाओं के सग जोड़ा बाँधता है । आम तौर पर नर वया में ही बहुपत्नीत्व प्रवृत्ति पाई जाती है, पर कहीं कहीं मादा में भी बहुपत्नीत्व प्रवृत्ति पाई गई है । नर को अपने हाव-भावों से रिझाने की भी । वया में नरों की संख्या अधिक है, मादा की कम । अतएव अक्सर चार-चार छ-छ नर एक मादा की रिझाने की चेष्टा में सलग्न पाए जाते हैं ।

बहुधा ऐसा भी होता है कि वया नया घोंसला न बनाकर अंडा देने का समय आते-आते पुराने की ही फिर से मरम्मत कर लेती है और उसे फिर से आबाद करती है । जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वया के घोंसले बड़ी निपुणता से बने होते हैं, ऐसे कि इनके भीतर आधी-सूफान तक का कोई असर नहीं पहुँचता, अतएव ये कई वर्षों तक आसानी से टिकते हैं ।

अपने पुराने घोंसले को प्रसव-काल आने के पूर्व फिर से आबाद करने की प्रवृत्ति में वे बुलबुलों में भी पाई है । मैं जिस कमरे में बैठा हुआ इन पक्षियों को लिख रहा हूँ उसके वरामदे में गत कई वर्षों से बुलबुलों ने एक घोंसला बना रक्खा है जिसमें वर्षाकाल आते ही नर और मादा आ पहुँचते हैं तथा अंडे देकर बच्चों का पालन-पोषण करते हैं । फिर बच्चों के पंख होते ही उन्हें साथ लेकर

## भारत के पक्षी

वे किसी दूर देश को चल देते हैं । फिर ये वर्ष भर नज़र नहीं आते, घोंसला शून्य पड़ा रहता है । प्रजननकाल के आते ही वे पुनः इसमें आ पहुँचते हैं । कई वर्षों से यह सिलसिला चल रहा है ।

बया एक दूसरे प्रकार का घोंसला भी बनाती है जो झूला जैसा होता है । इसमें अंडा देने का कोई प्रबन्ध नहीं रहता, अन्दर बैठकर वह केवल झूला झूलती है और कहा क्या हो रहा है, इसे देखती रहती है । इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो 'कबीर' की इस उक्ति को वह चरितार्थ कर रही हो—

राम झरोखा बैठि कै, सब का मुजरा लेय,  
जैसी जाकी चाकरी वैंसो बाकी वेय ।

बया कभी अकेले घोंसला नहीं बनाती, झुड़-के-झुड़ एक साथ, एक ही वृक्ष पर बनाती है और इसमें शक नहीं कि यह प्रकृति से ही बुनने वाला एक जुलाहा-पक्षी है । यदि आप उसे पिंजड़े में रखें और कुछ घास-फूस के टुकड़े दे दें तो वह वही घोंसला बुनना शुरू कर देती है और तराने भी लगाती है, मानो कबीरदास के शब्दों में कहती हो—

झीनी झीनी झीनी चवरिया ।

नर और मादा दोनों आकार-प्रकार में गौरये की तरह के होते हैं । पर नर में एक विलक्षणता है । वर्षाकाल के आते ही जब उसे मादा को अपनी ओर आकर्षित करना होता है—उसका रंग बदल जाता है । आख से लेकर सीने के ऊपर तक का भाग स्याही लिए हुए गहरा भूरा हो जाता है, शीर्ष-भाग और वक्षस्थल पीले हो जाते हैं, पेट में सफेदी आ जाती है, ठोड़ी स्याह सी दीखने लगती है । चोंच इसकी खूब मोटी होती है, वह वैसी ही रहती है ।

बया की ही एक जाति है जो इस देश में मारिशस द्वीप से आकर कलकत्ते के बाजारों में बिका करती है । इसे मैडागास्कर का बया कहते हैं । जोड़ा बाधने के समय इसका प्रायः समूचा बदन गहरा लाल हो जाता है, डंठे तथा डुम में कथईपन रह जाता है । चेहरे के दोनों ओर काली धारिया भी होती है ।

जोड़ा बाध लेने के बाद इनका रंग फिर पहले जैसा हो जाता है—गौरये जैसा, छोटी काली और सफेद धारियों से युक्त कथई भूरा । बया के मुँह का आकार सुन्दर नहीं होता तथा मुँह पर एक प्रकार की उदासी-सी छाई रहती है, अतएव उदास मुँह वालों के लिए 'मुँह चोचा सा' एक कहावत बन गई है (चोचा बया का ही एक नाम है) ।

बया की बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण होती है । पाली हुई बया तरह तरह के खेल सीख लेती है, जैसे कि पानी भरना, बन्दूक चलाना, मालिक के मुँह से दाने ले आना, इत्यादि ।

मालिक को यह अच्छी तरह पहचानती भी है । फ्रैंकलिन नामक एक अंग्रेज पक्षी-प्रेमी ने लिखा है कि उन्होंने कई बया पक्षी पाल रखे थे । एक बार इनमें से दो उड़ कर कहीं चली गईं और डेढ़ दिनों तक गायब रही । दूसरे दिन जब घर के पास की ही सड़क से वह गज़र रहे थे, दोनों पक्षियों को उन्होंने सर के ऊपर







उठते पाया । बुलाते ही वे उनके पास आ गयी और मिस्टर फ्रैंकलिन बड़ी आसानी के साथ उन्हें पकड़ कर अपने घर लेते आए ।

वया की भी कई किस्में हैं । इनके रंग में भिन्नता है, पर इनकी आदतें एक जैसी ही हैं । इनमें एक प्रकार की वया होती है जिसकी चोच बहुत बड़ी होती है । कद भी छोटी मैना के समान, औरो से काफी बड़ा होता है । यह अधिकतर हिमालय की तराइयो में पाई जाती है । कलकत्ते के आस-पास भी देखी गई है ।

स्वभावतः वया शोर मचाने वाला पक्षी है । जब कभी इनकी सख्या दो-तीन से अधिक हुई, शोर मचना शुरू हुआ, लड़ाई-झगड़े छिड़ गए । फिर तो वहा रहना मुश्किल हो जाता है । खास कर जब ये घोंसले दरस्तो पर न बनाकर किसी उद्यान-भवन के बरामदों में आकर बचा लेती है और झगड़ने लगती है तो वहा रहना मुश्किल हो जाता है । कलह से इस पक्षी को स्वभावतः बड़ी मोहव्वत है ।

पक्षियों में वया अपने घोंसले के लिए मशहूर है और इसमें शक नहीं कि इसके निर्माण में वह जिम् कुशलता का, जिस कारीगरी का, जिस दुनर का परिचय देती है, वह प्रशंसनीय तो है ही, विस्मयोत्पादक भी है । तभी तो अमीर खुसरो इसकी कारी-गरी देखकर दग रह गए थे और आश्चर्य के साथ बोल उठे थे—

अचरज बंगला एक बनाया

ऊपर नींव, तले पर छाया ।

और तुरा यह कि 'ऊपर नींव, तले पर छाया' होने पर भी यह 'वगला' ऐसा मजबूत होता है कि बड़े-बड़े तूफान भी इसे नुकसान नहीं पहुंचा सकते । इसके अद्भुत कला-कौशल का नमूना है यह घोंसला ।



## वसंता

ग्रीष्म काल की दोपहरी में जब सारा ससार छांह डूढ़ता फिरता है, सूर्य के ताप में ऐसा लगता है मानो सारी पृथ्वी जलकर भस्म हो जायेगी, पक्षु-पक्षी तक शांत भाव से किसी घनी छाया में दिन बिताते रहते हैं, चारों ओर सन्नाटा छा जाता है, कही किसी की आवाज तक सुनाई नहीं पड़ती, बिहारों के शब्दों में जब,—

फहलाने एकत वसंत, अहि-मयूर, मृग-वाघ,

जगत जगत तपोवन सों कियौ वीरघ दाघ निदाघ ।

और जब बेनी कवि के शब्दों में—

तवा सो तपत घरा मंडल अलडल औ

मारतड मडल दवा' सो होत भोर तैं ।

वैसे समय में भी किसी चरगद, पीपल या जाम के पेड़ पर एक पक्षी कुटुर-कुटुर सा कुछ करता रहता है । जगती सून-सान नी, शान्त पड़ी हुई है, पर यह अपनी धुन में अनवरत रूप से लगा हुआ है ।



उठते पाया । बुलाते ही वे उनके पास आ गयी और मिस्टर फ्रैंकलिन बड़ी आसानी के साथ उम्हे पकड़ कर अपने घर लेते आए ।

बया की भी कई किस्में हैं । इनके रंग में भिन्नता है, पर इनकी आदतें एक जैसी ही हैं । इनमें एक प्रकार की बया होती है जिसकी चोच बहुत बड़ी होती है । कद भी छोटी मैना के समान, औरो से काफी बड़ा होता है । यह अधिकतर हिमालय की तराइयो में पाई जाती है । कलकत्ते के आस-पास भी देखी गई है ।

स्वभावतः बया शोर मचाने वाला पक्षी है । जब कभी इनकी सस्या दो-तीन से अधिक हुई, शोर मचना शुरू हुआ, लड़ाई-झगड़े छिड़ गए । फिर तो बहा रहना मुश्किल हो जाता है । खास कर जब ये घोंसले दरख्तों पर न बनाकर किसी उद्यान-भवन के बरामदों में आकर बसा लेती हैं और झगड़ने लगती हैं तो बहा रहना मुश्किल हो जाता है । कलह से इस पक्षी को स्वभावतः बड़ी मोहब्बत है ।

पक्षियों में बया अपने घोंसले के लिए मशहूर हैं और इसमें शक नहीं कि इसके निर्माण में वह जिस कुशलता का, जिस कारीगरी का, जिस हुनर का परिचय देती है, वह प्रशंसनीय तो है ही, विस्मयोत्पादक भी है । तभी तो अमीर खुसरो इसकी कारीगरी देखकर दंग रह गए थे और आश्चर्य के साथ बोल उठे थे—

अचरज बंगला एक बनाया

ऊपर नींव, तले पर छाया ।

और तुरा यह कि 'ऊपर नींव, तले पर छाया' होने पर भी यह 'बगला' ऐसा मजबूत होता है कि बड़े-बड़े तूफान भी इसे नुकसान नहीं पहुंचा सकते । इसके अद्भुत फला-फौल का नमूना है यह घोंसला ।



## वसन्ता

ग्रीष्म काल की दोपहरी में जब सारा ससार छांह ढूँढ़ता फिरता है, सूर्य के ताप से ऐसा लगता है मानो सारी पृथ्वी जलकर भस्म हो जायेगी, पशु-पक्षी तक शांत भाव से किसी घनी छाया में दिन बिताते रहते हैं, चारों ओर सन्नाटा छा जाता है, कहीं किसी की आवाज तक सुनाई नहीं पड़ती, विहारी के शब्दों में जब,—

फहलाने एकत वसत, अहि-मयूर, मृग-बाघ,

जगत जगत तपोवन सों किमौ दीरघ दाघ निदाघ ।

और जब वेनी कवि के शब्दों में—

तवा सो तपत घरा मडल अण्डल औ

मारतड मडल दवा<sup>१</sup> सो होत भोर तें ।

वैसे समय में भी किसी बरगद, पीपल या आम के पेड़ पर एक पक्षी कुटुर-कुटुर सा कुछ करता रहता है । जगती सून-सान नी, शान्त पड़ी हुई है, पर यह अपनी धुन में अनवरत रूप से लगा हुआ है ।

यही पक्षी है वह बसता (चित्र सख्या ३७) जिसके सम्बन्ध में ये पक्तियाँ लिखी जा रही हैं। इस देश में यह कई नामों से पुकारा जाता है, जैसे कि पुदरूप, कुतुरका आदि। देखने में इसके नर और मादा का रूप-रंग एक जैसा ही होता है—लम्बाई दस इंच की, आकार मैना जैसा, बदन का ऊपरी हिस्सा हरे रंग का, दुम भी, जिसके ऊपर पतली पीली लकीरें पड़ी होती हैं। गर्दन, सिर, सीना और डैने भूरे रंग के, सिर के पास कुछ पीलापन भी, चोच मोटी और प्याजी तथा पैर हल्के बादामी रंग के होते हैं। यह बड़ा बसन्ता है।

छोटे बसन्ते का कद गौरैया जैसा होता है। डैने, पूछ और शरीर के परो का रंग पीलापन लिए हरा, ललाट तथा गर्दन का रंग लाल होता है। ठोड़ी, गले और आँखों के समीप पीलापन, चोच काली, पैर इसके लाल होते हैं। पैर की अंगुलिया दो आगे की ओर, दो पीछे की ओर होती हैं।

बसन्ते गमियों में तो खूब बोलते हैं, दिन भर बोलते रहते हैं, पर जाड़ों में मौन हो जाते हैं। पुन वसन्त के आते ही बोलना शुरू कर देते हैं। वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं में इनकी आवाज़ अधिक बुलन्द रहती है, बरसात आते ही मन्द पड़ने लगती है और जाड़ों में तो बिल्कुल ही क्षीण, शक्ति हीन, हो जाती है। अतएव ये बोलना बन्द कर देते हैं।

‘शरद, शिशिर, हेमन्त मो, भये बसन्ता मौन।’

कहावत प्रसिद्ध है।

जाड़ों में मानो ये मौन व्रत धारण कर लेते हैं। बाकी दिनों में बसन्ता (छोटा) अविच्छिन्न रूप में टग-टग, टग-टग करता रहता है, मानो हथौड़े से तावे को पीट रहा हो। अपने इस शब्द के कारण ही अंग्रेजी भाषा में इसने ‘कापरस्मिथ’ (ठठेरा) नाम प्राप्त किया है। ग्रीष्म काल की दुपहरी में भी जब लो। विश्राम करते रहते हैं, यह पक्षी-श्रमिक अपने काम में जुटा रहता है।

कीड़े खाकर भी ये दोनों—बड़े और छोटे बसन्ते—वस्तुतः फलाहारी पक्षी हैं। अधिकांशतः बट, पीपल आदि के फलों पर ये जीवन-निर्वाह करते हैं। मौका मिलने पर हमारे बाग-बगीचों के फलों को भी चट कर जाते हैं।

कठफोड़े की तरह बसन्ता भी अपनी चोच से काठ में सूराख कर डालता है पर जरूरत पड़ने पर ही, उसकी तरह अनावश्यक ढग पर जहा-तहा काठों में छेद नहीं करता फिरता। हा, अंडा देने का समय—अप्रैल, मई, जून—आने पर पेड़ की डाल में सूराख अवश्य करता है और उसी में सुरंग के पीछे एक कमरा बनाता है, जिसमें मादा अंडे देती है जिनका रंग सफेद होता है। सख्या में ये तीन या चार होते हैं। बड़े और छोटे दोनों ही बसन्तों के अंडा देने का यही नियम है।

पेड़ में सूराख करके जो घोंसला बनाया जाता है वह कभी-कभी बरसों तक इनका आवास-स्थान बना रहता है। अंडे दिए, बच्चे हुए, बच्चे बड़े होकर चले गए, फिर भी बसन्ता-दम्पति उसी में निवास करते हैं, आनन्द के साथ, चैन की नींद सोते रहते हैं।

इनका नाम बसन्ता क्यों पड़ा, यह कहना बड़ा मुश्किल है। तर्क-शास्त्र के

पण्डित कहेंगे कि व्यक्ति वाचक सज्ञा किसी वस्तु के विशेष गुण को प्रकट नहीं करती, पर क्या यह सम्भव नहीं कि वसन्त के आने पर ही इनकी जवान में ताकत आने तथा वसन्ती रंग होने के कारण इनका नाम वसन्ता पड़ा ?

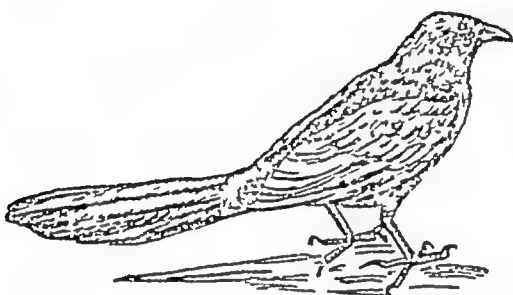


## महोख

सुबह होते ही वस्तियों में जैसे मुर्गे बोलते हैं वैसे ही बाग-बगीचे-वसवाड़ी, अमराइयो में महोख बोलना शुरू कर देते हैं, मानो सोने वाली को जगाते हुए कहते हो—

जागो, जागो हुआ सवेरा  
त्यागो सेज, बिहग वसेरा ।

पहले एक महोख बोलता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा, और इस तरह भिन्न भिन्न वृक्षों से कई महोख बोल उठते हैं । तभी हम समझ जाते हैं कि अब सवेरा हो गया, व्योमाचल में मार्तण्ड का स्वर्ण-रय उतरने ही वाला है ।



महोख लम्बी दुमवाला एक पक्षी है जिसके डंने गहरे खैरे रंग के होते हैं, शरीर का रंग

काला होता है, चोच काली तथा टेढ़ी होती है, आखें लाल तथा पैर काले होते हैं ।

जून में सितम्बर तक इसके अंडा देने का वक्त है । पोंसला यह झाड़ियों में अथवा वृक्ष पर बनाता है । घोंसला बड़ा होता है—गुम्बज की आकृति का । फिर भी मादा को पूछ अंडा सेते समय बाहर ही निकली रहती है । नर मादा को पूछ फैला कर, नाच-नाच कर रिझाता है, फिर जोड़ा बाधता है ।

बोलते समय ऐसा प्रतीत होता है कि हुट-हुट या कोक-कोक कह रहा हो । पेड़ पर गिलहरियों की तरह चढ़कर शिकार ढूँढता रहता है, कीड़े-मकोड़े खाता है, कभी-कभी छिपकली, छोटे साप आदि भी भक्षण करता है ।

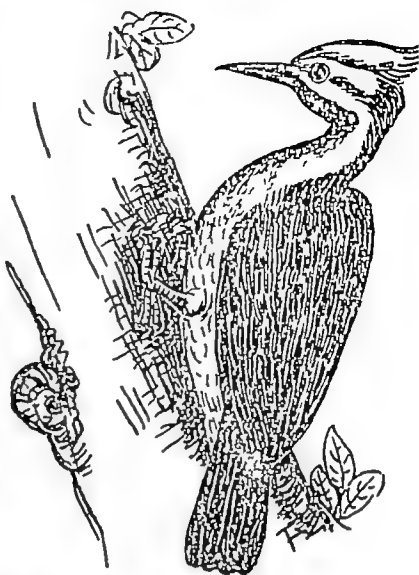
शायद प्रभात बेला के, जबकि भक्त अपनी निद्रा छोड़ कर भगवद्-भजन में लगते हैं, आगमन की सूचना देने वाला होने के कारण ही सन्त-महात्माओं का ध्यान यह अपनी ओर आकर्षित करता रहा है तुलसीदास की अमरवाणी तक में इनने स्थान पाया है—

फूजत पिक मानहु गज माते,  
ढेंक महोख ऊँड विसरारते ।



# कठफोड़वा

अपने मकान के ऊपर रेडियो के तार वाले ऊँचे वास पर आपने अक्सर एक पक्षी को देखा होगा जो बे-जल्द उस पर ठोकर देता रहता है, मानो उसे तोड़ कर उसके दो हिस्से करने की कोशिश कर रहा हो। पर उसका ऐसा कोई उद्देश्य नहीं, केवल अपनी आदत से वह लाचार है और कहा भी है, 'यथा नाम तथा गुण' कठफोड़वा होकर यह काठ न फोड़े, यह कैसे हो सकता है? काठ को देखा नहीं कि इसकी प्रवृत्ति उसे फोड़ने की होती है, और इसलिए यह पेड़ों पर बिना आवश्यकता के छेद करता फिरता है। यही नहीं, पेड़ पर छोटे-छोटे कीड़ों की तलाश में दिन भर चक्कर लगाता है और उन्हें प्राप्त कर उनसे अपनी उदर पूर्ति करता है। अधिकतर यह पेड़ों से चिपका रहता है।



कठफोड़वा इस देश के मशहूर पक्षियों में है। घने जंगलों की अपेक्षा बस्ती के आस-पास के वृक्ष इसे ज्यादा पसन्द है जहाँ इसे कीड़े-मकोड़े अधिक संख्या में प्राप्त होते रहते हैं। इसकी भी कई श्रेणियाँ-उपजातियाँ हैं पर हमारे देश में बहुतायत से पाया जाने वाला वह है जिसका आकार ग्यारह इंच के करीब होता है। नर का सिर और चोटी लाल तथा गरदन काली होती है। नेत्र के नीचे से ढँगे तक एक सफेद धारी बनी होती है। पेट और छाती का रंग चितकबरा, दुम और इसके नीचे के हिस्से का रंग काला तथा पीठ का सुनहला होता है। मादा की छाती ज्यादा सफेद होती है।

फरवरी से जुलाई के बीच किसी मोट पेड़ के तन में सूराख करके उसी में मादा अंडे देती है ।

इसकी एक छोटी सी जाति भी है जो कद में गीरैया जैसी होती है— 'कठफोडिया' । इस जाति के पक्षी जब-तब झुंड में चलते हुए भी पाए गए हैं ।

इसके नर का ऊपरी हिस्सा स्लेटी मायल नीला, निचला कल्यई होता है । मादा के नीचे का रंग कल्यई की जगह बादामी होता है (चित्र सख्या १८) । यह स्वयं काठ में छेद न करके वृक्ष के किसी कोटर में अंडे देती है, जिसके मुह को, एक छोटा सूराख छोड़कर, चिकनी मिट्टी से बन्द कर देती है, ताकि कौए जैसे चोरो से उसका घर सुरक्षित बना रहे ।

कठफोडवा जब पेड़ में सूराख करता रहता है, उस पर चोंच से चोट पर चोट देता रहता है, तो इसकी आवाज दूर-दूर तक सुनाई पड़ती है । कार्य-साधन में कई रोज़ लग जाते हैं, पर जब घोंसला तैयार हो जाता है तो देखने में बड़ा सुन्दर लगता है । आम के वृक्ष इसे इस काम के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं ।

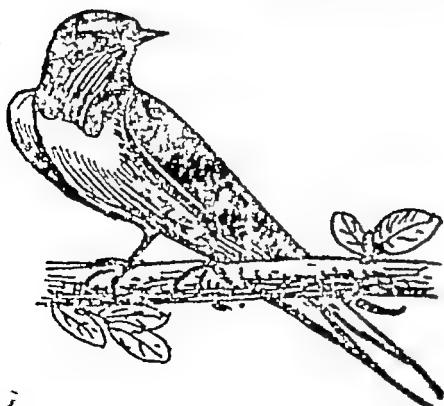
## अवावील

अक्सर शाम को जब सूर्यास्त के बाद भी प्रकाश बना रहता है, आपने आकाश में छोटी-छोटी चिड़ियों के झुंड को, सैकड़ों की सख्या में, गोलाकार उड़ते मड़राते देखा होगा, मानो टिड्डियों का दल हो । ये उड़ते-उड़ते एक प्रकार का कलरव भी करती रहती हैं । यही हैं वे अवावील जिन्हें अंग्रेजी में स्वालो पक्षी कहते हैं तथा जिनके सम्बन्ध में कीट्स ने लिखा था—

And gathering Swallows twitter in the skies,

—और झुण्ड वाघनी हुई अवावीलें आकाश में चहचहाती हैं ।

उजले दिन की अपेक्षा सन्ध्या के झिलमिल प्रकाश में किसी प्राचीन मकान, मन्दिर, मस्जिद के ऊपर जहाँ वे अपने घोंसले बनाती हैं, उड़ना इन्हें अधिक पसंद है । ये वृक्षों पर नहीं बल्कि इन्हीं मकानों में अपने घोंसले बनाती हैं । इनके मुह से एक प्रकार का तरल पदार्थ, जिसे हम लार कह सकते हैं, निकलता है । इसी के सहारे ये मिट्टी के भीटे में चोंच मार कर प्राप्त की हुई मिट्टी को घास-फूस के सग मकान की छत अथवा दीवार में चिपका देती हैं और इस तरह प्याले की टकल का अपना नीड तैयार कर लेती हैं ।



स्वाभाविक है कि निर्जन मकान इन्हें

इस काम के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं ।



इन्ही घोंसलों में बैठकर या उड़ते हुए ये अपना अधिक समय बिताती हैं। इनकी अँगुलियों की बनावट कुछ ऐसी है कि ये और पक्षियों की तरह वृक्ष की डालो-टहनियों पर नहीं बैठ सकती चूँकि उन्हें ये आसानी से पकड़ नहीं सकती हैं। चारों अँगुलिया आगे की ओर होने के कारण ये जमीन पर भी नहीं चल पाती। इनके घोंसले बहुत कुछ मिट्टी के मकान जैसे होते हैं। इनमें ये एक सुराख बना रखती हैं जो इनके मकान का प्रवेश-द्वार होता है। चीन देश के रहने वाले, जिनके लिए ससार की अधिकांश वस्तुएं खाद्य हैं, लार से बने हुए इन घोंसलों में न जाने क्या स्वाद पाते हैं कि इनका शोरवा बना बनाकर बड़े चाव से उसे पीते हैं।



आमतौर पर अबाबील का रंग काला होता है, पीठ के नीचे एक सफेद चौड़ी धारी होती है। आकार में गौरैया से भी छोटी होती है, पर उड़ने में इनकी गति अ तेज है। कई बार वायुयानों के सग इनकी प्रतियोगिता हो गयी है हर दफा वायुयान से ये आगे रही हैं। इसी से इनकी उड़ान-शक्ति का अनु किया जा सकता है। अकेली न उड़ कर ज्यादातर ये झुंडों में उड़ती हैं। ये विचार की कायल है कि कलियुग में सध में या गिरोह बाध कर रहने में ही है, अकेले खिचड़ी पकाने में नहीं—कलौ सधे शक्ति।

इनका शरीर छोटा, पांव छोटे, चोंच मोटी पर छोटी होती है, किन्तु डैने असाधारण तौर से लम्बे, दुम लम्बी और दो-फाकी होती है। मुँह खूब होता है जिसके कारण ये हवा में उड़ने वाले पतंगों को बड़ी आसानी से निगल है। पैरों की बनावट के कारण कहिए या प्रकृतिवश, उड़ना इन्हें अत्यन्त प्रिया जल का पान अथवा स्नान भी ये उड़ते-उड़ते ही करती हैं।

ये भारत के बारहमासी पक्षियों में हैं पर जिन देशों में घोर शीत पड़ता वहाँ से जाड़ों में ये अन्यत्र चली जाती हैं और गर्मियों के आते-आते पुनः आ पहुँचती यूरोपीय देशों में अबाबील का नजर आना ग्रीष्मकाल के आविर्भाव का सूचक अंग्रेजी की एक मशहूर कहावत है, “One swallow does not make summer”—एक अबाबील से ही ग्रीष्मकाल नहीं होता। इससे स्पष्ट है अबाबीलों के प्रत्यागमन से ग्रीष्मकाल का आविर्भाव माना जाता है।

गौरवों का इनसे सौतिया डाह-सा है। जहाँ उन्होंने इनके घोंसले देखे, पूछे-पछे वे उन पर कब्जा कर बैठती हैं और तब आपसे आप अबाबील को से कूच का ढका बजा देना पड़ता है।

इस देश में इनकी बहुतेरी किस्में पाई जाती हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—

(१) घरेलू अवावील अवावीलो में ये सब से अधिक प्रसिद्ध और परिचित है। मारे यूरोप, अफ्रीका तथा एशिया के अधिकांश देशों में पाई जाती है। पर ठंडे देशों में ये गर्मियों में ही पाई जाती है, जाड़े में नहीं। हिमालय की तराइयों में भी ये अधिक मस्या में पाई जाती है। इनके पर ऊपर से लोहे के रंग की झलक लिए हुए नीले, नीचे से हल्के पीले होते हैं। गले तथा कपोल पर वादामी लालिमा, छाती पर एक काली धारी-सी होती है। पूछ पर सफेद चित्तों की कतार तथा इनके पर, सास कर नर के, बड़े लम्बे, खाना खाने के काटे की तरह के, होते हैं। अंग्रेजी में इसीलिए लम्बे काटे को अवावील-पुच्छ काटा कहते हैं। इसके अंडा देने का समय अप्रैल-मई है।

(२) लिशरा अवावील घरेलू अवावील से यह कद में छोटी पर देखने में उससे अधिक सुन्दर होती है। इसकी दुम अनावारण रूप से लम्बी होती है, किसी लम्बे तार के समान, और इसीलिए इसे कहीं-कहीं तार-पुच्छ अवावील भी कहते हैं। यह साल भर अंडे देती है। बहुधा मकान के बरामदे में, मेहराबों के नीचे घोंसला बना डालती है। जल का अंडोस-पडोम या किनारा इसे अधिक पसंद है। उत्तर भारत की नहरों का किनारा इसे खास तौर पर रुचिकर है। वन, रेगिस्तान, खेत इसे कतई पसंद नहीं।

विलायत में पाई जानेवाली जाति यही है। यहां भी इसे और प्रातो की अपेक्षा हिमालय के पार्श्ववर्ती इलाके तथा कश्मीर अधिक प्रिय है। ५०० फुट की ऊंचाई तक यह पाई गई है पर गर्मियों में ही, शीतकाल में नहीं।

अन्य अवावीलों की तरह यह गिरोह बाध कर बसेरा नहीं बनाती। यह एकांतप्रिय है, पर उड़ते वक्त झुंड बाध लेती है।

(३) मस्जिद अवावील देखने में बहुत कुछ घरेलू अवावील जैसी ही होती है पर इसके घोंसले का आकार-प्रकार कटोरे-जैसा न होकर चोतल-जैसा होता है। अप्रैल से लेकर अगस्त तक इनके अंडे देने का समय है।

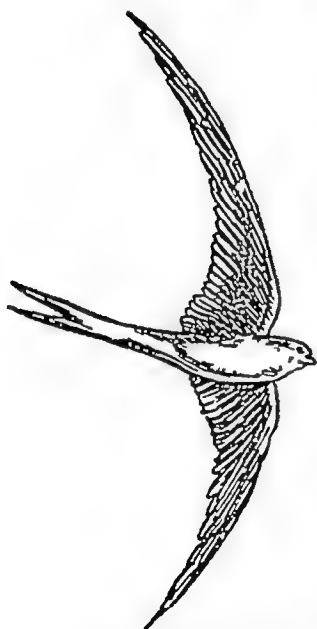
अवावीलों की इन तीन किस्मों के अलावा भी कई और किस्में पाई जाती हैं, जैसे, कि ताड़ी अवावील जो ताड़ों पर ही घोंसला बनाती है, रक्त-पुच्छ, जिसकी दुम का आखिरी हिस्सा लाल होना है, आदि। पर अधिकांशतः इन सब की रूप-रेखा और प्रकृति समान होती है। नकट आने पर ये एक दूसरे की जान पर खेल कर सहायता करती हैं।

अवावील सनार प्रसिद्ध पक्षियों में है। अंग्रेजी भाषा के कवियों को यह विशेष रूप से प्यारी है। और इसमें सन्देह नहीं कि गोधूनि में जब ये झुंड बाध कर, वृत्ताकार, हमारे नर के ठीक ऊपर, अन्तरिक्ष में, कलरव करती है और तब तक उड़ती और कूदती रहती है जब तक कि मन्व्या अपने मुख श्यामल केशों ने धरती को ढक नहीं देती, तो ये हमारे अन्तर में एक अजीब भावना उत्पन्न करती है : इनके कलरव की मुस्मृति बहुत समय तक हमारे मानस-मण्डल पर अंकित रह जाती है।

रात होते ही इनका यह नर्गत समाप्त हो जाता है और फिर हम एक अजीब शून्यता का अनुभव करने लगते हैं। किसी कवि की निम्न पक्तियों में इन्हीं की ओर नकेत है—

लघु तितली-से लघु-लघु विहग  
उड़ते नभ में जो इतस्ततः,  
अपने अन्तिम स्वर से भर कर  
व्योमांचल का रजित आवाह,  
कर गए क्षितिज को शून्य अधिक,  
दे गए दान पर सुस्मृति का,  
रजनी के कर से हुई ज्वलित,  
नभ की पहली जब सुवर्तिका ।

## बतासी



बतासी एक छोटी-सी चिड़िया है जो देखने में अबाबील की तरह हो कर भी अबाबील नहीं है । कलछोंह खैरा रग, ठुड्डी, गले और दुम की जड के पास का हिस्सा सफेद, पूछ के निचले हिस्से तथा सर पर के रग में हल्कापन, आखो के पास एक गाढा चित्ता, काली चोंच, ललछोंह पैर । ऐसे पक्षियो को आपने अकसर गोल वाघ कर किसी पुरानी इमारत अथवा ताड के वृक्षो पर खाना- बदोशो की तरह डेरा डाले या हवा में उड़ते हुए छोटे-छोटे कीडे-मकोडो को खाते देखा होगा । ये न तो पेडो पर बैठते हैं और न जमीन पर ही आसानी से बैठ पाते हैं । इनके पैर की अँगुलिया कुछ ऐसी हैं कि उनके सहारे इनके लिए चलना, फिरना, बैठना सभी अत्यन्त कष्टप्रद होता है । अतएव ये या तो उड़ते रहते हैं या डैनों के सहारे बैठते हैं, यहा तक कि जोडा बाघते समय भी ये डैनों पर ही बैठते हैं, पैरो पर नहीं ।

पुरानी इमारतो के किसी अँधेरे कोने में रहना ये ज्यादा पसन्द करते हैं । घोसला बनाने में मिट्टी की जगह थूक (लार) से काम लेते हैं । घोसला बनाने के लिए पहले ये, कई एक साथ मिल कर, स्थान की खोज के लिए निकलते हैं, पहाड के दर्रों, पुरानी इमारतो, मस्जिद, मन्दिर आदि जगहो पर जाते हैं, और वहा इस काम के योग्य एकान्त कोने की तलाश करते हैं । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन स्थानो पर पूर्व-निर्मित बसेरो में निवास करने वाले पक्षी इनके दरवाजा खटखटाते ही क्रोधित होकर बाहर निकलते हैं, इन्हे डाट-डपट बतलाते हैं, इन्हें ठहरने नहीं देते और ये दुम दवा कर फौरन वहा से नौ-बौ-न्यारह होते हैं ।

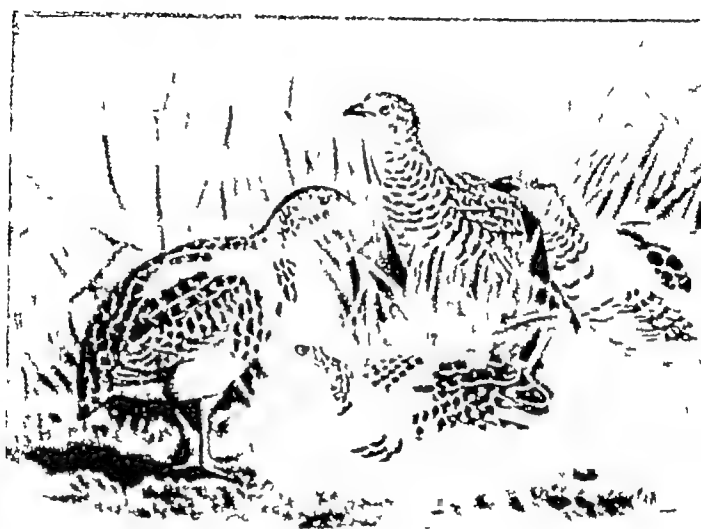
चित्र मय्या ३९  
उडता हुआ मोर



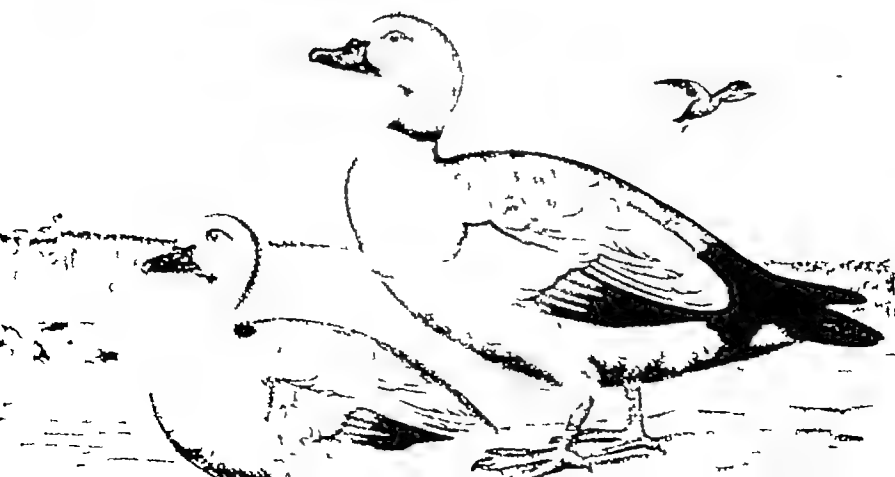
चित्र मय्या • ४०  
मोर



चित्र सख्या ४२  
लवा



चित्र सख्या ४३  
सुरखाव



कभी ऐसा भी होता है कि जब ये दूसरे वर्ष अपने पुराने बसेरे पर (वतासी एक ही घोंसले में साल-दर-साल अड़े देते हैं) प्रजनन-कार्य के लिए पहुँचते हैं तो उसे भरा हुआ पाते हैं, घोंसला खाली पा कर उसमें गौरैया आदि दूसरे पक्षी डेरा छाल लेते हैं। मेहनत से बनाये हुए इनके घर पर दूसरा कब्जा कर ले—विना इजाजत के उसमें डेरा छाले—यह इन्हें कब मजूर होने का ? आखिर वे कोई साधू-सन्यासी तो हैं नहीं कि उनकी कुटी में जो कोई भी आये, धूनी रमा कर बैठ जाये ? अतः अनधिकारी को देखते ही ये आगवबूला हो उठते हैं, उन्हें मार भगाते हैं। पर यदि वह इनसे मजबूत हुआ तो कभी-कभी ये स्वयं ही दुम दवा कर भाग खड़े होते हैं।

वतासी उन पक्षियों में है जिनके नर और मादा का आमरण सम्बन्ध है। शीतकाल में नर और मादा अलग-अलग दूर देश को, जहाँ ठंडक नहीं पड़नी या कम पड़ती है, चल देते हैं। ये दूर देश की यात्रा के अम्पामी होते हैं। कभी-कभी खाने की खोज में ये छ-छ, सात-मात सी मील की यात्रा भी कर लेते हैं। जोड़े एक साथ कम चलते हैं, अधिकतर ये अकेले जाते हैं, और शायद भ्रमण-पथ पर गाते भी हैं—

एकला चल रे, एकला चल रे, एकला चल !

पर वसन्त के आते ही वे पुनः एक साथ हो जाते हैं। इनके पुनर्मिलन का स्थान इनका पुराना घोंसला होता है जिसे आकर ये फिर से आवास करते हैं, अड़े देकर गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करते हैं।

वतासी ज्यादातर काम अपनी पत्नी से लेते हैं। इनके डैने वायुयान के डैनों की भाँति बड़े मजबूत होते हैं, और लम्बे भी, और इनके सहारे ये बड़ी तेज रफ्तार से, ४० से ६० मील प्रति घंटा के हिसाब से, उड़ सकते हैं। सोना, बैठना, घोंसला बनाने के लिए घासफूस आदि चीजों का डोना, सारे काम ये डैनों की सहायता से करते हैं। घोंसला कटोरे के आकार का बनाते हैं, और ऐसे स्थानों पर जहाँ प्रकाश की कमी रहती है, सूर्य की तीव्र ज्योति शायद इन्हें प्रिय नहीं है।

उड़ते-उड़ते ही ये छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों को पकड़ते हैं, उन्हें स्वयं खाते हैं और नवजात शिशु को भी खिलाते हैं। अन्तर उदरस्थ कीड़ों को, जो लार से मिल कर गोली-जैसे बन जाते हैं, ये उगल-उगल कर इन्हें खिलाते हुए नजर आते हैं। इनके बच्चों की एक विशेषता यह है कि वे लगातार कई दिनों तक बिना आहार के जीवित रह सकते हैं। निराहार रहने का कष्ट वर्दाशित करने की इनमें बड़ी ताकत है।

एकातवास के भी ये आदी हैं तथा बहुधा उन दिनों में, जब कट्टाके की सर्दों पड़ती हैं तुषारपात तक होता है, ये हफ्तों अपने घोंसले में निगाहारावस्था में पड़े रहते हैं। हा, उन दिनों चलना-फिरना बन्द रखते हैं, शरीर की शक्ति का व्यवहार नहीं करते, उसे संचित रखते हैं।

जाड़ों में कीड़ों की कमी हो जाती है। जो मिलते भी हैं वे नर, मादा और नोट के शिशु के लिए पर्याप्त नहीं, अतएव बहुधा मीलों—कभी-कभी चार-पाच मील तक—

जाकर ये कीड़ों को सग्रहीत कर लाते हैं और अपनी तथा शिशुओं की उदर पूर्ति करते हैं। मकड़ियों को भी ये पकड़ खाते हैं। पर इन्हें सब से स्वादिष्ट लगती है मधुमक्खी। मधुमक्खियों को ये बड़े चाव से स्वयं खाते हैं और बच्चों को भी खिलाते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उदरस्थ कीड़ों को ये पेट से निकाल-निकाल कर बच्चों को खिलाते हैं। ये धूक से सट कर गोली के आकार के बन जाते हैं एक बार इस प्रकार की १२ गोलियों की परीक्षा की गयी तो उनमें ३१२ प्रकार के कीड़े पाये गये।



## गौरैया

१९४१ की बात है। मैं हजारीबाग के केन्द्रीय जेल में कैद था। अभी अपनी कोठरी (सेल) में आसन जमाये मुझे दो-चार दिन भी नहीं हुए होंगे कि एक दिन, जब कि मैं बैठा हुआ कुछ लिख रहा था, अचानक मेरे सर पर घास-फूस का एक बड़ल आ गिरा। चौंकर ऊपर की ओर निगाह डाली तो देखा कि दो छोटे-छोटे पक्षी ची-ची चू-चू कर मेरी इस दुर्गति पर हँस रहे हैं। वे गौराये थी जिन्होंने जान बूझ कर या आसावधानी से अपना घोंसला मेरे सर पर गिराया था।

क्षण भर के लिए मुझे क्रोध अवश्य आया। पर कुछ ही दिनों में इन गौरायों से मेरी काफी घनिष्ठता हो गयी। छेड़खानियां जारी रही, घास-फूस के टुकड़े भेज पर, बिस्तरे पर, बदन पर रोज ही गिरते रहे, कभी-कभी इनके नवजात शिशु भी। पर अब ये मुझे क्रोधित न कर मुझमें एक प्रकार का कौतूहल पैदा करती थी। और फिर तो दो-एक महीनों में ऐसा ही गया कि इनकी अनुपस्थिति मुझे खटकने लगी। एक दिन बैठा बैठा मैं इन पर कुछ लिख भी गया, जिसकी कुछ पकितया इस प्रकार थी—

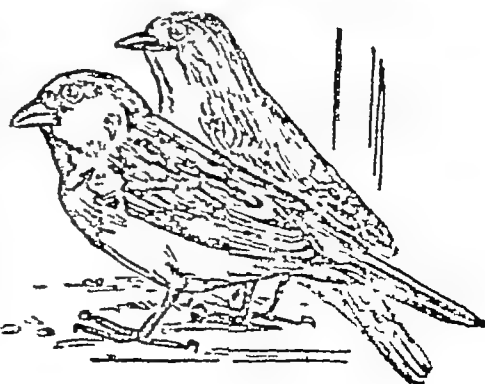
री बन्दी-जीवन की सगिनि,  
लघु विहगिनी, तरणी,  
सूखे मध-प्रदेश में तू ही,  
एक सरस निर्झरणी।  
पूरव दिशि गगनांगण में जब  
उग उठता शुक-तारा,  
स्वर्ण-तूलिका से रजित गिरि  
का होता मुख प्यारा।  
एक-एक कर आँखों से जब  
सपने लगते जाने,  
दूर प्रान्त में वन-विहगों के  
होते गुंजित गाने।

तो अपने चीं-चीं चूं-चूं से  
 तू आ मुझे जगाती,  
 निद्रित जीवन के दुख-मुख को  
 क्षण में दूर भगाती !  
 क्षम-क्षम कर नाचें-गायें,  
 मोद-भरे, भय छोड़े,  
 यहाँ न आते वन्दी-गृह में  
 वे कपोत के जोड़े ।  
 तरु-पल्लव की ओट बँठते  
 जो आपस में हिलमिल,  
 यहाँ कभी वे नीम-वृक्ष पर,  
 दीप्त न पड़ते हारिल ।  
 गिरि-कोटर में तू वन आयी  
 किरण अनोखी, पाहुन,  
 आ टुक मुझे संदेश तुना जा,  
 नगर-नगर का चारण !

इसी भांति अनेक भाव हृदय में आते गये और मैं उन्हें पद्य-बद्ध करता गया और यह तुकवन्दी एक लम्बी-सी कविता बन गयी । निस्सन्देह इसका समस्त ध्येय वन्दी-जीवन की उस सगिनी को था जिसने स्वतंत्र हो कर भी स्वयं मेरे साथ जेल में अपने को वन्दिनी बना रक्खा था ।

पूर्वोक्त तुकवन्दी में मैंने गोरंये को "नगर-नगर का चारण" कहा है । बात ऐसी ही है । कोई गाव, कोई नगर आपको ऐसा न मिलेगा जहाँ गोरंये न हों, भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य देशों में भी । जहाँ मानव-आवास, वहाँ गोरंये । इनके घोंसले किसी वृक्ष या झाड़ी में आपको शायद ही मिले । हमारे घरों के ही किसी हिस्से में, अधिकतर कानिस्तों पर, ये वगैर किसी भय-संकोच के अपने घोंसले बना डालती हैं और वहाँ वर्ष में कई बार अड़े देती हैं । परिणाम यह होता है कि कुछ ही दिनों में वे दो-चार नहीं बल्कि दर्जनों गोरंया-परिवार के निवास-स्थल बन जाते हैं । कभी-कभी प्राचीन गृहों में आपको सैकड़ों गोरंया एक साथ निवास करते नजर आयेंगी ।

गोरंया ही एक ऐसी चिड़िया है जिसके लिए जाड़ा और गर्मी, दोनों एक समान हैं । दोनों ही मौसमों में वह एक-सी गुग नजर आयेगी । गर्म-से-गर्म और ठंडे-से-ठंडे देशों में वह पायी जाती है । हजारों फुट की ऊँचाई पर भी मैंने इन्हें दाना चुगते तथा घोंसले बनाते पाया है, वह भी वही वैफ्रिनी के





साथ । उन्हें इस बात का भय नहीं कि पहाड़ों की वर्षीली हवा उनके शरीर को—जिनके घर इस योग्य नहीं होते कि ठंढक से उनका बचाव कर सकें—कँपा डालेगी । चाहे राजस्थान की मरुभूमि हो या क्वेटा का उष्ण प्रान्तर अथवा शिमले के पहाड़—मनुष्य के सग रहना ही इन्हें अधिक रुचिकर है । और पक्षियों की तरह ये मनुष्य से भयभीत नहीं होती । बहुधा जब हम अपनी मेज पर बैठे रहते हैं, ये मेज पर चढ़ जाती हैं और फिर फुदक-फुदक कर बड़े इतमीनान के साथ उस पर घूमने भी लगती हैं । कभी-कभी हमारी टोपियों के भीतर तक में ये घोंसले बना डालती हैं । देखने में यह बहुत छोटी बलबल से भी छोटी—प्रायः छ इंच की चिड़िया है, पर किसानों को नुकसान पहुँचाने में बड़े-बड़े पक्षियों के भी कान काटती है । बहुधा सेरो नाज यह सखी-सहेलियों के सग कुछ ही देर में चट कर जाती है ।

गौरये लडाकू भी खूब ही हैं । बात-बात पर लड उठती हैं । कभी-कभी मकान की कार्निंस से लडती-लडती ये जमीन अथवा मेज पर उतर आती हैं और अपने झगडों से हमें तग कर डालती हैं । लडती हुई दो गौरयों का हमारे शरीर पर आ गिरना एक साधारण सी घटना है । पता नहीं, हमारे सामने लडने का इन्हे इतना शौक क्यों है । क्या ये हमसे अपने झगडे अथवा दगल का निपटारा कराना चाहती हैं ?

गौरयों का निवास भारतवर्ष के सभी हिस्सों में है । इस देश में इसकी मुख्यतः दो उपजातियाँ पायी जाती हैं । एक वह जो कि हमारे गृह-प्रागण में दिनभर दाना चुगती है—अपनी ची-ची चूँ-चूँ से हमें परेशान किये रहती है । इसके नर और मादा में अन्तर होता है । नर के सिर का ऊपरी हिस्सा स्लेटी, बाल ध्वेत होते हैं । छाती से ठोड़ी तक एक काली धारी होती है । इनके पर कुछ सफेद, कुछ बादामी तथा कुछ भूरे होते हैं । पीठ तक डैने कत्थई भूरे रंग के होते हैं । दुम गहरी भूरी । गाल राख के हल्के रंग का होता है । पेट पर सफेदी होती है । मादा भूरे अथवा मटमले रंग की होती है । दोनों की चोंच मोटी तथा भूरे रंग की होती है, आख की पुतली और पैर भी भूरे होते हैं । मादा की आख के ऊपर एक हल्की बादामी रेखा रहती है । गर्मियों में नर की भूरी चोंच काली लगने लगती है । यह हमारी इतनी जानी-पहचानी चिड़िया है कि इसका हुलिया बताने की कतई जरूरत नहीं । इस देश में शायद ही कोई ऐसा होगा जो छ इंच के इस पक्षी को न पहचानता हो ।

यह साल भर अडा देने वाली चिड़ियों में है, पर अधिकतर फरवरी से मई तक के महीनों में अडे देती है । एक बार में पाच-पाच छ-छ अडे दे डालती है जो राख के रंग के होते हैं ।

इसके बच्चों के शत्रुओं में बाज पक्षी तथा एक मक्खी विशेष खास तौर पर उल्लेखनीय है । यह मक्खी इसके घोंसले में ही अपना घोंसला बना कर गौरयों के छोटे-छोटे बच्चों से चिमट जाती है तथा उनका खून पी डालती है, रक्तविहीन होकर वे आप-से-आप मर जाते हैं ।

धूल में नहाना इन्हे बहुत पसंद है । घाघ और मड्डरी के कथनानुसार इनका धूल में नहाना वर्षारम्भ का सूचक है ।

गौरये की दूसरी उपजाति यह है जिसे तूती कहते हैं । यह देखने में मादा गौरैया जैसी होती है, सिर्फ गले का कुछ हिस्सा पीला होता है । स्वभावतः इसमें यह ठिठ्ठाई नहीं जो साधारण गौरये में पायी जाती है । यह पेड़ों की सूराख में घोंसला बनाती है । इसकी बोली बड़ी सुहावनी है । फारसी-उर्दू साहित्य में जगह-जगह पर तूती की चर्चा पायी जाती है—खास कर भारतवर्ष की तूती की । अमीर खुसरो ने लिखा है—

घुमन तूति-ए-हिन्दुम, अर रास्त पुर्सी,  
जे मन हिन्दुई पुर्से, ता जाज गोयम ।

—मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ । मुझसे यदि कुछ जानना है तो हिन्दी में पूछो ताकि मैं अपने अनुभव की कुछ बातें बता सकूँ ।

डाक्टर इकबाल ने इसका जिक्र इस प्रकार किया है —

उडा ली तूतियों ने, कुमरियों ने, बदलीबों ने,  
घमनवालों ने मिल कर लूट लो तर्ज-फुगों मेरी ।

इसकी आवाज सुरीली पर क्षीण होती है और इसीलिए कहावत मशहूर है—  
नक्कार खाने में तूती की आवाज ।

उत्तर भारत की लोक-कथाओं में गौरये का जिक्र बहुत आता है । यह शायद इसलिए कि यह ऐसा पक्षी है जो घर के कोनों में रहता है, घोंसले बनाता है, अतएव बचपन से ही हम उससे परिचित हो जाते हैं । इस देश में गौरैया-पालन की, पता नहीं, कभी प्रथा थी या नहीं पर, यूनान और रोम में लोग इसे बड़े प्यार से पाला करते थे । तभी तो कटलस नामक रोम के एक प्रसिद्ध कवि ने इसे सवोधित करके लिखा था—

*Passer, deliciae meae puella, quicum ludere,*

—ओ मेरी प्रियतमा का प्रिय-पात्र गौरैया, जिसके संग वह बहुधा क्रीड़ा करती है, खेल्ती है !

खेद है कि गौरैया जैसे पक्षी की ओर से—जो हमारा दिनरात का संगी है—भारतीय साहित्य उदासीन बना रहा । लोक साहित्य तक में यह वह स्थान न पा सकी जो इसका देय था ।

## सतवहिनी

एक बार विलायत से तुरन्त के बाए हुए बड़े लाट बागरे का ताज देखने गए । सरकार के उच्च पदाधिकारी उनके साथ थे । उन्होंने वायनराय को ताज के सारे हिस्से दिखाये और फिर लाट साहब के विचार जानने को उत्सुकतापूर्वक उनके सामने शांत-भाव से खड़े हो गए । उन्होंने सोचा कि लाट साहब अवश्य ही सत्कार-प्रतिष्ठ इस इमारत को प्रशंसा में कुछ शब्द कहेंगे, अपने उद्गार प्रकट करेंगे

## भारत के पक्षी

पर उनकी निराशा का कोई ठिकाना न रहा जब वह बजाय इसके कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहें, अपने ए. डी. सी. से पूछ बैठे—“कौन पक्षी है वे, अजीब से ?”

लाट साहब का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने वाली ये चिड़िया सत-बहिनी थीं जिनके सम्बन्ध में लीनियस ने मृदुभाषिणी लिखकर अपने अज्ञान व परिचय दिया था ।

कौआ, कबूतर, मैना, गौरैया—ये वे पक्षी हैं जिनका अधिक काल मानव-निवास्य के अडोस-पडोस में ही बीतता है । सतबहिनी को हम ऐसे पक्षियों की श्रेणी में पाचवा स्थान दे सकते हैं । आपने देखा होगा आपके घर के इर्द-गिर्द, बाग-बगीचों में या कि झाड़ियों में, गृह-प्रागण में लगी हुई तुलसी के चारों ओर, मटमैले रंग की कुछ पक्षी, झुंड बाध कर फुदकते हुए छोटे-मोटे कीड़ों को पकड़-पकड़ कर खा रहे हैं और बीच-बीच में शोर भी मचाते हैं । सतबहिनी यही हैं जिनके और भी कई नाम हैं—सतभइया, चरखी, कचबचिया, छतरिया आदि । अक्सर आप देखेंगे कि इनकी सख्या सात है और इसीलिए लोग इन्हें सतभइया अथवा सतबहिनी कहते हैं । पर इसका मतलब यह कदापि नहीं कि इनमें सभी नर ही होते हैं या सभी मादा । इनमें नर और मादा दोनों ही होते हैं और इस दृष्टि से इन्हें सतभइया किंवा सतबहिनी कहना गलत प्रतीत होता है । ये प्रचलित नाम हैं और हम इन्हें इस लेख में सतबहिनी नाम से ही पुकारेंगे यद्यपि नाम कभी-कभी धोखे में डालने वाले भी होते हैं ।

सतबहिनी प्रकृति दल बाध कर रहने वाले पक्षी हैं । इनके सात-सात के झुंड होते हैं । कभी-कभी कई झुंड साथ-साथ ही चलते हैं और इस तरह इस संयुक्त दल की सख्या चौदह या उससे भी ज्यादा हो जाती है । कभी-कभी एक दल में सात से अधिक भी हो सकते हैं, और कम भी ।

ये अपने सारे काम-धंधे साथ-साथ मिलकर करती हैं, अलग-अलग नहीं । यहां तक कि घोंसले बनाना, अंडा सेना, बच्चों को खिलाना आदि सभी काम मिलजुल कर ही करती हैं । एक अंग्रेज लेखक का कहना है कि उन्होंने एक बार छ सतबहिनियों को एक ही घोंसले में बारी-बारी से तीन बच्चों को दाना खिलाते पाया था ।

दुःख-सुख दोनों अवस्थाओं में ये एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ती । यदि आप इनमें से कुछ को पिंजड़े में डाल दें तो बाकी भी पिंजड़े में घुसने की चेष्टा करने लगेंगी । शायद यह भी कवि के इस कथन की कायल है कि—

A prison with a friend preferred  
To liberty without

—मित्र के संग कैद में रहना बाहर एकाकी रहने की अपेक्षा कहीं अच्छा है ।

इनकी उड़ने की ताकत कम होने के कारण अधिकतर ये पावों पर ही चलती हैं । सभी एक साथ चलेगी । यदि कोई एक साथी पिछड़ गया तो बाकी खड़ी होकर उसकी प्रतीक्षा करेगी और तभी आगे बढ़ेगी जब वह दल में आकर शामिल हो

जायगा । “कचवच” शब्द करती रहेगी ताकि पिछड़ा साथी जान जाय कि वाकी कहा हैं । कौए की भांति ये भी खाद्य को पाव से पकड़ कर, नोच-नोच कर, खाती हैं ।

गिरोह बाघकर रहने में जो बल है वह अलग-अलग खिचड़ी पकाने में नहीं । इस देश के पक्षी कौए, कबूतर, तोते इत्यादि इस शाश्वत सत्य का मूल्य जानते हैं और इसपर अमल भी करते हैं, पर इस सत्य को जो सबसे अधिक पहचानती है, वह है सतवहिनी । यह सही है कि सतवहिनी जबतब आपस में खूब लड़ती है, पर खतरे के मौकों पर ये एक-साथ हो जाती हैं तथा कौए और वाज-वहरी-शिकरे का जबर्दस्त मुकाबला करती हैं जिसके परिणामस्वरूप इन दुश्मनों को अंत में मैदान छोड़ कर भाग खड़ा होना पड़ता है । यही है सघ-शक्ति ।

युद्धकाल में तो ये अद्भुत एकता का परिचय देती ही हैं, शान्ति-काल में भी अनूठी पारस्परिक प्रीति का प्रदर्शन करती हैं । आप इन्हें बहुधा चोंच से एक दूसरे का सिर खुजलाते अथवा पर की गद्गी साफ करते देखेंगे । देखने में ये क्रूर होते हैं—मटमैला रंग, आख, चोंच, पर सफेद । पूछ बड़ी, पर ढीली-ढीली-सी । इनके वदन में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो हमारी आखों को प्यारी लगे । पर हमें यह न भूलना चाहिए कि वास्तविक सौंदर्य गुण में हैं, तन में नहीं ।

इस देश में इनकी भी कई किस्में हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—(१) साधारण, (२) जंगली, (३) दक्षिणी । साधारण की दुम लम्बी होती है, तथा जंगली का शरीर । दक्षिणी का रंग मटमैला न होकर कत्यई होता है, गले, छाती और पेट पर सफेदी होती है । अविकाशित यह जोड़ों में पायी जाती है, पर कभी भी चार से ज्यादा एक साथ नहीं । इन तीनों के स्वभाव में कोई खास फर्क नहीं है ।

उड़ने की ताकत कम होने के कारण यह घोंसला ऊँचे दरख्तों पर न बना कर झाड़ियों में अथवा वृक्षों की उन शाखाओं पर, जिनकी जमीन से ज्यादा ऊँचाई नहीं होती, बनाती है । सभी ग़ुत्तुओं में अडे देती है । अडों की संख्या दो से चार तक होती है । रंग बिल्कुल नीला । इन्हीं अडों के साथ पपीहा चुपके से अपने अडे भी रख आता है । सयोगवश पपीहे के अडे भी गाढ़े नीले रंग के ही होते हैं । जिस तरह कौए को छलती है, उसी तरह पपीहा सतवहिनी को । बड़े उमंग के साथ वह इन्हें सेती है । यही नहीं, बच्चों का लालन-पालन भी करती है, अपने साथ घुमाती फिराती है फिर कुछ दिनों के बाद एक दिन देखती है कि जिन्हें उसने इतने प्यार से पाला-पोसा था, वे गायब हैं । वह इन्हें वाग-वगीचों में, झाड़ियों में, ढूँढती फिरती है और वे किसी ऊँचे दरख्त पर बैठे हुए “पी कहूँ” की रट लगाते रहते हैं !

पर उनकी निराशा का कोई ठिकाना न रहा जब वह बजाय इसके कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहे, अपने ए. डी सी से पूछ बैठे—“कौन पक्षी है वे, अजीब से ?”

लाट साहब का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने वाली ये चिड़िया सत-बहिनी थी जिनके सम्बन्ध में लीनियस ने मृदुभाषिणी लिखकर अपने अज्ञान का परिचय दिया था ।

कौआ, कबूतर, मैना, गौरैया—ये वे पक्षी हैं जिनका अधिक काल मानव-निवास स्थल के अडोस-पडोस में ही बीतता है । सतबहिनी को हम ऐसे पक्षियों की श्रेणी में पाचवा स्थान दे सकते हैं । आपने देखा होगा आपके घर के इर्द-गिर्द, बाग-बगीचों में या कि झाड़ियों में, गृह-प्रागण में लगी हुई तुलसी के चारों ओर, मटमैले रंग के कुछ पक्षी, झुंड बाध कर फुदकते हुए छोटे-मोटे कौड़ो को पकड़-पकड़ कर खाते रहते हैं और बीच-बीच में शोर भी मचाते हैं । सतबहिनी यही है जिनके और भी कई नाम हैं—सतभइया, चरखी, कचबचिया, छतरिया आदि । अक्सर आप देखेंगे कि इनकी सख्या सात है और इसीलिए लोग इन्हे सतभइया अथवा सतबहिनी कहते हैं । पर इसका मतलब यह कदापि नहीं कि इनमें सभी नर ही होते हैं या सभी मादा । इनमें नर और मादा दोनों ही होते हैं और इस दृष्टि से इन्हें सतभइया किंवा सतबहिनी कहना गलत प्रतीत होता है । ये प्रचलित नाम हैं और हम इन्हे इस लेख में सतबहिनी नाम से ही पुकारेंगे यद्यपि नाम कभी-कभी धोखे में डालने वाले भी होते हैं ।

सतबहिनी प्रकृति दल बाध कर रहने वाले पक्षी हैं । इनके सात-सात के झुंड होते हैं । कभी-कभी कई झुंड साथ-साथ ही चलते हैं और इस तरह इस संयुक्त दल की सख्या चौदह या उससे भी ज्यादा हो जाती है । कभी-कभी एक दल में सात से अधिक भी हो सकते हैं, और कम भी ।

ये अपने सारे काम-धंधे साथ-साथ मिलकर करती हैं, अलग-अलग नहीं । यहाँ तक कि घोंसले बनाना, अंडा सेना, बच्चों को खिलाना आदि सभी काम मिलजुल कर ही करती हैं । एक अंग्रेज लेखक का कहना है कि उन्होंने एक बार छ सतबहिनियों को एक ही घोंसले में बारी-बारी से तीन बच्चों को दाना खिलाते पाया था ।

दुख-मुख दोनों अवस्थाओं में ये एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ती । यदि आप इनमें से कुछ को पिंजड़े में डाल दें तो बाकी भी पिंजड़े में घुसने की चेष्टा करने लगेंगी । शायद यह भी कवि के इस कथन की कायल है कि—

A prison with a friend preferred  
To liberty without

—मित्र के संग कैद में रहना बाहर एकाकी रहने की अपेक्षा कहीं अच्छा है ।

इनकी उड़ने की ताकत कम होने के कारण अधिकतर ये पावो पर ही चलती हैं । सभी एक साथ चलेगी । यदि कोई एक साथी पिछड़ गया तो बाकी खड़ी होकर उसकी प्रतीक्षा करेगी और तभी आगे बढ़ेगी जब वह दल में आकर शामिल हो

जायगा । “कचवच” शब्द करती रहेंगी ताकि पिछड़ा सायी जान जाय कि बाकी कहा है । कौए की भाति ये भी खाद्य को पांव से पकड़ कर, नोच-नोच कर, खाती हैं ।

गिरोह बाधकर रहने में जो बल है वह अलग-अलग खिचड़ी पकाने में नहीं । इस देश के पक्षी कौए, कबूतर, तोते इत्यादि इस शाश्वत सत्य का मूल्य जानते हैं और इसपर अमल भी करते हैं, पर इस सत्य को जो सबसे अधिक पहचानती है, वह है सतवहिनी । यह सही है कि सतवहिनी जबतब आपस में खूब लड़ती है, पर खतरे के मौको पर ये एक-साय हो जाती है तथा कौए और बाज-बहरी-शिकरे का जवर्दस्त मुकाबला करती है जिसके परिणामस्वरूप इन दुश्मनों को अंत में मैदान छोड़ कर भाग खड़ा होना पड़ता है । यही है सघ-शक्ति ।

युद्धकाल में तो ये अद्भुत एकता का परिचय देती ही हैं, शान्ति-काल में भी अनुठी पारस्परिक प्रीति का प्रदर्शन करती हैं । आप इन्हें बहुधा चोंच से एक दूसरे का सिर खुजलाते अथवा पर की गदगी साफ करते देखेंगे । देखने में ये कुरूप होती हैं—मटमैला रंग, आख, चोंच, पर सफेद । पूछ बड़ी, पर ढीली-ढीली-सी । इनके वदन में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो हमारी आखों को प्यारी लगे । पर हमें यह न भूलना चाहिए कि वास्तविक सौंदर्य गुण में है, तन में नहीं ।

इस देश में इनकी भी कई किस्में हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—(१) साधारण, (२) जगली, (३) दक्षिणी । साधारण की दुम लम्बी होती है, तथा जगली का शरीर । दक्षिणी का रंग मटमैला न होकर कत्यई होता है, गले, छाती और पेट पर सफेदी होती है । अधिकांशत यह जोड़ों में पायी जाती है, पर कभी भी चार से ज्यादा एक साथ नहीं । इन तीनों के स्वभाव में कोई खास फर्क नहीं है ।

उड़ने की ताकत कम होने के कारण यह घोंसला ऊँचे दरख्तों पर न बना कर झाड़ियों में अथवा वृक्षों की उन शाखाओं पर, जिनकी जमीन से ज्यादा ऊँचाई नहीं होती, बनाती है । सभी ऋतुओं में अड़े देती है । अड़ों की संख्या दो से चार तक होती है । रंग विल्कुल नीला । इन्हीं अड़ों के साथ पपीहा चुपके से अपने अड़े भी रख आता है । सयोगवश पपीहे के अड़े भी गाढ़े नीले रंग के ही होते हैं । जिस तरह कोयल कौए को छलती है, उसी तरह पपीहा सतवहिनी को । बड़े उमंग के साथ वह इन्हें सेती है । यही नहीं, वच्चों का लालन-पालन भी करती है, अपने साथ घुमाती फिराती है फिर कुछ दिनों के बाद एक दिन देखती है कि जिन्हे उसने इतने प्यार से पाला-पोसा था, वे गायब हैं । वह इन्हें बाग-बगीचों में, झाड़ियों में, ढूँढ़ती फिरती है और वे किसी ऊँचे दरख्त पर बैठे हुए “पी कहु” की रट लगाते रहते हैं !

## लाल मुनिया

पुराने जमाने में जिस तरह शौकीन-मिजाज लोग बुलबुल और बटेर पाला करते थे वैसे ही लाल मुनिया पालने का भी रिवाज था। बड़े-बड़े रईस और अमीर-उमरा इसे पालते थे और दूर-दूर तक उनके इस शौक की चर्चा होती थी। उत्तर बिहार में एक जगह है चैनपुर जो किसी जमाने में बड़े जमींदारों की बस्ती थी। यहाँ वालों को लाल मुनिया पालने का कुछ इतना ज्यादा शौक था कि एक कहावत सी बन गयी थी—

**लाल मुनियां चैनपुर, पढ़ा हसनपुर।**



अर्थात् लाल मुनिया देखनी हो तो चैनपुर में देखें, पढ़ा (दन्तैल हाथी) हसनपुरा (जमींदारों की एक दूसरी बस्ती जहाँ के हाथी मशहूर थे) में। अफसोस है कि बुलबुल और बटेर की भाँति ही लाल मुनिया के कद्रदान भी अब इस देश से जाते रहे।

लाल मुनिया कभी एक-दो की सख्या में नहीं पाली जाती। पालने वाले एक ही पिंजड़े में दर्जनों एक साथ पालते हैं, और ये बड़े आनन्द के साथ अपना वन्देजीवन व्यतीत करती हैं—पिंजड़े में ही दिनभर कूजती हैं, नाचती हैं, गाती हैं। इनके गाने का यह खास क्रम है कि एक गाकर चुप हुई, फिर दूसरी ने उस क्रम को आगे बढ़ाया, फिर तीसरी ने, और इस तरह बारी-बारी से सभी गा उठती हैं। रात में सभी पिंजड़े के छड़ पर कतार बांधकर बैठ जाती हैं और फिर इस बात के लिए झगड़ा शुरू हो जाता है कि बीच में कौन बैठे। छड़ के किनारों पर कोई बैठना नहीं चाहती है। सब का प्रयास बीच का स्थान ग्रहण करने का रहता है और इसके लिये इनके बीच रातभर धक्कम-धक्का चलता रहता है। कतार में ही ये सोती भी हैं।

कद में यह बड़ी छोटी, प्रायः ४ इंच की होती है। नर को लाल और मादा को मुनिया कहते हैं। इसका शरीर भूरापन लिये हुए लाल रंग का होता है जिसपर छोटी-छोटी सफेद बुदिया बनी होती है। उम्र के साथ-साथ शरीर की लाली भी गहरी होती जाती है। नर के पैर में पैर के पास से दुम तक का निचला हिस्सा काला होता है, दुम के सिरे और डँने भूरे होते हैं। मादा की ठुड्डी तथा गला सफेद होता है। इनकी चोंच लाल तथा मोटी होती है।

पेड़ों पर रहना इन्हें पसन्द नहीं, अतः अधिकतर ये झाड़ियों में, फूल के वृक्षों की डालों पर, नदी-तट के घासों पर रहती हैं और वही घोंसले बनाती हैं जो गोलाकार होता है, गेंद की आकृति का, और उसके एक कोने में प्रवेश-द्वार बना रहता है। गौरैया की तरह ये बारहों मास घोंसला बनाती तथा अंडे देती रहती हैं।

एक प्रकार की मुनिया रंग में हरी होती है, चोंच लाल, और नीचे के पर पीले होते हैं, कुछ सफेद भी। कद में यह सबसे छोटी मुनिया है।







बाज  
(एक प्राचीन चित्र)

चित्र सख्या ४५

पक्षीतीयंम (तिरुक्कु-  
कुन्दरम) में पवित्र चीलों  
को पुजारी आहार दे  
रहा ह

चित्र सख्या ४६

इसकी ही विरादरी का एक पक्षी “चर-चरा” भी है जिसका रंग मटमैला है तथा जिसकी पीठ पर दुम के ऊपर कुछ सफेद धब्बे होते हैं । ये झुड़ में रहते हैं तथा काँटों की झुरमुट में घोंसले बनाते हैं ।

“तेलिया मुनियाँ” भी इसी जाति की चिड़िया है । यह कद में सबसे बड़ी—प्रायः ५ इंच की तथा रंग में अत्यन्त सुन्दर होती है । ऊपर-नीचे के पर बादामी तथा सिर, ठोड़ी और गला कथई रंग का होता है । वदन पर कुछ श्वेत बुदकियाँ भी होती हैं । यह अपना घोंसला जमीन से कुछ ऊपर, गोलाकार, बनाती है ।

लाल मुनियों का कतार में बैठना जगद्विख्यात है । महात्मा सूरदास तक ने इसका उल्लेख किया है—

“मनु लाल मुनिन की पांति पिंजर दूरि चली” ।



## गुलावचश्म

कद में गौरैया से भी छोटी पर चुलबुलाहट में उससे बड़ी-चड़ी यह एक चिड़िया है जो पालने वाले से इतना अधिक हिल-मिल जाती है कि पिंजड़े के बाहर उसके सर और कन्वों पर चहकती रहती है, यहाँ तक कि उसके बालों में छोटे-छोटे कोड़ों की तलाश करने लगती है । गर्मी इसे ज्यादा पसन्द है और इसलिए पहाड़ों पर नहीं रहती । पिंजड़े में यदि एक से ज्यादा हुई तो खैरियत नहीं—दिन रात युद्ध मचा रहेगा ।

इसके शरीर का ऊपरी हिस्सा गेदुए रंग का और निचला सफेद होता है । चोंच मजबूत, मुड़ी हुई, काले रंग की तथा आख की भौंहे पीली होती है ।

मई से सितम्बर के बीच यह झाड़ी में अथवा किसी छोटे वृक्ष पर कटोरे की आकृति का घोंसला बनाकर अंडे देती है ।

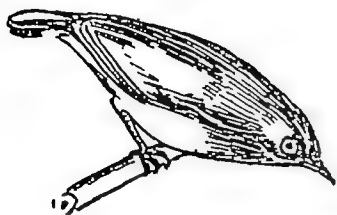
शायद पीले गुलाव के रंग की आखें होने के कारण ही शरारत से भरी हुई इस चिड़िया का नाम गुलावचश्म पड़ा है । इसकी छेड़खानिया मशहूर हैं । यह एक प्रकार से हमारे वाग-वगीचों की जान है ।



## बबूना, पिहा, पतेना

इस पुस्तक में वस्तुतः उन पक्षियों का उल्लेख है जो इस देश में पूर्ण रूपेण विख्यात हैं । इनके अलावा भी ऐसे सैकड़ों पक्षी हैं जिनका अभी नामकरण नहीं हो सका है और जो यहाँ के जंगलों, वाग-वगीचों में प्रक्षिप्त रूप में निवास करते हैं । वे हमारी आखों से ओझल रहते हैं, और यदि कभी हमारे दृष्टि-पथ पर आते भी हैं तो

हम उन्हें पहचानने में असमर्थ रहते हैं। ये ज्यादातर छोटे कद की चिड़िया है जो पत्तों की ओट में छिपी रहती है और उन्हें संयोग से ही हम देख पाते हैं। आप यदि ध्यानपूर्वक सुनेंगे तो बड़े सवेरे अपने बाग-बगीचों में दर्जनों ऐसी चिड़िया चहकती हुई पायेंगे जिनके शब्द मात्र ही आप सुनेंगे, उन्हें देख न पायेंगे, क्योंकि ये उन गायिकाओं में हैं जो चिलमन की ओट से गाती हैं। इनमें कुछ ऐसी भी हैं जिनका नामकरण हो चुका है।



इनमें बबूना, पिद्दा, पतेना मुख्य हैं। बबूना चार इंच की एक छोटी सी चिड़िया है जिसके बदन का ऊपरी हिस्सा धानी रंग का अर्थात् हरापन लिये हुए पीला, तथा डेने के छिपे हुए हिस्से और दुम गहरे भूरे रंग की होती है, गला पीला, दुम का निचला हिस्सा पीला, पेट और सीना ऊदी होते हैं।

आखों के चारों ओर सफेद छल्ला होता है, चोंच टेढ़ी और नुकीली काले रंग की होती है। बबूने पेड़ से नीचे शायद ही उतरते हो, वही बैठे-बैठे कीड़े तथा फल खाया करते हैं और जब दरिआए-दिल जोश पर आता है तो तान छेड़ते हैं, धीरे-धीरे गान आरम्भ करके उसे अन्तरा पर ला देते हैं। गरज यह कि ये खूब तेज और मीठे स्वर में गाते हैं। फरवरी और सितम्बर के बीच अड़े देते हैं। घोंसला घास-फूस से पेड़ों पर बनाते हैं। यह पीलक के घोंसले से मिलता-जुलता-सा होता है। बबूने का रंग भी बहुत कुछ पीलक पक्षी से मिलता है।

पिद्दा भी एक छोटी-सी चिड़िया है जिसका कद पांच इंच से ज्यादा नहीं होता। इसकी कई उपजातियां हैं। सारे देश में यह प्राप्य है। घने वन की अपेक्षा खुला मैदान इसे अधिक पसन्द है। नर पिद्दे का बदन काले रंग का होता है, केवल कन्धों पर सफेद चकत्ते रहते हैं। सीने से दुम तक का नीचे का हिस्सा सफेद होता है। मादा भूरी होती है, इसके नीचे का हिस्सा कथई रंग का होता है। चोंच और पैर दोनों ही काले होते हैं।

छोटे छोटे वृक्षों, सरपत आदि के सिरों पर आप इसे अक्सर बैठे हुआ देखेंगे। कीड़े पकड़ने को यह नीचे भी उतरता है। हवा में उड़ने वाले पतंगों को यह फौरन अपने मुख का घ्रास बना डालता है।

साधारणतः पिद्दे की आवाज कर्ण-कटु होती है पर जोड़ा वाधने के समय इन में न जाने कहा से मिठास आ जाती है। मादा के सामने नर तरह-तरह के करिश्में दिखाता है, डेने फैलाता है, दुम ऊंची कर के उड़ता है, उड़-उड़ कर गाता है और अन्त में वशीकरण के उपायों के द्वारा मादा को अपने हाथों में कर लेता है।

मार्च और अगस्त के बीच पिद्दी किसी वृक्ष की टहनी अथवा जमीन पर की घनी घास में घोंसला बना कर अड़े देती है। इनकी संख्या ४-५ होती है।

बबूने एवं पिद्दे की अपेक्षा पतेना अधिक लम्बा पक्षी है, खासकर इसलिये कि इसकी दुम के बीच के दो पर प्रायः दो इंच लम्बे होते हैं। इस तरह इसकी लम्बाई बदन और दुम दोनों को मिलाकर करीब ९ इंच की हो जाती है।

देखने में नर और मादा दोनों सुनहले हरे रंग के होते हैं, केवल चोंच के नीचे

से गले के निचले हिस्से तक का भाग नीला होता है । आगे एक काली कंठी, आखों के पास एक काली लकीर, गर्दन का दोनों ओर तथा डँने के नीचे का हिस्सा थोड़ा ऊपर का भी, सुनहला, दुम के बीच के दोनों लम्बे पर तथा चोंच काली, लम्बी और नुकीली—यही इसकी रूप-रेखा है । इसकी जाति का ही एक पक्षी है पतरंगा जिसकी दुम नीली, गर्दन पीली और सीना कत्यईरंग का होता है ।

पतेने अक्सर गोल बाघकर रहते हैं । नदी के किनारों में सूरख बनाकर मादा अप्रैल से जून के बीच अंडे देती है । नर बाहर बैठा हुआ पहरा दिया करता है ।

देखने में यह अतिशय सुन्दर होते हैं ।

जिस वक़्त टेलीग्राफ के तारों पर भुजगे, किलकिले तथा मछमरनियों की भाँति ये बैठे होते हैं, और इनके वदन पर सूर्य की किरणें पड़ती होती हैं, तो ये और भी सुन्दर लगते हैं ।

मौसम के मृताविक ये अपना स्थान-परिवर्तन करते रहते हैं । गर्मियाँ उत्तर भारत में बिताते हैं, शीतकाल दक्षिण में । इनकी कई उपजातियाँ हैं जो हिन्दुस्तान के

बाहर अफ्रीका आदि तक फैली हैं । वहाँ से आकर ये यहाँ गर्मियाँ बिताती हैं । छोटे-छोटे पतंगे इनके भी आहार हैं ।

हिन्दी के विख्यात कवि राजा लक्ष्मणसिंह ने भीरे के प्रति कहा था.—

भ्रमर, तू मधु के चाखनहार !

पर ये मधु के नहीं, मधुमक्खी के चाखनहार हैं, उसे देखा नहीं कि इन्होंने उसे गले के नीचे उतारा !

गनीमत है कि पतेनों की संख्या कम है वरना हमारे लिये शहद का मिलना दुश्वार होता !



## स्वर्ग के पक्षी\*

आज से सैकड़ों साल पहले की बात है, हालैंड के कुछ समुद्री नाविकों ने एक टापू में बहुतेरे ऐसे पक्षी पाये जो देखने में अत्यन्त सुन्दर एवं चित्ताकर्षक थे तथा अधिकतर आकाश में विचरते अथवा पेड़ों पर दिन बिताते थे—जमीन पर नहीं उतरते थे । नाविक घर लौटे तथा इस पक्षी के सम्बन्ध में उन्होंने तरह-तरह की बातें बताईं । उन्होंने बताया कि इनके न तो डँने हैं न पाँव ही, केवल अपने सुन्दर पंखों के सहारे ये आकाश में अथवा पेड़ों पर टँगें रहते हैं और स्वर्ग से झरती हुई ओस तथा फूलों के रस से ही अपनी प्यास बुझाते हैं ।

\*हिमालय के कई स्थानों में ये पक्षी मिलते हैं और इसलिए इस पुस्तक में इनकी चर्चा की गई है ।

यूरोप के लोगो ने उनकी बातें बड़े कौतूहल से सुनी । शीघ्र ही समस्त यूरोपीय देशों में ये 'स्वर्ग के पक्षी' के नाम से विख्यात हो गये । कवियों तथा चित्रकारों की कल्पना में इन्होंने स्थान पाया, इन पर सैकड़ों पक्तियाँ लिखी गई, इनके चित्र अंकित हुए तथा इनका यह सुन्दर सा नाम, 'स्वर्ग का पक्षी', अमर हो गया ।



पक्षी-विज्ञान के पंडितों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और वे इस जाति के पक्षियों के अन्वेषण में लगे ।

न्यूगिनी के सुन्दर टापू में ये प्राप्त हुए । इनकी कई उपजातियाँ थी जिनमें कद में सबसे बड़ा वह था जिसे उन्होंने "वृहद् मरकत पक्षी" के नाम से पुकारा । उनकी खों के फलस्वरूप जो बातें ज्ञात हुईं वे इस प्रकार हैं—

ये एक प्रकार के पक्षी हैं जो मुख्यतः दो जातियों में बँटे हुए हैं—एक कद में बड़े, दूसरे छोटे । दोनों के ही पर देखने में अत्यन्त सुन्दर हैं । गला और सिर दोनों ही छोटे घने परो में आवृत हैं मानो कोई गुलगुला गलीचा हो । ऊपर का हिस्सा चमकीला सूखी घास के रंग का और नीचे का चमकदार पन्ने के रंग का होता है । दोनों ओर, कंधों के नीचे से दो घने सुनहले परो के बने हुए गुच्छे बाहर निकले होते हैं जिनकी लम्बाई प्रायः दो फुट की होती है तथा जिन्हें वे स्वेच्छा से ऊपर उठाकर शरीर के अधिकांश हिस्से को ढक लिया करते हैं । ऊपर उठे हुए परो के ये गुच्छे अतिशय सुहावने लगते हैं ।

पूछ के बीच के दो पर बड़े लम्बे, प्रायः ३४ इंच के, तार के से पतले होते हैं, किन्तु, ये सुन्दर पर, कंधे के गुच्छे, पूछ के लम्बे पर, केवल नर के होते हैं, मादा के नहीं । इसका रंग धुंधला भूरा जैसा होता है । बच्चे भी शुरू में इसी रंग के रहते हैं, पर बढने पर अपना अपना रंग धारण कर लेते हैं नर नर का, मादा मादा का ।

प्रजनन-काल के आते ही इस पक्षी के नर एक बड़ी सख्या में एक साथ किसी वृक्ष पर एकत्रित हो जाते हैं तथा मादाओं के सामने अपने सुन्दर परो का प्रदर्शन करते हैं । पाखों को लम्बा करके पीछे की ओर कर लेते हैं और सर को नीचे की ओर । पूछ के लम्बे परो को उठाकर ऐसे फैलाते हैं मानो खुले हुए सुनहले दो पखे हो जिनकी जड़ पर गाढ़ी लाल और आगे की ओर कथई सुन्दर धारियाँ चित्रित हो । इनका सारा वदन इन परो से आच्छादित हो जाता है । फिर ये एक प्रकार का नृत्य-सा करने लगते हैं । पीत मस्तक, हरा मरकत-सा गला, सुनहले पर, एक अद्भुत दृश्य उपस्थित करते हैं ।

यही समय है जब इस टापू के आदिम निवासियों को इनके पकड़ने का मौका मिलता है । दरख्त के नीचे वे एक छोटी-सी क्षोपडी बना कर उसी में जा छिपते हैं और जब पक्षी कामातुर होकर नृत्यरत होता है तो नीचे-से इस पर वाण मारते हैं । पक्षी नीचे आ गिरता है, और इस तरह दर्जनो पक्षियों को वे अपने अधिकार में कर

लेते हैं। उस समय ये कुछ ऐसे बेसुध रहते हैं कि बहेलियों के इस छलछद्म की उन्हें जरा भी टोह नहीं मिलती, चोट खाकर जो नीचे गिरा उसे छोड़कर बाकी धजाय इसके कि भटक कर उड़ खड़े हो, नृत्य-रत ही रहते हैं और इस प्रकार अपने को निर्दयी बहेलियों के हाथों का शिकार बना डालते हैं।

ये बहेलिये इन्हें क्यों मारते हैं ? उत्तर स्पष्ट है। इनके सुन्दर परो के लिए। इनके पाव और डँनो को वे अलग कर डालते हैं, मांस निकाल फेंकते हैं और इनके शरीर को परो के गुच्छों और पूछ के साथ सुखा-सुखा कर वे बाजारों में बेचते हैं। इन टापुओं में रहने वाली शौकीन औरते इनके परो को सर के मुकट में बड़े गर्व से धारण करती हैं।

शायद पाव और डँनो से रहित इन मृत पक्षियों को देखकर ही डच यात्रियों को यह भ्रान्ति हुई थी कि इनके पर और डँने नहीं होते।

न्यूगिनी तथा आसपास के विभिन्न द्वीपों में ये पक्षी पाये जाते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, इनकी कई उपजातियाँ हैं, कोई बड़ी, कोई छोटी। किसी की पूछ के पर जालेदार होते हैं, किसी के सीधे। रंग में भी काफी फर्क है, पर इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी देखने में अत्यन्त सुन्दर और चित्ताकर्षक हैं। छोटे-छोटे पतंगों इनका आहार है। जमीन पर बिछी ओस की बूंदों को ये बड़े चाव से पीते हैं।

भारतवर्ष में भी हिमालय पर्वत के कई स्थानों में इस जाति के पक्षी देखे गये हैं पर इनकी संख्या बहुत कम है। हमारे यहाँ की एक दूसरी चिड़िया है जो स्वर्ग के इस पक्षी से बहुत कुछ मिलती-जुलती सी है। वह है मछरिया जिसे मछमरनी (चित्र सख्या १६) भी कहते हैं। यह भी अपनी पूछ के परो को उठाकर पंखा जैसा बना लेती है और घिरकती है। रंगविरंगी होती है और देखने में बड़ी सुन्दर लगती है। स्वभाव की चंचल है, एक स्थान पर अधिक देर तक नहीं ठहरती। पेड़ों पर रहना इसे ज्यादा पसन्द है, जमीन पर बहुत कम उतरती है। पूर्वोक्त स्वर्ग के पक्षी से कई बातों में इसकी काफी समानता है।

इसकी भी कई उपजातियाँ हैं। इस देश में पायी जाने वाली तीन मुख्य उपजातियाँ हैं—सब से श्रेष्ठ वह है जिसे दूधराज तथा शाह बुलबुल के नाम से पुकारते हैं। शकल इसकी बुलबुल की ज़रूर है, पर दरअसल बुलबुल की जाति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसे स्वर्ग की मछमरनी कहते हैं। इसके सम्बन्ध में एक रोचक कहानी भी है।

कहते हैं, यह पहले स्वर्ग में रहनेवाली एक चिड़िया थी, देखने में बड़ी सुन्दर; बर्फ जैसा उजला रंग था इसका, तथा इसकी पूछ के वारह पर बड़े खूबसूरत रेशम के पतले फीते जैसे थे। इन्हें पाकर यह फूली न समाती थी। भगवान के सामने भी इसने ऐसा ही अभिमान-युक्त आचरण किया। पर भगवान नहीं चाहते थे कि कोई अपनी सुन्दरता पर अथवा धन-दौलत पर या कि पुत्र-कलत्र पर, बुद्धि पर, गर्व करे। किसी ने बँसा किया नहीं कि इन गुणों से वंचित हुआ। राजागनाओं तक को, कृष्ण-प्रेमिका होते हुए भी, गर्विता होने के कारण दंड सहना

पड़ा । फिर इस छोटी-सी चिड़िया की क्या हस्ती कि वह गर्वीली बन कर इठलाती चले । सो भगवान ने उसकी पूछ के सारे सुन्दर पर छीन लिये । तब उसकी आखें खुलीं और वह पश्चात्ताप से विह्वल हो उठी । उनके सामने जाकर वह रो पड़ी और बारम्बार क्षमा-याचना करने लगी । भगवान आखिर दयालु तो है ही उन्हें इस पक्षी पर दया आ गई । किन्तु वह बिल्कुल षडित न हो यह कैसे हो सकता था । अतएव बारह की जगह उसे पुच्छ के बीचवाले दो सुन्दर पर वापस मिले जं आज उसका सौंदर्य-वर्द्धन करते है । किन्तु भगवान ने इसका चेहरा काला क छोड़ा ताकि अपने अनुचित आचरण की इसे हमेशा याद आती रहे ।

कभी जो स्वर्ग में पीयूष-पान किया करती थी, यहा उसे अब पतिंगो पर हं जिन्दगी बसर करनी पड़ी क्योंकि स्वर्ग से निपतित होकर वह अब भूमितल कं चिड़िया बनी ।

पता नही न्यूगिनी और उसके अबोस-पडोस में रहने वाले पक्षी स्वर्ग से का और कैसे निष्कासित हुए ।

शाह बुलबुल, मछमरनी जाति के पक्षियों में सबसे श्रेष्ठ है, पर इसके अलावा भी इसकी कई और उपजातिया है । सबसे सुन्दर वह है जिसके पेट का निचल हिस्सा बिल्कुल पीला होता है । नेपाल, सिक्किम, असम में यह बहुतायत र पायी जाती है ।

इन सभी जाति की मछमरनिया (नेपाल की नीलतव आदि भी) घने जगल में रहना अधिक पसन्द करती है तथा जाडो में पहाड से नीचे उतर आती है गर्मियों के दिन ये पहाडो पर बिताती है । पर कई ऐसी भी हैं जो तीन हजार फु से नीचे नही उतरती ।

पीले पेट वाली मछमरनी, जिसका ऊपर उल्लेख है, एक हजार फुट से नीं नही आती है । गढ़वाल के इलाको में यह १२,००० फुट तक की ऊचाई पर देख गई है । मई-जून इसके अंडे देने के महीने है ।

यह एक असाधारण तौर पर सजीव तथा प्रसन्नचित्त छोटी सी चिड़िया । जो निरन्तर उडती-फिरती रहती है । कभी हवा में उडती है, कभी ऊंचे वृक्षो कं ऊंचो टहनियो पर जा बैठती है, पखो को कैपाती है, दुम को फैंला का उछालती है । बड़े-बड़े वृक्ष और सघन झाडिया—दोनों ही इसके क्रीडा-क्षे है । घना जगल तथा बहते हुए जल का किनारा इसे विशेषरूप से प्रिय होतं हुए भी मैने इसे कई बार नरपत की क्यारियो तथा बसवाडियो में कीडे ढूढतं पाया है । यह क्षीण पर मोठे स्वर में गाती भी है ।”

नाक के ऊपर कुछ लम्बे-से बाल, इसकी खास पहचान है ।

शाह बुलबुल नामक पक्षी (चित्र सख्या २२) जो इस देश में बसन्त-काल के आते आते आ पहुचता है, अविकाशत एविसिनिया, सूदान, ब्रिटिश पूर्व-अफ्रीका आदि देशो र आता है तथा जाडो के आते ही पुन इन्ही देशो को लौट जाता है । साथ ही, कुछ ऐसे भी हैं जो जाडो में भारतवर्ष के भीतर ही स्थान-परिवर्तन कर लेते ह—उत्तर से दक्षिण भारत की ओर चले जाते हैं जहा सर्दी कम पडती है । पर अविकाश एविसिनिय को लौट जाते है ।

शाह बुलबुल के, जिसकी ऊपर चर्चा की गई है, और भी कई नाम हैं, जैसे हुसैनी बुलबुल, सुल्ताना बुलबुल, दूधराज इत्यादि । डीलडौल में, आकार-प्रकार में, यद्यपि यह बुलबुल से मिलता है, पर दरअसल यह उस जाति का पक्षी नहीं है । स्वभाव, खानपान आदि सारी बातों में इसका सादृश्य मछमरनी से है, बुलबुल से नहीं । देखने में यह एक बड़ा ही चित्ताकर्षक, रूपवान और शोभन पक्षी है । इसके भी सर पर एक तुर्रा होता है । शैशव-काल में इसके वदन का रंग वादामी, चोटी का ऊपर से काला, नीचे सफेद होता है । पर द्वितीय वर्ष के आते आते नर की आकृति में फर्क आ जाता है । दुम के बीचोबीच के दो पर सत्रह इंच लम्बे हो जाते हैं, शरीर से दूने । तीसरे वर्ष में वर्ण-परिवर्तन होता है, अर्थात् इसके वादामी पर सफेद हो जाते हैं । किन्तु सर और चोटी काली ही बनी रहती है । मादा के रंग में परिवर्तन नहीं होता ।

शाह बुलबुल की खूबसूरती का सबसे बड़ा कारण उसकी लम्बी पूछ है । जब वह इसे फड़फड़ाती हुई चलती है या उड़ती है तो ऐसा लगता है मानो वह विलायत के राजघराने की किसी विशिष्ट महिला की गाउन हो ।

इसमें चुलबुलाहट भी राज-महिषियों की-सी ही है । हमेशा खुश, स्फूर्तिपूर्ण, रह-रह कर गाना, यह इसके खास गुण है । पाव कमजोर होते हैं, अतएव ये उड़-उड़ कर ही कीड़े-पतंगों पकड़ कर उन्हें अपना आहार बनाती हैं ।

जो यहा रह जाती है वे कटोरे के आकार के घोंसले बना कर मई-जून-जुलाई में अंडे देती हैं जिनकी सख्या तीन-चार होती है तथा रंग गुलाबी होता है ।

दूसरी किस्म की मछमरनी, जो इस देश में बहुतायत से पायी जाती है, काली मछमरनी है जिसके ऊपर का रंग वादामी या काला होता है, नीचे का सफेद । गले के ऊपर कुछ चित्तिया होती हैं, ललाट पर सफेदी तथा आख के ऊपर से गर्दन तक सफेद धारी होती है । डँनों के कुछ पर और पूछ का सिरा भी सफेद होते हैं ।

एक तीसरी जाति की मछमरनी भी जहा-तहा देखने में आती है जिसका सर और वक्षस्थल भूरे रंग के होते हैं, बाकी शरीर, हरा मिश्रित पीले रंग का होता है । पूछ का रंग वादामी । यह कद में गौरये जैसी होती है । और मछमरनियों की तरह यह अपनी दुम नहीं फैलाती । इसे गर्द-फुदकी भी कहते हैं ।

उपर्युक्त तीन किस्मों के अलावा भी मछमरनी की कई और उपजातियाँ इस देश में प्राप्य हैं । श्री फ्लेचर के कथनानुसार ये प्रायः अस्सी हैं, पर इस देश में बहुतायत से पायी जानेवाली मछमरनिया इतनी ही हैं । हा, एक और किस्म है जिसे नीलतवा के नाम से पुकारते हैं और जो पहाड़ों से कभी नीचे नहीं उतरती, गर्मियों में ८,००० फुट तक की ऊँचाई पर निवास करती है । जाड़ों में कभी-कभी पहाड़ों की जड़ तक आ जाती है । रंग इसका खूब चमकीला होता है—ऊपर खूब गहरे रंग का नीला, नीचे का हिस्सा, कपोल, सर के वगल के हिस्से तथा गला चमकदार काला । चीड़ के दरख्तों पर बहुधा आप इन्हें धिरकते, नाचते-गाते पायेंगे ।

मछमरनियों में पेट के रंग की भिन्नता बहुत है, किसी का लाल, किसी का नीला, किसी का श्वेत, किसी का वादामी ! स्वभाव सबों का एक जैसा होता है ।



## भारत के पक्षी

पहली किस्म की मछमरनी को छोड़कर शेष यहां की बारह-मासी चिड़ियां हैं पर नजर तभी आती है जब वर्षा आने को होती है। दरअसल इनमें से यदि एक भी आपके बाग-बगीचों में नजर आए तो समझ लीजिए कि वर्षा-काल अब दूर नहीं है। १९५६ में बंगाल, बिहार में बरसात और वर्षों की अपेक्षा पहले शुरू हो गयी और इसीलिये मछमरनी भी मई के समाप्त होते-न-होते कलकत्ते के समीपस्थ एक उद्यान में आ पहुंची। इसकी सूचना एक सज्जन ने एक समाचारपत्र को लिख भेजी और तब दूसरे अखबारों ने यह समाचार बड़े चाव से छापा कि कलकत्ते के समीप एक बाग में मछमरनी नजर आई है। इसके बाद कई और पत्र भी छपे जिनमें इसके अन्य स्थानों पर देखे जाने की सूचना थी। गर्मी से पीड़ित जनों के हृदय में तब एक भरोसा पैदा हुआ कि अब बरसात शुरू ही होने वाली है।

वर्षा का आरम्भ होते ही मछमरनी की बाछें खिल उठती हैं। बड़े जोशो-खरोश के साथ यह वसन्त की बुलबुलों की तरह झाल-झाल पर अपनी पूछ उठा-उठा कर फुदकती है और गाती भी है। स्वभाव से चंचल होने के कारण कभी एक स्थान पर अधिक काल तक नहीं ठहरती, कभी यहाँ चहकती है, कभी वहाँ।

सरिता के तट कभी, कभी बागों के भीतर,

कभी आम के कुज, कभी महुए के तर पर।

स्टुअर्ट वेकर ने भारत में पाई जाने वाली स्वर्ण की मछमरनी की तारीफ में लिखा है—

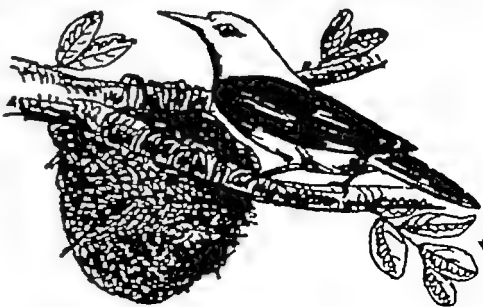
“भारत में सुन्दर, लम्बी पूछ वाली, श्वेत, स्वर्ण की नर मछमरनी को आम्र कुजों की हरियाली और छाया में आगे-पीछे उड़ते-फुदकते देखकर जिस सुन्दरता के दर्शन होते हैं वह अद्वितीय है।”

श्री वेकर ने जिस पक्षी की प्रशंसा इन सजीव शब्दों में की है उसका रूप आज न जानें और कितने गुणा अधिक चित्ताकर्षक होता यदि वह अहंकार के चगल में न पड़ी होती।



## पीलक

“शीतकाल के पक्षी”—शीर्षक अध्याय में उन पक्षियों की चर्चा है जो जाड़े के शुरू होते-होते, या उसके कुछ पहले शरदकाल में ही, यहाँ उत्तर से आ पहुँचते हैं और वसन्त के आते ही पुनः अपने वतन को—पहाड़ों को लौट जाते हैं। पर कुछ ऐसे पक्षी भी हैं जो अधिक ठंडक नहीं बर्दाश्त कर सकते, अतएव जाड़ों के पहले ही हमारे यहाँ से दक्षिण की ओर





नीड-निर्माण करता है । नर और मादा दोनों मिलकर घोंसला बनाते हैं । अधिकतर यह अपना घोंसला उसी वृक्ष पर या उसके आस-पास बनाता है जहाँ भुजगे का घोंसला होता है । कारण यह है, जैसा कि भुजगे के प्रकरण में कहा गया है, कि वह अपने लिए ही नहीं बल्कि अपने पड़ोसियों के लिए भी कोतवाल का काम करता है, कौओ जैसे चोर-झाकुओ को पास नहीं फटकने देता और यदि कभी वे आ भी पहुँचते हैं तो उन्हें ऐसी चोट देता है कि वे फिर आने का साहस नहीं करते, कान ऐँठ कर जाते हैं कि कभी भूल से भी फिर यहाँ आने का नाम न लेगे । मलयद्वीप-पुञ्ज में बादामी रंग के पीलक भी पाये जाते हैं, पर भारतवर्ष के किसी हिस्से में नहीं ।

पीलक तथा भुजगे का घनिष्ठ सम्बन्ध है । जहाँ दो-चार भुजगे वृक्ष पर शोर मचाते हुए नजर आये, गौर से दूढ़ने पर दो-एक पीलक भी वहाँ अवश्य ही मिलेंगे । कहा भी है—

रहते तर पर संग,  
पीलक और भुजंग ।



## हुदहुद

हुवहुवे रहवर चुनों गुफ्तां जमां  
काँ के शुद आशिक नय वेशव जे जाँ ।

—तब पथ-प्रदर्शक हुदहुद ने कहा कि सच्चे प्रेमी अपनी प्राणों की चिन्ता से रहित होते हैं ।

ग्रीष्मकाल का दिन था, बड़े कड़ाके की गर्मी पड़ रही थी । ऐसा प्रतीत होता था कि सूर्य की किरणें पृथ्वी और आकाश दोनों को जला कर, भस्मीभूत कर के ही दम लेगी । लोग छाह दूढ़ते फिरते थे, पर जिनके ऊपर शासन की जिम्मेदारी है उन्हें चैन कहा । बादशाह सुलेमान किसी आवश्यक कार्य से अपने उड़न खटोले\* पर बैठे हुए आकाश मार्ग से कही जा रहे थे । सूर्य के ताप से बेचैन हो रहे थे, सर पर कोई साया न था, इतने में कुछ गीध नजर आये । उन्होंने उन गीधों से कहा—“मैं धूप से जल रहा हूँ । जरा अपने पखों से सर पर साया कर दो और साथ-साथ चलो ।” उन्होंने बादशाह के इस अनुरोध पर कोई ध्यान न दिया, टाल-मटोल कर चलते बने । पर सुलेमान केवल बादशाह ही न थे, पैशावर भी थे । उन्होंने शाप दिया, ‘आज से तुम्हारी गर्दन परी से खाली रहेगी तथा धूप की गर्मी तुम्हें सताया करेगी । यही नहीं,

\*चकवस्त ने स्वर्गीय लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के समय लिखा था—

बन गई सरकार इन्दर के अखाड़े की परी,  
ले उड़ी मोटर उन्हें तख्ते सुलेमा की तरह ।

अंतिम पक्ष में इसी तख्त की ओर इशारा है । कहते हैं, बादशाह के इस उड़न-खटोला रूपी तख्त का यह गुण था कि उस पर बैठ कर वह जहाँ चाहें आ-जा सकते थे ।

जन-समाज तुम्हें घृणा की दृष्टि से देखा करेगा ।' यही हुआ और गृद्ध समाज आज-तक इस अभिशाप को भुगत रहा है ।

सुलेमान आगे बढ़े । इतने में हुदहुदो का सरदार नजर आया । उससे भी उन्होंने वही बात कही जो गीघो ने कही थी । सरदार समझदार पक्षी था, फौरन बादशाह की मदद में अपनी विरादरी के कुछ और पक्षियों को बुलाकर लग गया । सुलेमान की शेष यात्रा हुदहुदो के परो की छाया में बड़े आराम से कटी । स्वभावतः इस पक्षी-विशेष पर वह अतीव प्रसन्न हुए और बोले "सरदार ! वर मागो ।"

पर हुदहुद सरदार की समझ में यह न आया कि वह क्या मागे, अतएव उसने सरदारनी से जाकर सलाह-मशविरा किया । औरते भागने में तेज होती ही हैं, बुद्धि भी तीव्र होती है, सो सरदारनी ने सुनते ही कहा, "प्राणनाथ ! इस मौके को हाथ से न जाने दें, बादशाह से फौरन जाकर कहे कि हमारे सरो पर आज से सोने का ताज हुआ करे ।"

सारे परिवार को यह बात पसंद आयी, और उत्साहित होकर सरदारे-हुदहुद बादशाह सुलेमान के पास पहुँचा और सोने का ताज मागा । सुलेमान को उसकी मूर्खता पर हसी आ गयी । वे बोले, "सरदार, इसका परिणाम क्या होगा, इस पर सोच-विचार कर लिया है ?" सरदार ने कहा, "जहापनाह ! काफी सलाह-मशविरा करके मैंने यह माग पेश की है ।" सुलेमान वचनबद्ध थे, कह दिया कि आज से हुदहुदों के सर पर सोने का ताज हुआ करे ।

हुदहुदो ने देखा—सर पर एक सुन्दर सोने की कलेंगी निकल आयी है । वस उस दिन से वे गर्व-भरे मस्तक के साथ पृथ्वी तल पर विचरने तथा अन्य पक्षियों को नीची निगाह से देखने लगे ।

बादशाह सुलेमान जिस भवितव्य को सोच कर हैस रहे थे, वह सत्य प्रमाणित हुआ । मानव-समाज को जब यह मालूम हुआ कि हुदहुदो के सर का ताज सोने का है तो वे उनके पीछे पड़ गये और कुछ ही दिनों में अगणित हुदहुद उनके तीरो के शिकार बन गए । वश-सहार की नौबत आ गई । दुःख और क्षोभ से आपन्न हुदहुदो का सरदार पुनः सुलेमान के पास उपस्थित हुआ और बोला, "सरकार ! इस सोने के चलते तो अब ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा वश ही नष्ट हो जायगा, कुछ दिनों में सिवाय हमारी स्मृति के कुछ भी शेष न रहेगा—

कहेंगे सबेई नैन नीर भरि-भरि पाछे,

हुदहुद की शेष वस कहानी रहि जायगी ।"

सुलेमान ने कहा, "तभी तो मैंने तुझे चेतावनी दी थी । खैर, जाओ आज से तुम्हारा यह ताज सोने का नहीं, सुन्दर परो का होगा ।"

तब से हुदहुद के सर पर परो का ताज शोभा पा रहा है (चित्र सख्या ३८) और तभी से उनके पैगम्बर सुलेमान द्वारा सम्मानित यह पक्षी यहूदियों की दृष्टि में पवित्र भी माना जाने लगा है । यही नहीं, यूनान, रोम, आदि प्राचीन देशों के साहित्य में भी इसने स्थान पाया है ।

एक प्राचीन कथा के अनुसार, क्रीट के राजा जेरियस को दडरूप में, हुदहुद

बनना पड़ा था। वाइबिल में भी इसका जहाँ-तहाँ जिक्र आया है। मिस्र आदि देशों के चिकित्सा-ग्रन्थों में इसके शरीर के विभिन्न हिस्सों का विभिन्न रोगों के लिए प्रयोग बताया गया है, खास कर स्मरणशक्ति बढ़ाने तथा चक्षुरोगों के लिए।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार चार्ल्स किंग्सले ने अपनी पुस्तक 'वेस्टवर्ब' में इसे स्थान देकर इसकी प्रसिद्धि बढ़ायी है।

प्राचीन यूनान तथा ग्रीक के भीति-चित्रों में भी हुदहुद ने विशिष्ट स्थान पाया है। गरज यह कि हुदहुद ससार के प्रसिद्ध पक्षियों में है। और इसमें शक नहीं कि यह देखने में अत्यन्त सुन्दर एवं प्रभावशाली भी है। नर और मादा, दोनों के सर पर कलंगी होती है जो इनका सौंदर्य बढ़ाती है। शरीर की पोशाक भी काफी भड़कीली होती है। देखने से ही प्रतीत होता है कि यह किसी ऊँचे कुल का पक्षी है। इसके सारे बदन का रंग एक जैसा नहीं होता। पर काले-काले होते हैं, जिन पर मोटी सफेद धारियाँ बनी होती हैं। गर्दन का अगला हिस्सा बादामी रंग का होता है। चोटी भी बादामी होती है, पर उसके सिरे काले और सफेद होते हैं। दुम का भीतरी हिस्सा सफेद और बाहरी काले रंग का होता है। चोच पतली, लम्बी तथा तीखी होती है जिसके द्वारा

---

\* विलायत में बहुत दिनों से यह धारणा थी कि समुद्र के किसी टापू में अपरिमित धन, सोना-चाँदी गड़ा पड़ा है। इसकी खोज में प्राचीनकाल में, कई साहसी, धुन के पक्के लोगों के दल जहाज ले-लेकर, घर छोड़कर निकल पड़े थे और उन्होंने मार्ग में घोर सकट का सामना किया था : बहुतों ने सकट में पड़कर अपने प्राण तक गवा दिये थे। ऐसे ही एक साहसी व्यक्ति कैप्टन आक्सेनहम की चर्चा इस पुस्तक में है। वह इस प्रकार है :

शाम का समय है। आक्सेनहम अपने एक मित्र के घर आता है और गड़े हुए धन का तथा उसके अनुसन्धान में अपनी भावी यात्रा का जिक्र करता है। अचानक उसकी दृष्टि एक पक्षी पर पड़ती है और वह चाय के प्याले को मेज पर पटक देता है और कापता हुआ उद्भिन्न चित्त से, कमरे में दहलने लगता है, और कहता है—वहा, वहा, देखते हो, पक्षी, वह पक्षी, सफेद घेठवाला !

उसका मित्र उसकी इस बात को बहला देता है। कहता है, छोड़ो इन नासमझों की बातों को, आदि आदि।

आक्सेनहम होश में आता है, पुन इसकी चर्चा नहीं करता और चाय-पान कर चल देता है।

उसके चले जाने के बाद मिसेज ली ग्रेनभेले से कहती है—भगवान उसकी रक्षा करे !

ग्रेनभेले कहता है—नैडम, मैं इन शकुनों में विश्वास नहीं रखता। मिसेज ली कहती है—पर, सर रिचार्ड, उसके परिवार में भावी मृत्यु के पहले आज कई पुस्त से लोग इस पक्षी को देखते आये हैं। साउथ राटन में इस वंश के जो व्यक्ति रहते थे उनकी मा की मृत्यु के पहले यह नजर आया था और उनके भाई की मृत्यु के पहले भी।

कैप्टन आक्सेनहम अपने सफल पर दृढ़ रहता है, जहाज ले कर धन की खोज में निकलता है और यात्रा में अपने प्राण गवा देता है।

यह आसानी से जमीन के भीतर छिपे हुए कीड़े-मकोड़ों को ढूँढ निकालता है। इसे फल-फूलों से शौक नहीं, कीड़े मकोड़ों से ही यह अपनी उदर-पूर्ति करता है, और उनकी तलाश में यह गाव के आसपास के बाग-वगीचों तथा खडहरो में घूमता हुआ चोंच से गिरे हुए पत्तों को हटा-हटा कर इन्हें ढूँढता फिरता है। मिट्टी तक खोद डालता है। पर आत्मरक्षा के लिए पूरी तरह सतर्क भी रहता है। ज़रा-सी आवाज हुई और वह उड़कर डाल पर जा बैठता है। ऐसे तो लगता है कि वह उड़ने में सुस्त-सा है, पर मौका आने पर इस तेजी से भागता है कि बाज़ या शिकरे के भी छक्के छुड़ा देता है।

साधारणतः यह अपनी चोटी को समेटे रहता है पर जैसे ही किसी ने इसे भड़काया, किसी तरह की आवाज हुई और यह सशक हो उठा। तब यह परो को फैला डालता है और उस वक्त इसकी कलंगी की रूपरेखा हवहू किसी सुन्दर पक्षी जैसी हो जाती है। उड़ता हुआ हुदहुद एक बड़ी तितली जैसा लगता है, चित्रित, सुन्दर।

हुदहुद की भी कई उपजातियाँ हैं और कई उपनाम भी। इसकी दो उपजातियाँ उल्लेखनीय हैं। एक वह जिसे हम विलायती हुदहुद कह सकते हैं जिसे प्राचीन रोम में उपुपा तथा यूनान में इपीपस के नाम से पुकारते थे। यूरोप के तमाम देशों में यह पाया जाता है। भारतवर्ष के भी हिमप्रदेशों में मिलता है। जाड़ों में बंगाल और बिहार के भी कई हिस्सों में यह देखा गया है। इसकी लम्बाई प्रायः एक फुट होती है, पेट सफेद होता है।

दूसरी उपजाति वह है जो भारतीय हुदहुद के नाम से विख्यात है। रंग इसका भी बहुत कुछ विलायती हुदहुद जैसा ही होता है। फर्क इतना है कि जहाँ विलायती हुदहुद का रंग चमड़े का सा होता है, इसका दालचीनी का सा। सफेद धारियाँ कम होती हैं, पाखें छोटी, पर चोंच विलायती हुदहुद की अपेक्षा अधिक लम्बी होती है। पश्चिमी पाकिस्तान को छोड़कर भारत तथा पाकिस्तान के बाकी सभी हिस्सों में यह पाया जाता है, पूर्व में हैनान तक में। फरवरी से लेकर मई तक इसका अंडे देने का समय है। प्रकृति दोनों की एक जैसी ही होती है।

हुदहुद के कई उपनाम हैं। कीड़ों की खोज में घास और दूब खोजने के कारण इसे "दुबया" कहते हैं, सुन्दर पोशाक तथा सर पर की कलंगी, तुर्रा के कारण मुसलमान इसे "शाह सुलेमान" कह कर पुकारते हैं।

मनुष्य की तरह पक्षियों को भी नहाने का बड़ा शौक है। कुछ तो चोंच से अपने परो पर पानी छिड़क-छिड़क कर नहाते हैं, कुछ धूल से। हुदहुद धूल से नहाने वाले पक्षियों में है। पर धूल में नहाकर भी यह अपनी गन्दगी के लिए ही मशहूर है। फ्रेंच भाषा की एक लोकोक्ति है—“हुदहुद-सा गन्दा” और इसमें शक नहीं कि यदि आप किसी हुदहुद के पास जाय तो दुर्गन्धि से घबड़ा उठेंगे। कारण यह है कि इसे न तो घोंसला बनाने की तमीज है, न उसे साफ रखने की। इसका घोंसला विल्कुल ही वेढगा बना होता है और जहाँ अन्य पक्षी प्रतिदिन घोंसले को अपनी चोंच से साफ कर लिया करते हैं, यह सारे गन्दे पदार्थ ज्यों-के-त्यों छोड़े रहता है। यही नहीं, मादा जो कि तीन से दस तक अंडे देती है, अंडों पर से तब तक नहीं हटती जब तक कि उन्हें फोड़कर बच्चे बाहर नहीं

निकल आते । वह दिन-रात वही बैठी रहती है, नर बाहर से भोजन ला-ला कर उसे खिला जाता है । साल में वह दो बार अंडे देती है । बोलते समय यह तीन वा 'उक-उक-उक' सा कुछ कहता है, जिसे विलायत के लोग हुप-हुप-हुप समझते हैं । इस ध्वनि के कारण अंग्रेजी में इसका नाम हूपू पड़ा, फारसी में हुदहुद ।

इस देश की नागर भाषा में यह अपने फारसी नाम से ही प्रसिद्ध है, पर ग्रामी भाषा में कही-कही इसे "हजामिन" चिड़िया भी कहते हैं, शायद इसलिये कि इसका चोंच नाखून काटने वाली "नहरनी" नामक औजार से मिलती-जुलती है । इस देश के लोक-साहित्य में भी इसका जहां-तहां उल्लेख आता है । पश्चिमीय मिथिला के भाटों में प्रचलित एक लोक-गीत की एक पंक्ति मशहूर है—

चंत मास बन मोजरन लागे,  
हुदहुद को व्याह रचा है,  
साहब बन झूला बंठा है ।

इसी प्रकार अन्य प्रदेशों के लोक-साहित्य में भी इसने स्थान पाया है ।



## मुटरी या महलाठ

यदि गुलाबचश्च अपनी शरारतो और छेड़खानियों के लिये प्रसिद्ध है तो मुटरी जिसके महलाठ, कोकैया, महताब, टाकाचोर आदि और भी कई नाम हैं—अपनी चौर प्रवृत्ति के लिए । यदि आपको चोरी की विद्या सीखनी हो तो मुटरी से सीखें ।

यह कद में प्रायः डेढ़ फुट लम्बी चिड़िया है, जिसकी लम्बाई का एक फुट तो केवल दुम में चला जाता है । नर और मादा की शक्ल-सूरत में कोई भेद नहीं है । धूमिल काले रंग का इसका सिर, गर्दन और सीना है, शरीर के बाकी हिस्से कथई रंग के हैं । दुम और डेने कुछ स्याही लिए हुए सफेद होते हैं । पूँछ के बीच के दो पर सबसे बड़े और दोनों किनारों के सबसे छोटे होते हैं । शायद काली करतूतों के कारण ही इसकी चोंच बिल्कुल काली होती है । इसकी कई किस्में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में पाई जाती जाती हैं ।



यह सर्वभक्षी है । नाज के दाने तथा फल से लेकर कीड़े मकोड़े, साप-छछूँदर तक यह हजम कर जाता है । मानो इसकी ब्रह्मबुद्धि हो । इसके लिये सभी समान हैं, शुद्धाशुद्ध के विचार तो उनके लिये हैं, जो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के तत्त्व तक नहीं पहुँच पाये हैं ।

अन्य पक्षियों के अंडे चुराने में इसे कामयाबी हासिल है । न जाने कितनी फाखताओं के अंडे चुरा-चुराकर इसने हजम कर लिये होंगे । निस्सन्देह कौए भी इसके चौर-चातुर्य की बराबरी नहीं कर सकते ।

चोर तो यह है ही, पर सीनाजोर भी है । जब उत्तेजित होता है तो जोर-जोर से बोलने लगता है, “कोक-ली”-“कोक-ली” की धुन लगा डालता है तथा सीना तान कर लड़ने के लिये तैयार हो जाता है ।

साधारणतः फरवरी से जुलाई के बीच यह अपना वेढगा-सा घोंसला आम अथवा इसी प्रकार के किसी बड़े वृक्ष पर बनाता है । पड़ोसी इसे वर्दाश्त नहीं । यदि उसी वृक्ष पर कोई दूसरा पक्षी घोंसला बनाने आये तो फौरन विगड खड़ा होता है और उसे ऐसी धता बताता है कि वह कान ऐंठ लेता है कि हम फिर कभी इस दरख्त पर न आयेंगे ।

इसके अंडे पर तरह-तरह के रंग होते हैं—कहीं लाल, कहीं गुलाबी, कहीं सफेद, कहीं पीला, कहीं हरा, कहीं बादामी, कहीं बैंगनी । शायद ही कोई रंग हो जिसकी छटा इस पर न हो । कहते हैं, इसके अंडे का रंग आबोहवा के मुताबिक बदलता रहता है, अर्थात् वगाल में एक रंग, सिन्ध में दूसरा, दक्षिण में तीसरा । पता नहीं इसमें कहा तक तथ्य है, और यह सम्भव नहीं कि इस विगडे-दिल से जाकर कोई इसके सम्बन्ध में जानकारी हासिल करने की चेष्टा करे, तुरन्त “कोक-ली”-“कोक-ली” कह कर लड़ पड़ेगा । फिर तो आपकी जान आफत में आ जायगी ।

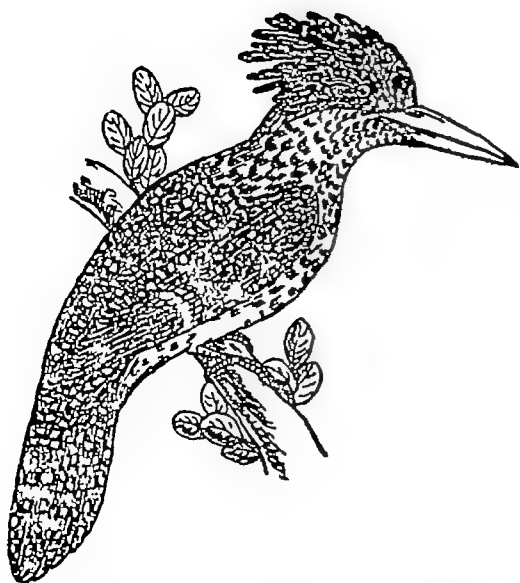
इसके बच्चे भी मा-बाप की ही तरह शोर मचाने वाले होते हैं और शायद इनके पेट में बड़वानल का कोई टुकड़ा है कि ये हर समय खाने के लिए हुड़दग मचाये रहते हैं । मा-बाप कीड़े-मकोड़े ला-लाकर इनके पेट की ज्वाला शान्त करते हैं । बड़े होकर भी ये बहुत दिनों तक मा-बाप के पीछे-पीछे घूमा करते हैं, पर अन्त में प्रकृति-नियमानुसार इन्हें अपने पावों पर खड़ा होना ही पड़ता है ।

## किलकिला

नदी अथवा ताल-तलैयाँ के किनारे रहने वाले पक्षियों में किलकिला एक विशिष्ट पक्षी है । इसे अंग्रेजी में “किंगफिशर” कहते हैं । इसकी कई उपजातियाँ हैं । लम्बी चोंच, छोटे पैर वाले किसी पक्षी को यदि आप जल के किनारे के किसी वृक्ष की डाल पर बैठा हुआ देखें तो समझ ले कि यही वह पक्षी-धीवर किलकिला है, जो मछली की ताक में बैठा हुआ इस मौके का इतजार कर रहा है कि कोई छोटी-सी मछली नजर आए और यह चील की तरह क्षपट्टा मार कर उसे पकड़ ले । इसके शरीर का अधिकतर भाग कथई रंग का होता है, केवल ऊपर का हिस्सा नीला तथा इसके डैने के सिरे काले रंग के होते हैं । चोंच और पाव धूमिल लाल रंग के होते हैं ।

इसकी एक छोटी जाति भी है, जिसका स्वभाव विल्कुल इसके जैसा होता है,





पर रंग में थोड़ा फर्क होता है। इसके सर पर काली-नीली धारिया होती है। पूछ, पीठ और डेने नीले होते हैं, निचला हिस्सा लाल, चोंच काली, गाल श्वेत तथा पैर विल्कुल लाल होते हैं।

बड़े किलकिले मार्च से जुलाई तक और छोटे जनवरी से जून तक घोंसले बनाते हैं। नदी के किनारे कगारों में ये घोंसला बनाते हैं। इनके घोंसलों में पहले तो एक सुरग होती है, फिर एक घर, जहाँ मछलियों के अस्थिपिंजर बिखरे रहते हैं। आखिर मछुए का घर जो ठहरा।

किलकिला की विरादरी का ही पक्षी है कौडियाला, जिसका कद मँना-जैसा होता है तथा जिसके मछली पकड़ने के ढंग में भिन्नता है। वह किसी दरख्त की शाख पर बैठ कर मछली की प्रतीक्षा नहीं करता बल्कि निरन्तर जल के ऊपर उड़ता रहता है। मछली को देखते ही अपने पख बद कर घड़ाम से गिर पड़ता है तथा पलक मारते चोंच से उसे दबाये किलकिल शब्द के साथ उड़ता हुआ नजर आता है। इसका निशाना शायद ही कभी गलत पड़ता हो। फिर किसी वृक्ष पर जा कर उसको खाने में जुट जाता है।

चोंच इसकी खूब लम्बी तथा नुकीली होती है, पर पाव अत्यन्त छोटे होते हैं। रंग दोनों का ही काला होता है। इसके सारे वदन में सफेद और काली धारिया रहती है, नीचे का हिस्सा सफेद होता है और सीने पर काली पट्टिया होती हैं।

कौडिल्ली इसी जाति का एक दूसरा पक्षी है, जिसका कद छ सात इंच होता है तथा रंग कौडिल्ले या कौडियाला से भिन्न होता है। इसका ऊपरी हिस्सा नीला, गर्दन सफेद तथा नीचे का हिस्सा वादामी रहता है। गालों पर तथा दुम के वगल में कट्यई की झलक रहती है, चोंच काली, पैर लाल होते हैं।

इसके अंडा देने का समय मार्च से जून तक है। इनकी संख्या ५ से ६ तक होती है।

ये सभी मछली पकड़ने में अत्यन्त तेज हैं। तभी तो कविवर रसनिधि ने कहा है—

मेरे कान सुजान तुव, नैन-किलकिला आइ,  
हृदय-सिन्धु ते भीन-मन, तुरत पकरि लँ जाइ !



सकल सिस्ट करता रची प्रम महंमव काज ।  
तीन लोक को जान कहि दीनों ताको राज ॥  
बाज जुरा बहरो कुही सब कौ एक बिचार ।  
ओषद समझाऊ भलै सुनि-सुनि लेहु पिलार ॥  
जे ओषद कहि-कहि गये पहिले मीर-सिकार ।  
ते इनमें आने बहुत ग्रन्थ निहार बिचार ॥

### चौपाई

जानहु बढे हुनर पिलार ।  
हाथ रैष पछी करि प्यार ॥  
रात घाँस जो राखै हाथ ।  
कवहुं ताको तजै न साय ॥  
यातौ होइ मेल जब मन कौ ।  
तवहि भूलजै रहिवी बन कौ ॥

यूरोपीय देशों में भी बाज की काफी पूछ थी तथा लोग इसे हाथों पर लिये फिरते थे । जर्मनी के प्रसिद्ध सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय ने तो बाज के द्वारा पक्षी के शिकार की विद्या पर स्वयं एक विस्तृत ग्रंथ लिखा था जो इस विषय की एक बहुमूल्य पुस्तक है ।



इटली में प्राचीन काल में बाज पालने की प्रबल परियादी थी । बड़े-बड़े धनी-मानी, अमीर-उमरा हाथों पर बाज, शिकारा लिये फिरते थे । लार्ड टेनिसन ने अपने एक एकाकी नाटक में इसका बड़ा सुन्दर चित्र खोचा है । नाटक के शुरू में उस देश के एक प्रमुख

सामन्त (काउन्ट) हाथ पर बाज बिठाये उपस्थित होते हैं और कहते हैं—

Hear that, my bird ! Art  
thou not jealous of her ?  
My Princess of the cloud, my plumed  
purveyor,  
My far-eyed Queen of the Winds -

सुनो मेरी प्रिय !

क्या तुम्हें इस बाज से ईर्ष्या नहीं होती ?

यह—जो वादल-देश को राजकुमारी है

यह—जिसके शोभन पंख हैं

यह—जो दूर-दृष्टि वाली पवन-महिषी है ।

इटली ही नहीं सारे यूरोप के सामन्त परिवारों में बाज, बहरी या शिकरे को नोग उसी तरह प्यार करते थे जैसे कि आज अलसेशियन आदि विशिष्ट जाति के कुत्तों से करते हैं । इंग्लैंड की प्रसिद्ध शासिका महारानी एलिजाबेथ प्रथम बाज के द्वारा शिकार करने में परम प्रसिद्ध थी । गरज यह है कि एक जमाना था जब कि ससार भर में इस पक्षी की तूती बोलती थी तथा राज-दरवार से लेकर साधारण जनता तक में इसे सम्मान प्राप्त था ।

स्वामाविक था कि ऐसा पक्षी, जिसमें जोश है, उमग है, भागने की जगह आक्रमण करने की प्रवृत्ति है, जो निर्भय होकर झपटता है, जिसकी नसों में गर्म खून प्रवाहित है, जिसके पंजों में ताकत है, वह कवि समाज का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित करता । ऐसा ही हुआ भी है तथा ससार के अनेक कवियों ने इसकी खूब ही प्रशंसा की है । इकबाल ने, जो इसके उपर्युक्त गुणों पर आशिक थे, लिखा—

हुमायों कबूतर का भूखा नहीं मैं,

कि है जिव्दगी बाज की जाहिदाना,

झपटना, पलटना, पलट कर झपटना,

लहू गर्म रखने का है इक वहाना ।

य पूरब य पच्छिम—चकोरों की दुनिया,

मेरा नीलगू आसमा बेकराना,

परिन्दों की दुनिया का दरवेश हूँ—मैं,

कि शाहीं बनाता नहीं आशियाना ।

राजस्थानी लोक-कवि राजिया ने कहा —

नमचर विहंग निरास, विन हिम्मत लाखां वहै,

बाज थपट कर वास, रजपती सूं राजिया ।

—आकाश में ऐसे तो अनेक पक्षी मँडराते फिरते हैं, पर वहा शासन तो बाज का ही रहता है । यही तो रजपूती शान है ।

बाज की कई श्रेणियाँ हैं । वैसे कुछ लोग बहरी और शिकरे को साधारणतः भिन्न पक्षी मानते हैं, पर मेरे विचार में ये सभी एक ही जाति की विभिन्न उपजातियाँ हैं, इन्हें अलग मानना गलत है । एक ही प्रवृत्ति, समान काम-धन्वे, समान कार्य-प्रणाली, फिर इन्हें अलग क्यों माना जाए ? ये तीनों ही शिकारी पक्षी हैं, जिनमें जिसे हम बाज कहते हैं वह सबसे बड़ा है, सबसे बहादुर भी ।

बड़े-बड़े पक्षियों—तोता, कबूतर, तीतर, वनमुर्गी आदि—तथा छोटे-छोटे जानवरों तक का गला दबा कर यह क्षण मात्र में उनका काम तमाम कर डालता है । देखने में इसके शरीर के ऊपर का रंग भूरा, नीचे का सफेद होता है जिसमें काली-भूरी लकीरें

पड़ी होती है। आंखें काली, डंने लम्बे और नुकीले होते हैं। इसकी चोंच मुड़ी हुई तथा खूब मजबूत होती है, जो मांस चीरने-फाड़ने के लिए बड़ी उपयुक्त है।

बाज की मादा 'जुरा' कहलाती है। शिकारी इसे शिकार पकड़ना आसानी से सिखा लेते हैं। यह कद में नर से लम्बी होती है। नर-मादा के रूप-रंग में भी कुछ अंतर होता है। आमतौर पर दोनों को ही बाज के नाम से पुकारा जाता है।

बाज के बाद बहरी का नाम आता है (चित्र सख्या ४४)। यह बाज से कुछ छोटा होता है पर शिकार पकड़ने में किसी कदर कम नहीं। बहरियों में 'लगर' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। रंग में इसके शरीर का ऊपरी हिस्सा भूरा होता है, गर्दन तथा नीचे का हिस्सा सफेद, आंख के ऊपर से गर्दन तक श्वेत रेखा, सीने से पेट तक छोटी-छोटी क्यर्ई लकीरें होती हैं। दुम भूरी होती है, आंख की पुतलिया भूरी, पैर पीले, पंजे काले होते हैं। चोंच टेढ़ी और झुकी हुई-सी, जिसमें एक दात होता है, डंने बड़े एवं मजबूत होते हैं।

बहरी की ही एक किस्म है—खेरमुत्तिया। इसके रंग में स्लेटी तथा हल्के बादामी रंग प्रधान हैं। आदतें लगर जैसी ही होती हैं।

तृतीय शिकारी पक्षी शिकरा है, जो कद में सबसे छोटा पर प्रसिद्धि में सबसे बड़ा-चढ़ा है। रंग-रूप में हू-बहू पपीहे जैसा होता है। शरीर का ऊपरी हिस्सा राख के रंग का, डंने भूरे, नीचे का हिस्सा हल्का बादामीपन लिए हुए सफेद, चोंच तेज पर छोटी और आगे की ओर मुड़ी हुई होती है। आंखें तथा पैर पीले होते हैं।

इनका हमला ज्यादातर छोटी चिड़ियों, छिपकलियों तथा चूहों पर होता है। यह बिजली की तरह तेज होता है।

इसकी विरादरी का एक पक्षी "गौरैया-शिकरा" होता है, जो अधिकतर गौरैया का ही शिकार किया करता है।

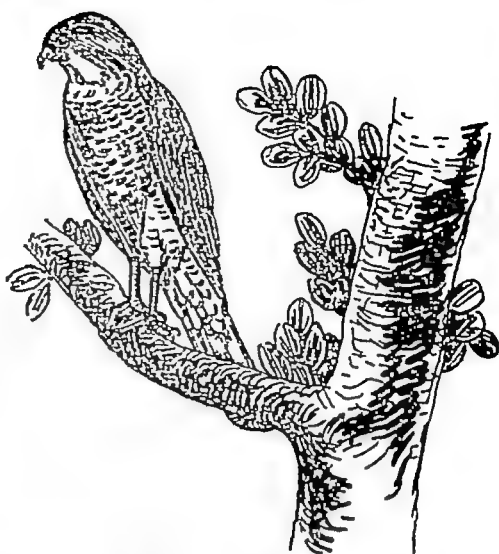
शिकरो के पालने का रिवाज इस देश में ज्यादा है। दो-चार दिनों में ही ये पालतू बन जाते हैं तथा हाथों से उड़-उड़ कर शिकार पकड़ना आसानी से सीख लेते हैं।

सक्षेप में भारतीय बाज की ये ही तीन उपजातियाँ हैं, पर इन उपजातियों में भी अनेक किस्में हैं, तथा इनके रूप-रंग भी अनेक हैं। कुछ किस्में तो इस देश में बारह मास रहती हैं और कुछ केवल जाड़ों में ही नजर आती हैं। इन सब की मादा, नर से ज्यादा लम्बी होती है तथा शिकार पकड़ने में तेज भी।

शिकारी पक्षियों में बाज को वन अधिक प्रिय है, बहरी तथा शिकरे को गाव के बड़ों-पड़ों के खेत, अमराई आदि। ये अधिकतर शांत भाव से पेड़ों पर छिपे



बैठे रहते हैं, शिकार को अकेला देखकर उस पर टूट पड़ते हैं और पलक मारते उसे परलोक पहुँचा देते हैं। पर कुछ ऐसे भी हैं जो ज्यादातर उड़ते रहते हैं—कभी-कभी खूब ऊँचे भी चले जाते हैं और अनुकूल अवसर देखकर शिकार पर आक्रमण करते हैं। कुछ को स्वयं शिकार करने की अपेक्षा मरे हुए पक्षियों तथा छिपकिली आदि का भक्षण ज्यादा पसन्द है।



संस्कृत में इन सभी पक्षियों को 'श्येन' कहा है। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक में लिखा है कि स्वराज्य का अधिकारी वही जनपद है जहाँ और चीजों के साथ-साथ श्येन आदि पक्षी काफी संख्या में हों जिनकी वजह से फसल को नुकसान पहुँचाने वाली चिड़िया निर्भय होकर न विचरे। वाज्र की इस उपयोगिता का उल्लेख सिवाय ऋग्वेद के इस सूक्त के संस्कृत के किसी अन्य ग्रन्थ में देखने को नहीं मिला है।

ये ग्रीष्म से लेकर शरद काल के आरम्भ तक अड़े देते हैं। अड़ों की संख्या दो से अधिक होती है। इनके बनाए हुए घोंसले देखने में कतई सुन्दर नहीं होते, बड़े बेढील होते हैं। ये पेड़ों की क्षुरमुट में घोंसले बनाते हैं।

वाज्र, बहरी, शिकरा—इन तीनों में नर की अपेक्षा मादा शिकार पकड़ने में ज्यादा तेज होती है और इसलिए पालने वाले नर की अपेक्षा, मादा को अधिक पसन्द करते हैं जैसा कि लेख में उद्धृत लार्ड टैनिसन की पक्तियों से साफ-साफ परिलक्षित है।

## गरुड़

भगवान विष्णु का वाहन होकर भी गरुड़ की प्रवृत्ति वैष्णवी न हुई। शिकारी पक्षियों में यह सब से बड़ा है, सब से भयंकर भी। इसकी कई किस्में हैं तथा इसकी कोई न कोई किस्म ससार के हर देश में पाई जाती है। कलगीदार, सर्पवत्, श्वेत नेत्र, मत्स्य मारक आदि इसकी कई श्रेणियाँ हैं। भारतवर्ष में प्रायः ये सभी पाई जाती हैं। सफेद आँखों वाला गरुड़, जिसकी टाँगें औरों की अपेक्षा अधिक लम्बी होती हैं, केवल जाड़ों में आता है। बाकी इस देश की बारहमासी चिड़ियों में है।

श्वेतनेत्र गरुड देखने में अत्यन्त भद्दा होता है तथा इसका रंग हल्का पीला, भूरा या गाढा काला होता है। इसकी दुम गोल होती है तथा नीचे से देखने से इसके डैने पारदर्शक प्रतीत होते हैं। कलगीदार गरुड के चेहरे पर मछली के चोइटे के किस्म के हल्के पर होते हैं, तथा इसकी टांगें भी बहुत दूर तक पंरों से आच्छादित रहती हैं।



पर सब में भयानक व्यक्तित्व रखने वाला उस जाति का गरुड है, जिसे उकाब कहते हैं। यह ससार भर में पाया जाता है तथा अपन

भयानकता के कारण पक्षियों में शेर माना जाता है। सबसे प्रसिद्ध और जबर्दस्त "सुनहला उकाब" है। इसका सर चिपटा और अत्यन्त डरावना होता है। चो तेज, टांगे पंरों से ढकी हुई, पंजे अत्यन्त तीक्ष्ण होते हैं। दुम लम्बी होती जिसके द्वारा यह आसानी से पहचाना जा सकता है। इसकी आखें सबसे अधिक तेज हैं। इसकी ताकत का अन्दाजा लगाना हो तो एक विदेशी दर्शक की आखों देख घटना का वर्णन पढ़िये—

"सुदूर आकाश में एक उकाब मडरा रहा था, नीचे मैदान-चरागाह में भे चर रही थी। अचानक उसकी दृष्टि उन पर पड़ी और वह धीरे-धीरे नीचे उतरत हुआ-सा प्रतीत हुआ। और फिर क्षणों में यह बड़ी तेज गति से एक भेमने पर क्षपट और उसे तीक्ष्ण पंजों में पकड़ कर बात की बात में उसे ऊपर ले उठा। पास के एक पर्वत की चोटी पर उसकी मादा बैठी मानो उसका इतजार कर रही थी। वह वहाँ पहुँचा और कुछ काल में उन्होंने मिलकर अभागे भेमने का सफाया कर दिया।"

जिस वक्त यह अपने शिकार को खाता रहता है, अपने डैनों से उसे ढं रहता है। उकाबों की यह एक खास रीति है। जबर्दस्त और भयकर शिकारी है यह कहते हैं, कभी-कभी मौका पा कर यह मनुष्य के छोटे-छोटे शिशुओं तक को उठा जाता है। इसके घोंसले अस्थिपजरो से भरे होते हैं। उकाब के एक घोंसले : एक बार ५० खरगोशों की ठठरिया मिली थी और ३०० बतखों तथा भेडों : अस्थिपजर।

समुद्री उकाब तथा उष्ण प्रान्तों में पाये जाने वाले छोटी दुम के उकाब भी को कम खतरनाक नहीं होते। बड़ी-बड़ी भेडों तक को ये उठा ले जाते हैं तथा छोटे-छोटे जीवि वन्दरों तक को खा डालते हैं। कद में मादा नर से बड़ी होती है, पर रंग-रूप एक जैसे ही होते हैं।

निस्सन्देह उकाब बड़ा बहादुर पक्षी है। अपनी तेज गति तथा वीरता।

कारण ही तो उसे भगवान विष्णु का वाहन बनने का सौभाग्य प्राप्त है ।

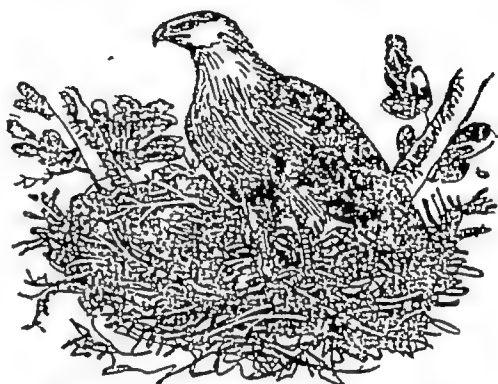
हमारे पड़ोसी देश इंडोनेशिया की राज्याधीन हवाई सेवा का नाम भी गरुड इंडोनेशियन एयरवेज है । इंडोनेशिया के राष्ट्रपति के हवाई जहाज को "गरुड" की सज्ञा प्राप्त है ।

आज से बहुत दिन पहले, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में, कलकत्ते के एक एंग्लो इण्डियन कवि "डिरोज़ियो" ने, जिसे अपने भारतीय होने पर गर्व था तथा जिसके हृदय में देश-प्रेम की हिलोरें उठा करती थी, भारत के दुर्दिन की चर्चा करते हुए लिखा था—

And Eagle pinion is chained at last  
And grovelling in the dust liest thou !

अर्थात् गरुड के पंख अन्त में जजीरो से बंध गये और तुम भूमि पर हीन अवस्था में पड़े हुए हो ।

गरुड की शक्तिशाली भारतवर्ष का उपमान बनाकर कवि डिरोज़ियो ने भी इसकी कद्र की है—इसकी बहादुरी का सिजदा किया है । अफसोस है कि डाक्टर इकबाल, जो कि सपट्टा मारने वाले बाज पर इतने फिदा थे, उकाव की बहादुरी से प्रभावित न हुए ।



दक्षिण भारत में एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है जिसे "पक्षीनीर्थम्" (चित्र सख्या ४६) के नाम से पुकारते हैं । वहाँ शताब्दियों से लगभग दोपहर के समय गरुड का एक जोड़ा सुदूर आकाश से उतर कर आता है और फिर मंदिर के पुजारी द्वारा दिये गये खाद्यान्न को ग्रहण करके अतरिक्ष को लौट जाता है । सैकड़ों आदमी उस समय उसके दर्शन के लिए वहाँ पहले से उपस्थित रहते हैं तथा उन्हें पूजा चढ़ा कर अपनी गरुड-भक्ति का परिचय देते हैं ।

किसी कवि ने लिखा है—

बड़े काम जो करने हों तो

जा पहाड़ से टक्कर ले,

व्यर्थ गली का धक्कम-धक्का

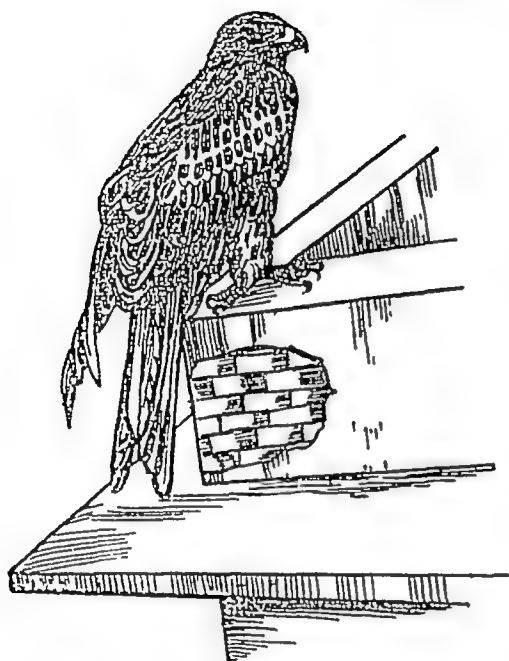
इतका प्रेम मनुज तज दे ।

मनुष्य गली-कूचो, छोटी-छोटी वस्तुओं का प्रेम भले ही न तजे, उनकी माया में मड़ा रहे, पर गरुड नीचे की ओर दृष्टिपात तभी करता है जब उसे कोई शिकार पकड़ना होता है, वर्ना ऊपर से ही मोहब्बत है उसे । धरती तल पर नहीं, वह पहाड़ों की चोटियों अथवा उच्च तरुशिखरों पर बैठता है, ताल-तलैयों के तट पर नहीं ।



स्वाभाविक है कि वह अपना घोंसला भी किसी बड़े वृक्ष के ऊँचे शिखर पर ही बनाता है, नीचे की झालियों पर नहीं।

## चील



क्षपट्टा मारने में चील मशहूर है। यह अक्सर मनुष्य के गृह-प्रांगण के ऊपर आकाश में महराती रहती है और किसी खाद्य वस्तु को देखते ही उस पर बिजली की तरह टूटती है और क्षणों में उसे ले उड़ती है। मनुष्य के हाथ से चीज छीन ले जाना तो उसके बाएँ हाथ का खेल है, कभी-कभी हाथ को अपने पंजों की चोट से घायल भी कर जाती है। खाद्य-पदार्थ ही नहीं, हाथ से जेवर तक ले जाते हुए उसे देखा गया है।

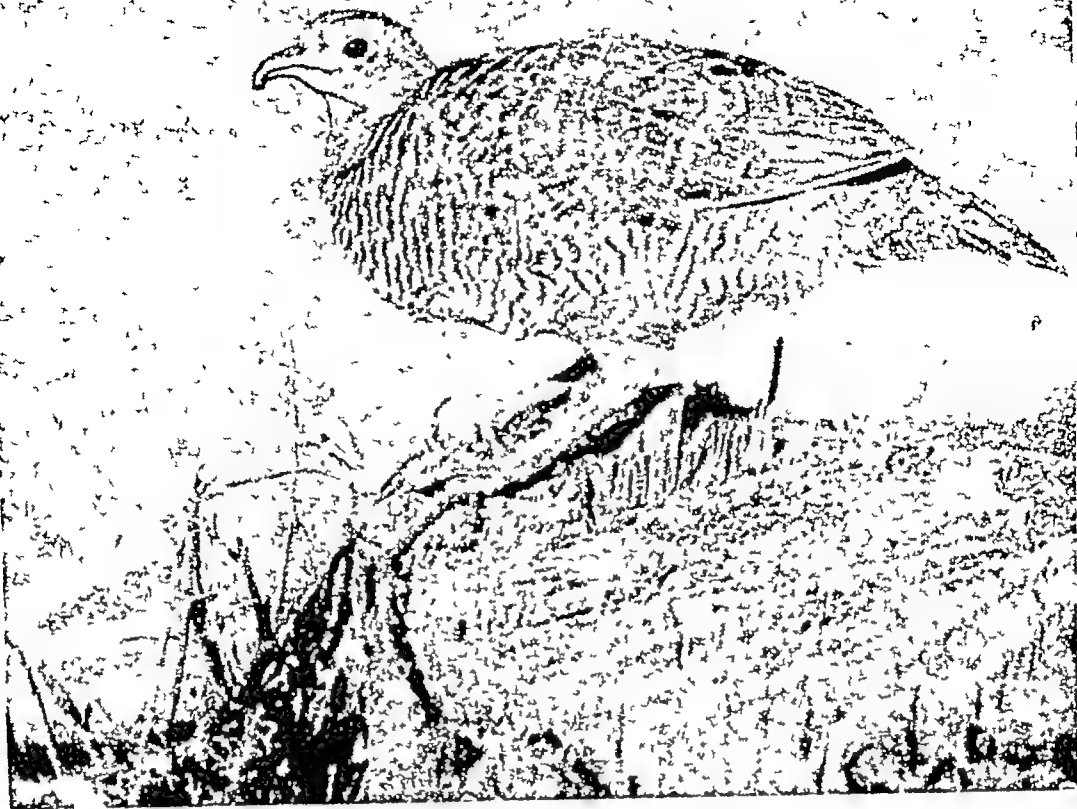
मास-मछली की दुकानों के पास चीले हमेशा महराती रहती है तथा उनके अडोस-पडोस में रहनेवाले लोगों की जान आफत

म किए रहती हैं। क्षपट्टा मारने के इनके कौशल ने ही "चील-क्षपट्टा" कहावत को जन्म दिया है।

चीलो को गोश्त तथा मछली अत्यधिक प्रिय है। कविवर बिहारी ने ठीक ही लिखा है—

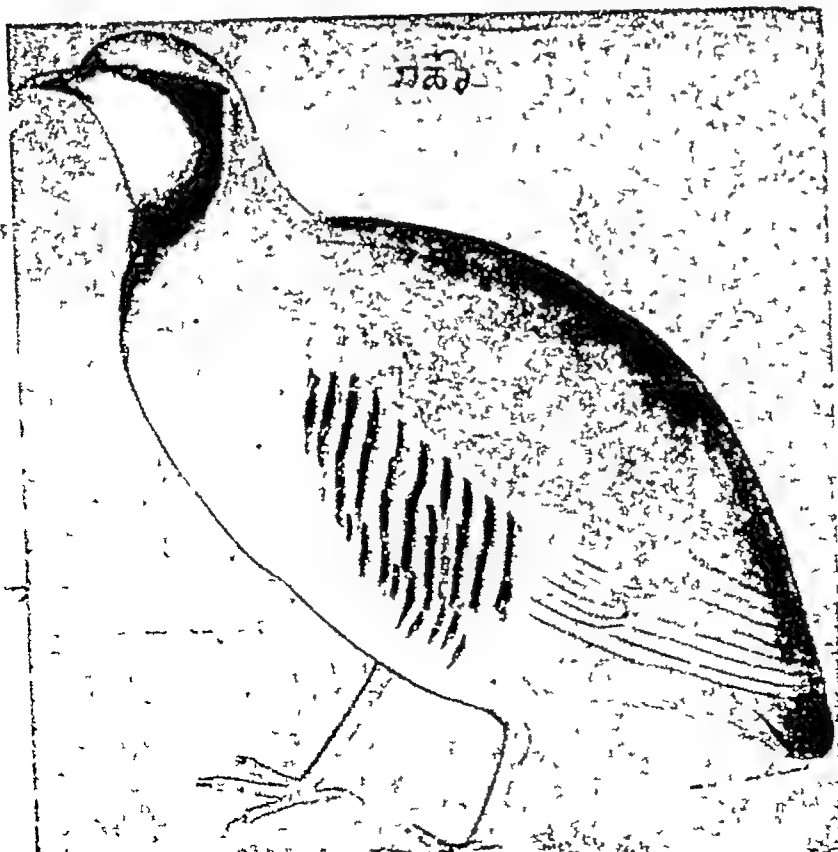
“वचन बड़ी सबील हूँ, चील्ह घोंसुवा मांस।”

ये कभी-कभी दूसरे पक्षी के बच्चे को भी चुरा ले जाती है। गिरगिट, चूहे आदि भी इन्हें काफी स्वादिष्ट लगते हैं। पैनी दृष्टि तो इनकी है ही, हजारों फुट की ऊँचाई से ये खेतों में विचरते हुए चूहे, गिरगिट आदि को देख लेती हैं, विद्युत्-गति से नीचे उतरती हैं और फिर उन्हें पंजों में दबोच कर किसी वृक्ष पर जा बैठती हैं और क्षणों में चट कर जाती हैं। चील चोच से शिकार नहीं पकड़ती। यही कारण है कि जब वह कोई खाद्यपदार्थ ले कर उड़ती है तो कौए उससे रास्ते में उसे छीनने का यत्न करते हैं। यदि वह चोच चोच में होती तो कौए को निस्सन्देह ऐसा करने का साहस न होता। चील



तीतर

चित्र सख्या ५४



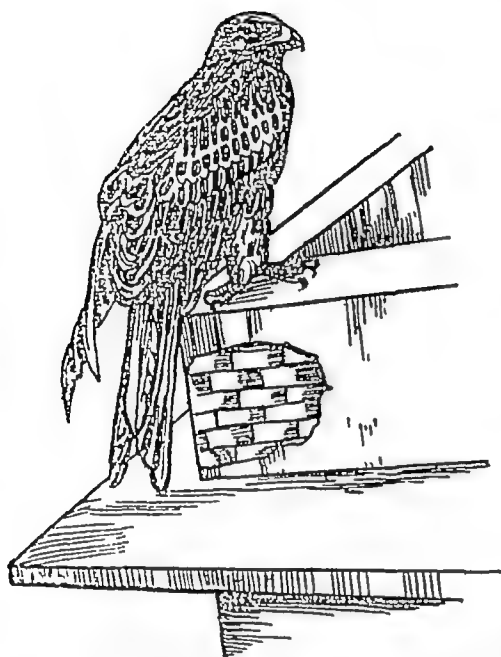
चित्र सख्या ५५

चकोर

स्वाभाविक है कि वह अपना घोंसला भी किसी बड़े वृक्ष के ऊँचे शिखर पर ही बनाता है, नीचे की ढालियों पर नहीं।

६

## चील



क्षपट्टा मारने में चील मशहूर है। यह अक्सर मनुष्य के गृह प्रागण के ऊपर आकाश में मड़राती रहती है और किसी खाद्य वस्तु को देखते ही उस पर बिजली की तरह दूटती है और क्षणों में उसे ले उड़ती है। मनुष्य के हाथ से चीज छीन ले जाना तो उसने वाए हाथ का खेल है, कभी-कभी हाथ को अपने पंजों की चोट से घायल भी कर जाती है। खाद्य-पदार्थ ही नहीं, हाथ से जेवर तब ले जाते हुए उसे देखा गया है।

मास-मछली की दुकानों के पास चीले हमेशा मड़राती रहती हैं तथा उनके अडोस-पडोस में रहनेवाले लोगों की जान आफत में किए रहती हैं। क्षपट्टा मारने के इनके कौशल ने ही “चील-क्षपट्टा” कहावत को जन्म दिया है।

चीलो को गोश्त तथा मछली अत्यधिक प्रिय है। कविवर बिहारी ने ठीक ही लिखा है—

“वचन बड़ी सबील हूँ, चील्ह घोंसुवा मांस।”

ये कभी-कभी दूसरे पक्षी के बच्चों को भी चुरा ले जाती है। गिरगिट, चूहे आदि भी इन्हें काफी स्वादिष्ट लगते हैं। पैनी दृष्टि तो इनकी है ही, हजारों फुट की ऊँचाई से ये खेतों में विचरते हुए चूहे, गिरगिट आदि को देख लेती हैं, विद्युत्-गति से नीचे उतरती हैं और फिर उन्हें पंजों में दबोच कर किसी वृक्ष पर जा बैठती हैं और क्षणों में चट कर जाती हैं। चील चोच से शिकार नहीं पकड़ती। यही कारण है कि जब वह कोई खाद्यपदार्थ ले कर उड़ती है तो कौए उससे रास्ते में उसे छीनने का यत्न करते हैं। यदि वह चीज चोच में होती तो कौए को निस्सन्देह ऐसा करने का साहस न होता। चील





चित्र  
सख्या : ५६



उड़ते वक्त अपने डैनों को हिलाती नहीं, उन्हें फैला कर स्थिर रखती है और हवा के सहारे आगे बढ़ती है, मानो आकाश मार्ग से वायुयान जा रहा हो। समव है कि उड़ती हुई चील को देख कर ही वायुयान के आविष्कर्ता ने इसकी सृष्टि की हो, यत् चील से ही उसे प्रेरणा मिली हो।

कौओ से इसकी दुम्मनी है, ढाह है, जैसा कि एक पेशे के लोगो में आपस में आ करता है। कौए इसे बड़ा तग करते हैं। काश! वे उकाव के साथ छेड़खानियां करते। तो उन्हें मालूम होता कि इन छेड़खानियों का क्या नतीजा होता है।

चील की भी कई उपजातियां हैं, पर दो मुख्य हैं भूरी या काली और लमकरी। पहली किस्म दूसरी से कुछ बड़ी होती है, प्राय दो फुट की। नर और मादा में कोई अन्तर नहीं होता। रंग भूरा होता है। नेत्रों के पीछे एक ढा चित्ता-सा रहता है। चोच काली होती है, पैर पीले होते हैं।

खेमकरी के कई और भी नाम हैं, जैसे खैरी, शकर, घोबिया, चील आदि। से चिल्होर भी कहते हैं। इसका सर, गर्दन, सीना सफेद होता है, बाकी सारा बदन रंग का। डैनों का कुछ हिस्सा काला और दुम का शीर्ष-भाग भी सफेद ही होता है।

इसकी चोच टेढ़ी तथा पीलापन लिये हुए सींग के रंग की होती है तथा पैर पीले होते हैं। इसे पानी का किनारा अधिक पसन्द है जहां यह आसानी से मछलियां पकड़ सकती है। घोंसला भी जल के समीपस्थ किसी पेड़ पर बनाती है। इसकी बाकी भी आदते भूरी चील जैसी होती है।

चील को घोंसला बनाने के लिए निर्जन स्थान की तलाश नहीं है। बहुधा तजार के बीचो-बीच ताड़ के ऊंचे दरख्तों पर इसके घोंसले आप देखेंगे जहां सुभीते से तजार से गोस्त और मछली के टुकड़े ला कर यह खायी करती है। यह प्रवल मासाहारी भी है और शालिन का यह कहना कि 'चील के घोंसले में मास कहा' सोलहों आने व्य है।

## उल्लू

उल्लू उन पक्षियों में है, जिसके प्रति युग-युग से ससार अन्याययुक्त व्यवहार रता आया है। उसकी तरह-तरह से शिकायतों की गई हैं, मजाक उड़ाया गया है, खंता का प्रतिरूप माना गया है। जहां देखिए उसके प्रति व्यगात्मक शब्दों का प्रयोग आ है, उसे नीचा दिखाने की ही चेष्टा हुई है, उसकी प्रशंसा में दो शब्द भी ही लिखे गये हैं। रहीम जैसे करुण-हृदय, न्याय-परायण कवि तक ने, देखिए, ज्य बेरहमी के साथ कहा है—

शीत हरत, तम हरत नित, भुवन भरत, नहि चूक,  
'रहिमन' तेहि रवि को कहा, जो घटि लखे उल्लूक ?

और तुलसी जैसे सत-कवि तक ने कहा है—

होंहि उलक सन्त निन्दा-रत,

मोहनिशाप्रिय, ज्ञानमानु मत ।

संस्कृत के एक कवि महोदय ने तो उसके पूर्वजीवन पर भी छोटे उछालने की चेष्टा की है । लिखा है—

यद्यपि तरणे. किरणैः सकलमिव विद्वमुज्ज्वल विदधे,

तवपि न पश्यति धूकः पुराकृतं भुज्यते कर्म ।

—यद्यपि सूर्य की किरणों से सारा ससार उज्ज्वल हो जाता है, पर उल्लू फिर भी देख नहीं पाता है । यह उसके पूर्व-कृत कर्म का ही तो दोष है । और उर्दू के शायर मयो चुप रहने लगे । सो उन्होंने भी हा में हा मिलाई । कहा—

कद्रवानों की तबीअत का अजब रंग है आज,

बुलबुलो को ये हसरत है कि वो उल्लू न हुए ।

किन्तु यदि निरपेक्ष, न्यायपूर्ण दृष्टि से देखा जाए तो उल्लू मजाक अथवा शिकायत का नहीं, प्रशंसा का पात्र है । कोयल भले ही गाए, पपीहा पी-पी की रट लगाए, मोर नाचे, बुलबुले गुलों पर अपने प्राण निछावर करती फिरें, पर चिड़ियों में यदि किसी ने कुलीनी जैसा व्यक्तित्व प्राप्त किया है, जिसके समस्त आचरण से, चाल-ढाल से, मुद्राओं से, बह्मपन टपकता है तो वह उल्लू ही है । कोन दूसरा पक्षी है जिसमें इतना अग-सौष्ठव, शारीरिक सतुलन विद्यमान है, और वह भी इतनी प्रचुर मात्रा में ? खाद्य पदार्थों को देखकर जिस तरह दूसरी चिड़िया उस तरफ दीढ़ती है, अथवा वृक्षों पर, वाग-वगीचों में अकारण फुदकती है, जहा-तहा फिरती रहती है, भयावह परिस्थिति के उत्पन्न होते ही कापती है, चिल्लाती है, उड़ कर भाग खड़ी होती है, क्या इसे भी आपने कभी वैसा करते देखा है ? चंचलता, आमोद-प्रियता, दुम, डैने आदि हिला कर आन्तरिक भाव-प्रदर्शन, जो नीचे कुल के लक्षण हैं, आप इसमें कदापि न पायेंगे । किसी भी परिस्थिति में, चाहे वह आनन्द की हो या रोष की, भय की हो या निर्भयता की, इसे आप गाम्भीर्य त्यागते न पायेंगे और न इसके मुह पर बदलते हुए भाव ही (चित्र सख्या २५, ४७) । शांत भाव से बैठे हुए उल्लू पर आप ईंट-पत्थर फेंके या उसके सामने भोजन का कोई रुचिकर पदार्थ रखें, वह दोनों ही हालत में स्थिर, अविचलित-सा, बैठा रहेगा । दर असल उल्लू का आचरण अन्य पक्षियों के आचरण से विल्कुल भिन्न है । प्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर वर्टन के शब्दों में, उल्लू अपने व्यवहार में अन्य पक्षियों से विल्कुल ही नहीं मिलता है । अक्सर दो उल्लू एक साथ देर तक बैठे रहेंगे पर एक-दूसरे के प्रति उदासीन ही रहेंगे ।

खेद है कि ससार की पैनी दृष्टि से उल्लू पक्षी के ये महान गुण आज तक ओझल ही रहे । निस्सन्देह पक्षियों में स्थितप्रज्ञ है यह ।

उल्लू तथा अन्य पक्षियों में स्वभाव का ही नहीं वरन् बनावट का भी काफी फर्क है ।

सावाराणत उल्लू दिन में पेड़ों के किसी झुरमुट में जा बैठते हैं, शाम होते ही बाहर निकल आते हैं तथा एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर प्रेतों की तरह उड़ने

लगते हैं। पर इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो सूर्य की प्रखर ज्योति से घबड़ाते नहीं, बल्कि उसमें बड़े आनन्द के साथ उड़ते फिरते हैं। विलायत के एक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "फील्ड" में अभी पिछले दिनों प्रकाशित एक पत्र मुझे देखने को मिला जिससे इस कथन की पुष्टि होती है। उस पत्र में एक सज्जन ने आक्सफोर्ड से लिखा था कि वह पिछले दिनों मोटर से किसी सरिता-तट से गुजर रहे थे जब कि उन्होंने एक बार्न उल्लू को धूप में इधर-उधर उड़ते हुए, वह भी बड़ी स्वच्छन्दता से, देखा था।

जो यह कहते हैं कि उल्लू सूर्य का प्रकाश सहन नहीं कर सकता, उन्हें इस पत्र पर ध्यान देना चाहिए।

दूसरा अन्तर इसकी शक्ल-सूरत में है। इसकी आँखें अन्य पक्षियों की तरह बगल में न होकर मनुष्य की भांति सामने होती हैं। आँखें काफी बड़ी, गोल होती हैं तथा पीछे देखने के लिए यह बड़ी आसानी से अपनी गर्दन घुमा सकता है जबकि दूसरी चिड़िया ऐसा करने में असमर्थ होती है।

तीसरी विभिन्नता इसके परो में है। ये अत्यन्त मुलायम होते हैं, मानो पशमीने के बने हुए हों। और इसी कारण जब यह उड़ता है तो कतई आवाज नहीं होती। रात में जब यह अपने शिकार पर हमला करता है, तो उसे जब तक कि यह दबोच न ले उसे इसका जरा भी पूर्वाभास नहीं मिलता।

चौथा अन्तर इसके कानों की बनावट में है। इसके कान काफी बड़े और खुले होते हैं जब कि और पक्षियों के छोटे तथा बालो से ढके होते हैं। बड़े और खुले कान होने के कारण धीमी से धीमी आवाज भी उन तक बड़ी आसानी से जा पहुँचती है।

उल्लू अपने शिकार को नोच-नोच कर नहीं खाता, सीधे निगल जाता है। इसके पैर परो से ढके होते हैं, अतएव जिस समय यह चूहे जैसे शिकार को पकड़ता है, उसके आघात व काट खाने की चेष्टा का पैरों पर कुछ असर नहीं पड़ता।

उल्लू का सर बिल्ली के सर की तरह ही गोल होता है। इस देश में उल्लू की प्रायः ४०-४५ किस्में हैं, जिनमें तीन-चार मुख्य हैं।

१ एक वह है जो कि अधिकतर पुराने मकान के खडहरो—प्राचीन किला, कब्र आदि में निवास करता है। अंग्रेजी में इसे "बार्न आउल" (अन्न सग्रहालय के उल्लू) के नाम से पुकारते हैं। कहते हैं कि यह प्रकाश को सहन नहीं कर सकता, अतएव दिन में मकान के किसी अंदरे कोने में जा बैठता है, शाम होते ही एक मनहूस-सी आवाज करता हुआ बाहर निकलता है तथा मकान की एक छत से दूसरी छत पर, एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक उड़ता रहता है।

विचित्र आवाज तथा आधी रात में बारम्बार इधर से उधर उड़ते रहने के कारण ही यह अंधविश्वास है कि मकान में इसका रहना अथवा आना-जाना किसी भावी दुर्घटना का सूचक है—अशुभ है। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि एक दृष्टि से इसका निवास, खासकर ऐसे मकान में जहाँ अन्न का भण्डार हो, अत्यन्त उपादेय भी है क्योंकि चूहे आदि जंतुओं को खा कर यह सगृहीत अन्न की बड़ी रक्षा करता है। इसकी इसी उपादेयता के कारण कई देशों में लोग इसे अन्न भंडार-गृहों में



खास तौर पर पालते हैं। शायद यही वजह है कि हमारे देश में यह लक्ष्मी का वाहन भी माना गया है। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में, पूर्वकाल में, लक्ष्मी का शुभागमन नाज के रूप में ही तो हुआ करता था।

इस जाति के उल्लू की यह एक खास विशेषता है कि वह घर के जिस कोने में दिन भर बैठता है, साल-ब-साल वही बैठा करता है, स्थान-परिवर्तन उसे कतई पसन्द नहीं है। और यदि वहा बैठने वाला उल्लू काल-कवलित हो जाए, तो फौरन कोई दूसरा उल्लू आकर वही आसन जमा लेता है, स्थान खाली नहीं रह पाता—किसी साधु की धूनी की तरह, जहा धूनी रिक्त होने पर कोई-न-कोई साधु अवश्य ही आ बैठता है।

मकान के आस-पास के पेड़ों पर इसका बोलना इस देश में बड़ा अशुभ मानते हैं, क्योंकि सर्वसाधारण में यह धारणा है कि उल्लू को आदमी की मृत्यु का पूर्वाभास मिल जाता है और तभी यह घर के पास आकर मनहूस आवाज करता है।

कद इसका जगली कौए के समान होता है। रंग—ऊपर सुनहला बादामी, नीचे सफेद होता है। अंडे पूरे साल भर देता है। मादा चार से सात अंडे तक एक बार में देती है। नर और मादा के रूप-रंग में कोई अन्तर नहीं है।

२ दूसरी जाति का उल्लू वह है जो अधिकतर जल के किनारे किसी खडहर या पेड़ की झुकी हुई डाल पर निवास करता है। यह जल की मछलियों को खाता है और चूहे, मेंढक, पक्षी भी इसे स्वादिष्ट लगते हैं। मछलियों को यह बड़ी तेजी से पकड़ता है।

इसका सर काफी बड़ा, तथा ऊपर के पर गहरे कथई रंग के, डैने तथा दुम भूरे, गला सफेद होता है। जहां-तहां भूरी धारी भी होती है। सर के ऊपर उठे हुए पर के गुच्छे होते हैं, जो लम्बे कान के सदृश लगते हैं। इसे मत्स्य-उल्लू के नाम से भी पुकारते हैं। मुखाकृति बिल्ली से मिलती-जुलती-सी होती है। इसकी एड़ी और घुटनों के बीच का भाग पर-रहित होता है और पर के बजाय एक प्रकार के कटीले चौड़े होते हैं, पाव के तलवों में भी, तथा इसके बड़े पंजों में नुकीले काटे होते हैं, ताकि यह मछलियों को आसानी से पकड़ सके, वे इसके पंजों से फिसल कर निकल न भागे।

इसके अंडा देने का समय दिसम्बर से मार्च तक है। अंडों की संख्या दो होती है। अक्सर यह दूसरे पक्षी, गीघ आदि के घोंसले पर अपना अधिकार जमा लेता है।

प्रकाश इसे भी असह्य है, अतएव यह वृक्षों के घने अन्धकार में दिन बिताता है, सन्ध्या होते ही बाहर निकल कर किसी ऐसे स्थान पर जा बैठता है जहां से मछलियों का जल के ऊपर तैरना नजर आए। कभी-कभी जल के ऊपर भी यह उड़ता हुआ मछली की खोज करता फिरता है।

३ तीमरा वह उल्लू है जिसे सीगदार उल्लू के नाम से पुकारते हैं। गहरे बादामी तथा काले रंग के धब्बों ने चिह्नित इस उल्लू के सर पर दो काली-काली कलगिया होती हैं, जो मीन जैसी लगती हैं। और जातियों की अपेक्षा इस जाति के उल्लू दिन में अधिक देखते हैं, विल्कुल अंधे नहीं होते, तथा शाम से ही किसी ऊँची जगह पर शिकार की टोह में जा बैठते हैं। चूहे आदि के अनावा,

गिरगिट, छिपकली आदि रेगने वाले जन्तुओं को भी यह बड़े चाव से पकड़ कर खाते हैं। अडा देने का समय नवम्बर से अप्रैल तक है। अडों की संख्या तीन से चार तक होती है।

४ चौथी जाति का उल्लू वह है जिसे “चितकवरा”, “खूसटिया” आदि नामों से पुकारते हैं। कद में यह मैना के बराबर होता है। इस देश में इस जाति का उल्लू बहुतायत से पाया जाता है। यह हर प्रकार की जगहों में जोड़ा बाध कर रहता है, कभी-कभी एक से अधिक जोड़े भी साथ-साथ रहते हैं। अधिकतर गावों में अथवा गाव और शहर के आसपास रहना इसे पसन्द है, घना जंगल नहीं। आप यदि अपने घर के पास किसी बट, पीपल अथवा आम के वृक्ष पर तलाश करेंगे, तो अवश्य ही दो-चार ऐसे उल्लुओं को बैठ पाएँगे। कहते हैं दिन में इसे और प्रकार के उल्लुओं की अपेक्षा अधिक सूझता है और यह कभी-कभी दिन में भी उड़ता नजर आता है, परन्तु इस भय से कि कहीं और पक्षी इसका पीछा न करे—तग करने की चेष्टा न करे—यह पत्तों की झरमुट में ही दिन बिताना श्रेयस्कर समझता है।

शाम हुई और यह बाहर निकल कर खम्भे अथवा टेलिग्राफ के तारों पर या खुले वृक्षों पर जा बैठता है। फिर तो यह बड़े आनन्द के साथ कीड़े-मकोड़ों अथवा छोटे-छोटे चूहों का शिकार भी शुरू कर देता है। रात भर अपनी कर्णकटु आवाज में ठहर-ठहर कर बोलता भी है। कई उल्लू एक साथ बोलते हैं। एक बोलता है, दूसरा समीप के ही किसी स्थान से उत्तर देता है, और इस तरह इनके सवाल-जवाब चलते रहते हैं।

आम तौर पर यह छेड़ने पर भी शांत बैठा रहता है। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि यह अपना घंघं खो बैठता है और उस समय यदि आपने भूल से समीप जा कर इस पर नजर डाली, तो यह बड़े ही क्रोधापन्न भाव से आपकी ओर देखेगा, मानो आपकी इस हरकत से इसे सख्त नाराजगी है, और फिर उड़कर अन्यत्र चल देगा। उस समय की इसकी भयंकर दृष्टि देखने ही लायक होती है।

दरअसल चाहे किसी भी जाति का उल्लू हो, मनुष्य का उमकी ओर एकटक देखना उसे जरा भी पसन्द नहीं है। एक सज्जन श्री मोर्टिमर बेंटन को पक्षियों की फोटोग्राफी का अत्यन्त शौक है। एक बार सुनसान रात में उन्होंने दो सींगदार उल्लुओं की, जो उनके एक मित्र के अहाते में रोज रात को आकर उनके पालतू पक्षियों पर आक्रमण किया करते थे, तस्वीर उतारने की चेष्टा की। उस वृक्ष पर, जिस पर वे आधी रात में चुपचाप आकर बैठा करते थे, उन्होंने कैमरा लगाया और उनकी प्रतीक्षा में जा बैठे। निश्चित समय पर दो खूब मोटे-ताजे उल्लू बहा आ पहुँचे। श्री मोर्टिमर बेंटन ने टार्च जलायी और फोटो लेना चाहा। उस समय की अवस्था का जिक्र अपने एक लेख में करते हुए उन्होंने लिखा है “मेरे ‘टार्च’ जलाते ही नर-उल्लू ने तेज आँखों से डेने फैला कर मेरी ओर देखा तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मुझ पर आक्रमण करने ही वाला है। मैंने भयभीत हो कर, अपना शिकारी चाकू मसाला, पर चाकू के इस्तेमाल की जखुरत न पड़ी।” उल्लुओं ने शायद अपना विचार बदल डाला था तथा बेंटन साहब कुशलपूर्वक दरख्त से नीचे उतर सके थे। सुबह

मुर्दों के भक्षण के कारण गीध के बदन से बड़ी दुर्गन्ध निकलनी रहती है । इसे हम इन्हीं कारणों से घृणा की दृष्टि से देखते हैं, अशुभ मानते हैं । यदि किसी मकान पर इसकी चरण-रज पड़ जाए, तो उसे त्याग देते हैं या पूजा-पाठ के द्वारा उसकी शुद्धि कराते हैं । फिर भी भगवान रामचन्द्र ने इसके पूर्वज जटायु को छाती से लगाया था, क्योंकि उसने रावण से सीता को छुड़ाने में अपने प्राण दे दिये थे । ऐसी है परोपकार की महिमा ।

गीध के द्वारा आज भी मानव-जाति का जो उपकार हो रहा है वह अपरिमेय है । बड़े-माले मुर्दे, जो जहाँ-तहाँ पड़े हुए दुर्गन्धि फैलाते रहते हैं, यदि इसके द्वारा उदरस्थ न कर लिये जाए तो चारों ओर भयकर रोग-महामारी आदि-फैल जाए और न जाने कितने व्यक्तियों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़े । इस देश में यदि कोई पशु मर जाता है तो अधिकांश लोग उसे मिट्टी में गाड़ने के बजाय डबर-उधर फेंक देते हैं । गीध इन्हें खाकर वही काम करते हैं जो कूड़ा-करकट की सफाई करने वाले किया करते हैं । ऐसी दशा में हम उन्हें भगवान राम की तरह छाती से भले ही न लगायें, पर कम से कम उनसे नफरत तो नहीं करनी चाहिए ।

गृध्र या गीध की भी कई उपजातियाँ हैं । बड़े-छोटे हर कद के गीध पाये जाते हैं । सबसे प्रसिद्ध वे हैं जिन्हें राजगीध कहते हैं । ये प्रायः एक गज के होते हैं । गर्दन के दोनों ओर चमड़ा लटका रहता है, मानो “काकर स्पेनियल” कुत्ते के कान हो, कन्धों तथा वक्षस्थल पर सफेदी होती है, बाकी सारे अंग में कालापन होता है ।

राजगीध से कुछ बड़े चमर-गीध होते हैं । इनका रंग अधिकांशतः भूरा होता है, जहाँ-तहाँ सफेदी भी होती है । पीठ पर एक बड़ा-सा सफेद चिह्न होता है । जहाँ राजगीध जोड़ा बाध कर रहता है, ये गोल बाधकर रहने वाले गीध हैं जो गावों और शहरों के अड़ोस-पड़ोस के ऊँचे वृक्षों पर डेरा ढाले रहते हैं । इनकी बाकी आदतें राजगीध जैसी ही होती हैं ।

एक तीसरे प्रकार के गीध होते हैं “गोबर-गिद्धा,” जो आकार-प्रकार में चील से बहुत कुछ मिलते हैं । रंग इनका सफेद होता है । और गीधों की तरह ये मुर्दा नहीं खाते, मल-मूत्र का भक्षण करते हैं, और इसीलिए अंग्रेजी में इन्हें मेहतर कहते हैं । स्वभाव से ये धृष्ट होते हैं तथा अक्सर हमारे मकानों की छत पर बैठ जाते हैं । कद में २०-२१ इंच के होते हैं ।

गीध की दृष्टि, जैसा कि कहा जा चुका है, बड़ी तीक्ष्ण होती है । इसके पक्ष भी बड़ मजबूत होते हैं । सुदूर आकाश में यह उनके सहारे घटो उड़ता हुआ दूर-दूर तक मुर्दों की तलाश में नजर दीड़ता है । मुर्दों पर दृष्टि पड़ते ही फौरन वहाँ जा पहुँचता है और उसे इतना भरपेट खाता है कि कभी-कभी उसके बाद तीन-चार दिन तक वैठा ऊँधता रहता है, खाने का नाम नहीं लेता ।

यह न तो जल में नहाता है न धूल में । सूर्य-स्नान इसे अवश्य प्रिय है, धूप में अपने डैनों को फैलाकर घटो बैठा रहता है ।

यह जाड़ों में घोंसला बनाकर अडे देता है जिनकी सख्या एक से दो तक होती है । ऊँचे वृक्षों पर अधिकांशतः ताल के वृक्ष पर यह घोंसले बनाता है ।

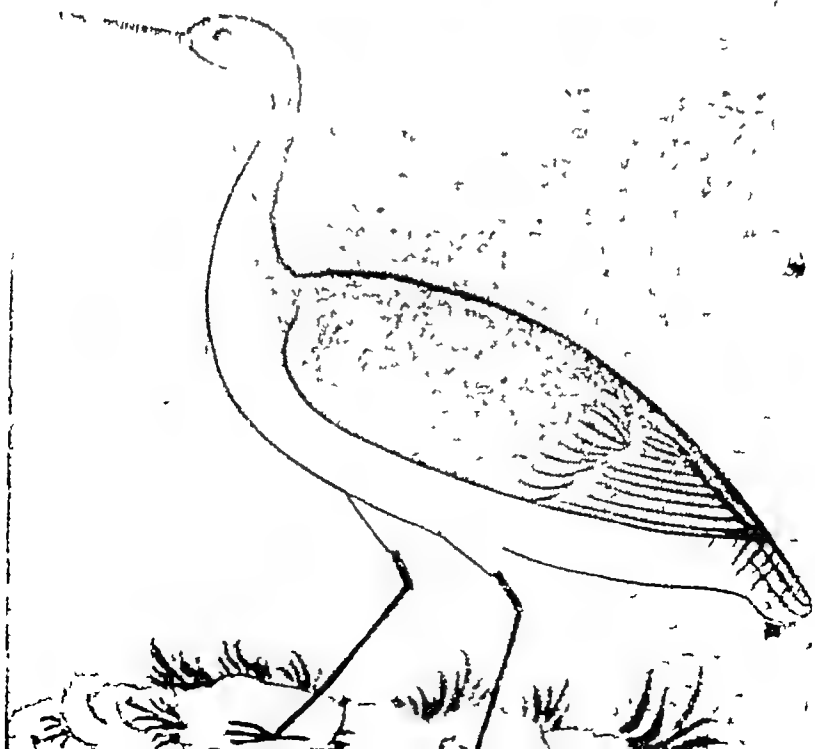


स्थानान्तरण के पहले एक पड़ाव पर समूह में बैठे हुए पक्षी

चित्र सर

सहेली  
(एक प्राचीन  
चित्र)

चित्र  
सख्या ६०



## धनेश

आयुर्वेद की दृष्टि से धनेश एक बड़े महत्व का पक्षी है। उसमें इसके तेल का कई कठिन रोगों में व्यवहार लिखा हुआ है। संस्कृत में इसे वाघ्रीणस, अग्रेजी में हार्नबिल, तथा हिन्दी में धनेश और वनराव के नामों से पुकारते हैं। इसकी कई किस्में हैं। सोलह किस्में केवल भारतवर्ष में ही प्राप्य हैं। पर इनमें प्रमुख दो हैं— एक साधारण भूरे रंग का, दूसरा वह जिसके सर पर एक तुरी-सा होता है तथा जिसे अग्रेजी में मलाबार पायड हार्नबिल, हिन्दी में धानचुरी तथा बंगाल में 'बगमा धनेश' के नाम से पुकारते हैं।



साधारण धनेश पंजाब के कुछ हिस्सों को छोड़कर इस देश के बाकी सभी राज्यों में उपलब्ध है। कद में यह प्रायः दो फुट लम्बा, रंग में गाढ़ा भूरा होता है। इसकी पूँछ काफी लम्बी होती है जिसके छोर पर सफेदी होती है। पेट, जाघ तथा दुम का निचला हिस्सा सफेद होता है। चोंच एवं सर को टोपी काले रंग की होती है। चोंच की बनावट सींग की सी होने के कारण ही अग्रेजी में इसे हार्न (सींग) बिल (चोंच) के नाम से पुकारते हैं (चित्र सख्या . २६)। अन्य जाति के धनेश जहाँ वनों में रहना अधिक पसन्द करते हैं, इसे खुले मैदान में, गाव के अड़ोस-पड़ोस में तथा बाग-वगीचों में रहना अधिक रुचिकर है। ग्राम्य-वृक्ष के कोटरों में यह बहुधा प्रजनन-क्रिया सम्पन्न करता हुआ पाया जाता है।

धानचुरी का कद भूरे धनेश से प्रायः एक फुट बड़ा होता है; सर, गला, पीठ, डंठें तथा दुम के बीच के दो पर काले हाँते हैं जिसमें हरेपन की झलक आती रहती है। बाकी पर बिल्कुल सफेद होते हैं और ठोड़ी पर एक हल्का-सा पीला घन्वा होता है। मादा की आँखों के चारों ओर एक सफेद कठी होती है। चोंच तथा सिर के तुरों के निचले हिस्से में पीलापन होता है, तुरों के बाकी हिस्सों में कालापन। यह पहाड़ी प्रान्तर में, वन में, रहना अधिक पसन्द करता है।

प्रत्येक किस्म के धनेश पक्षी की एक खास विशेषता है जो कि और पक्षियों में नहीं पायी जाती। वह यह कि उसकी आँखों के ऊपर भौंहें होती हैं। डंठों के नीचे मुलायम पर, जो और पक्षियों में होते हैं, धनेश में नहीं होते। सर पर टोपी होती है। धानचुरी की टोपी औरों से बड़ी—प्रायः ८ इंच लम्बी। इसकी उपयोगिता क्या है, यह आज तक किसी की समझ में न आ सका।

घनेश घोंसले नहीं बनाते। पेड़ों के प्राचीन कोटरों में ही मादा अंडे देती है। इसके सम्बन्ध में सबसे दिलचस्प बात तो यह है कि अंडा देने के समय से जब तक कि बच्चे इस लायक नहीं हो जाते कि वे प्रसूति-गृह से निकल कर अपने पावों पर खड़े हो सके, मादा पर्दानशीन बनी रहती है। प्रसव-काल निकट आते ही वह किसी वृक्ष-कोटर में जा बैठती है तथा उसके मुह को एक दीवार से बंद कर लेती है, केवल एक सूराख छोड़ देती है जिससे वह अपनी चोंच बाहर निकाल कर नर के द्वारा लाये हुए खाद्यपदार्थों को ग्रहण कर सके। हफ्तों उसे इस दशा में रहना पड़ता है और नर नित्य प्रति अपनी चोंच में खाने की चीजें—कीड़े-मकोड़े, गिरगिट और छिपकली तक—ला-लाकर उसे खिलाया करता है। असूर्यम्पश्या रानियो तथा बेगमो की तरह वह पर्दों की ओट से ही उस पर दृक्म जमाया करती है। पर्दों के भीतर ही उसके पुराने पर झट्ट पड़ते हैं तथा उनकी जगह नये पर उग आते हैं। अतः जब वह बाहर निकलती है तो उसका सौन्दर्य पहले से कहीं अधिक निखरा हुआ नजर आता है, रूप में कहीं अधिक आकर्षण रहता है।

घनेश के पर देखने में अत्यन्त सुन्दर होते हैं और इसके सब से बड़े कद्रदान हमारे उत्तर-पूर्व सीमा क्षेत्र में रहने वाले नागा हैं, जो अपने नृत्य-शृंगार में इसको विशिष्ट स्थान देते हैं। वे अपनी पोशाक इनके परो से सजाते हैं।

पक्षि-शास्त्र के पद्धितों के बीच इस बात को लेकर बड़ा मतान्तर है कि प्रसूति-गृह के द्वारावरोध में केवल मादा का ही हाथ रहता है या मादा-नर दोनों का। कइयों का मत है कि केवल मादा ही उस कार्य को सम्पन्न करती है। कई नर का भी इस काम में हाथ बटाना बताते हैं। पर श्री लोथर का, जिन्होंने छोटा नागपुर के जंगलों में रहकर घनेश पक्षी के जीवन तथा प्रवृत्तियों का खास अध्ययन किया था, कहना है कि यद्यपि इस कार्य में मुख्य हिस्सा मादा का ही रहता है, नर चोंच में बाहर से मिट्टी ला-लाकर उसे सहायता देता है, अर्थात् नर के सहयोग से ही वह इस काम को पूरा करती है। लोथर महोदय का ही यह भी कहना है कि द्वार के इस प्लास्ट्रिंग या पलस्तर के काम में मादा अधिकांशतः अपनी बीट का प्रयोग करती है, हा नर के द्वारा लायी हुई मिट्टी भी मजबूती के लिए उसमें मिला दी जाती है। फिर तो वह ऐसी कड़ी हो जाती है मानो सीमेण्ट की बनी हुई दीवार हो।

जब पर्दों से बाहर होने का वक्त आता है, तो मादा अपनी चोंच रूपी हथौड़ी से वृक्ष-कोटर के इस द्वार पर आघात करना शुरू करती है। नर भी आ कर जब-तब सहयोग देता है और कुछ काल में दीवार तोड़ कर वह बाहर निकलती है। नर उसका प्रताप्ता म मिलनानुर बाहर बंठा होता है, और फिर दोनों एक साथ मिलकर सैर-सपाट का चल दंत है। पर्दों से बाहर हाते हा मादा पहले अपना चोंच खूब साफ कर लेती है, नय परो का देर तक फडफड़ाता रहता है, मानो उनकी ताकत का आजमाइश कर रहा हो।

जिन दिना वह पर्दों के भीतर रहती है, दुबली-पतली और असुन्दर-सी लगती है। जैसा कि उब पक्षी-विशेषज्ञों का कथन है जिन्होंने समय के पूर्व ही घोंसले के अवरुद्ध

द्वार को तोड़ कर इस बात की परीक्षा ली है । पर जब वह बाहर निकलती है तो वजाय इसके कि वह हफ्तो-महीनो घर में बन्द रहने के कारण क्षीण एवं अपरिष्कृत नज़र आये, काफी साफ-सुथरी, मोटी-ताजी, नज़र आती है ।

घोसले की इस टूटी हुई दीवार की मरम्मत करके धनेश के नवजात शिशु कुछ काल तक उसमें निवास करते हैं, फिर पखो में ताकत आने पर उड़ कर देश-देशान्तर को चल देते हैं । मादा की पर्दानशीन अवस्था में—या यों कहिये कि बन्दी जीवन-काल में—उसके खाने-पीने की व्यवस्था का सारा भार नर के ऊपर रहता है और वह जिस कुशलता से इस काम को अजाम देता है, वह अतिशय प्रशंसनीय है । यही नहीं, इसके गहरे दाम्पत्य-प्रेम का परिचायक भी है ।

दिन भर में एक नही दर्जनों बार नर गले के भीतर खाद्यवस्तुएं रख कर लाता है और उन्हें नरेटी से बाहर निकाल-निकाल कर उसे खिलाता है । नर का आभास पाते ही मादा सुराख के भीतर से अपनी चोंच बाहर निकाल देती है और तब नर गले को पीछे की ओर करके एक झोका देता है और फिर लाई हुई वस्तु को मुह के रास्ते निकाल कर उसकी चोंच में रखता है और इस प्रकार अन्दर की सारी चीजों को वह एक-एक कर उसे खिला डालता है ।

इन चीजों में बट, पीपल, नीम आदि के छोटे-छोटे फल तो होते ही हैं, टिड्डी, गिरगिट आदि जीव-जन्तु भी रहते हैं, जिन्हें मादा बड़े चाव से ग्रहण करती है । ये चीजें वह अपने गले की थैली में भर लाता है, पर कभी-कभी उदरस्थ चीजों को भी वह उगल-उगल कर प्रेमिका को खिलाता है । इसके उदर में एक ऐसा पदार्थ होता है जिसके स्पर्श से उदरस्थ वस्तुओं की गोली, शिल्ली-दार पतली थैली या बीजकोष, तैयार हो जाता है । बहुधा ऐसी थैलियों को भी वह पेट से निकाल कर प्रेयसी के मुख में डालते देखा गया है ।

एक सज्जन का, जिन्होंने पक्षी-जीवन का गम्भीर अध्ययन किया है, कहना है—

“धनेश के हर कौर में दो से चार तक फूल-बीज की गोलियां रहती हैं, जिनमें कीड़े-मकोड़े तथा रेंगने वाले जन्तुओं के शरीर के टुकड़े भी रहते हैं । प्रेमी नर इन्हें गले से निकाल-निकाल कर अपनी बन्दिनी प्रेमिका के उत्सुकता-भरे मुंह में डालता है ।”

इस तरह प्रायः डेढ़-दो महीने, और कभी-कभी ज्यादा समय तक भी, मादा पर्दानशीन बनी हुई अपने दिन वृक्ष-कोटर में व्यतीत करती है जहां, जैसा कि पहले कहा गया है, वह केवल अंडे ही नहीं सेती, उसका पूरी तरह काया-कल्प भी हो जाता है । उसके पुराने पर झड़ जाते हैं और नये निकलते हैं, यहां तक कि उसकी चोंच भी नई हो जाती है । यदि आप समय के पहले किसी धनेश के नीड़-द्वार को तोड़कर उसके भीतर उसे देखें, तो मादा के शरीर को एक अजीब दशा में पायेंगे—झड़े हुए पर, छोटी-सी चोंच, अत्यन्त कुरुपिनी, पर वही जब समय पूरा होने पर बाहर निकलती है तो उसके शरीर से सौंदर्य टपकता रहता है ।

पक्षियों में शायद ही कोई दूसरा हो जो धनेश की तरह अपने वास-स्थान



को साफ-सुथरा रखता हो । मादा इतने दिनों तक घर के भीतर बन्द रहती है, फिर भी उसे गन्दा नहीं होने देती । गन्दी चीजों को सूराख के रास्ते हमेशा बाहर फेंकती रहती है । छोटा नागपुर के जंगल में घनेश अधिक सख्या में पाये जाते हैं । उनके रहन-सहन का अध्ययन करने वाले एक अंग्रेज लेखक का कहना है—

“घनेश की मादा जब घोंसले में रहती है तो सफाई पर उसका अत्यधिक ध्यान रहता है । वह अपनी विष्टा को या तो बाहर फेंक देती है या घोंसले के बाहर सूराख के रास्ते से बीट करती है । उसके बच्चों तक को मैंने इस सम्बन्ध में बड़ चौकस पाया है । उन्हें हमेशा नीड़-द्वार के सूराख के द्वारा बाहर की ओर बीट करते देखा है । उनके द्वारा खाली किये गये नीड़ देखने में बड़े साफ-सुथरे नज़र आते हैं । मक्खी, चीटी या दुर्गन्धि का कहीं नामोनिशान भी नहीं ।”

घनेश से हमें स्वच्छता का सबक सीखना चाहिए ।

## चिप्पक

चिप्पक, जिसके कई और नाम भी हैं, यथा चप्पा, दाब-चुरी, दबनक, अधी चिडिया आदि, तथा सस्कृत में जिसे नप्पुका कहते हैं, एक ऐसा पक्षी है जो दिन में शायद ही नजर आये, पर शाम होते ही उड़ना और चहकना आरम्भ कर देता है । इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसकी चोंच नहीं होती बल्कि पशुओं की तरह चौड़ा मुँह होता है ।

इसके कई भेद हैं, पर चार मुख्य हैं—

१ भारतीय लम्बी दुम वाला चिप्पक,  
२ भारतीय जंगली चिप्पक, ३ फ्रैंकलिन चिप्पक तथा ४. साधारण भारतीय चिप्पक ।  
पर इस देश के वनों में ये सभी पाये जाते हैं । साधारणतया देहात के वृक्षों तथा शहर के बाग-बगीचों में भी मिलते हैं । पहली किस्म का चिप्पक सबसे बड़ा है—प्रायः १२॥

इच लम्बा, अंतिम किस्म का सबसे छोटा होता है—करीब ९॥ इच का शेष इनके बीच के है ।

इनकी बोलिया भिन्न होती है तथा इनके बोलने से ही हम समझ सकते हैं कि कौन किस जाति का चिप्पक है । सन्ध्या-समय जब घरती पर घना अधियारा छा जाता है, आकाश में तारे उग आते हैं, मद-मद पवन बहने लगता है, तो यह पक्षी की ओट में से बाहर निकल कर किसी खुली ढाल अथवा खम्भे पर आ बैठता है तथा बोलना शुरू कर देता है—पहले एक, फिर दूसरा, फिर तीसरा—इस तरह कई एक साथ बोल उठते हैं और फिर तो क्षणों में इनका सामूहिक गान छिड़ जाता है । इनकी बोली सुहावनी होती है, कर्णकटु नहीं । अतः



अनेक पक्षी-प्रेमी इन्हें सुनने को सन्ध्या-काल से ही वाग-वगीचों में जा बैठते हैं। साधारण श्रेणी के चिप्पक अधिकतर वाग-वगीचों में पेड़ों के नीचे सूखी पत्तियों पर बैठकर सुर अलापते हैं, बाकी पेड़ की डालों से। इनकी आवाज में भी भिन्नता होती है। इनकी बोलियां ज्यादातर फरवरी से लेकर जुलाई के महीने तक सुनी जाती हैं। इन्हीं दिनों ये जोड़ा भी बाघते और अंडे देते हैं।

चिप्पक स्वभाव से ही बड़ा शर्मीला पक्षी है। मानव-दृष्टि से वह अपने को दूर ही रखना चाहता है। एक सज्जन का, जिन्हें पक्षियों का फोटो उतारने का खास शौक है, कहना है कि उन्हें एक बार घोंसले में बैठे हुए चिप्पक की तस्वीर उतारने की इच्छा हुई। बूढ़-ढाढ़ कर एक चिप्पक के घोंसले पर पहुँचे। घोंसले में चिप्पक के नवजात शिशु तो थे, पर मादा न थी। फिर दूसरे रोज पहुँचे। मादा उन्हें देखते ही उड़ चली। तीसरे दिन भी कुछ ऐसा ही हुआ। चौथे दिन उन्होंने देखा कि घोंसले में न मादा है न उसके शिशु। वह उन्हें लेकर अन्यत्र चली गयी थी।

## तीतर

पवन यक्यो, तीतर लवं  
गुरु सदेवं नेह,  
कहत भड्ढरी जोर से,  
ता विन वरसै मेह।

बहुत दिन हुए वक्चो की एक पत्रिका में तीतर पर एक तुकबन्दी थी जिसकी प्रथम दो पंक्तियाँ इस प्रकार थी—

लड़को, इस झाड़ी के भीतर  
छिपा हुआ है जोड़ा तीतर,

और यह ठीक ही है कि तीतर अधिकतर झाड़ियों में ही छिपा रहता है। खुली जगहों पर कभी-कभी ही नजर आता है। अपने मटमैले रंग के कारण यह आसानी से पहचाना भी नहीं जाता (चित्र सख्या : ५४)।

“तीन उड़ान में तीतर पकड़ाता है”—यह कहावत मशहूर है और इसमें सच्चाई भी है। तीतर में उड़ने की शक्ति कम है। ज्यादातर यह पावों पर दौड़ता चलता है। अतएव यदि आप इसे उड़ायें, तो दो-तीन बार उड़ कर यह शीघ्र ही थक कर कहीं छिप जायेगा। यही वक्त है जब पकड़ने वाले इस पर जाल फेंक कर इसे आसानी से पकड़ लेते हैं।

यूरोप और एशिया के प्रायः सभी देशों में यह पाया जाता है : इसकी कई उप-जातियाँ हैं, जिनमें इस देश में प्रायः दो मुख्य हैं—एक चितकवरा, दूसरा काला : अधिक सख्या में चितकवरा तीतर ही पाया जाता है। इसका रंग मुख्यतः वादामी होता है, पर शरीर पर कुछ स्याह और सफेद धारियाँ बनी होती हैं, और इसीलिए

यह चितकवरा कहा जाता है। सिर का रंग कत्यई जैसा होता है, डैने के कुछ परो का भी। पैर लाल होते हैं। नर और मादा की रूप-रेखा में अन्तर केवल इतना ही है कि नर के पंजों में ऊपर एक काटा रहता है, जिसका उपयोग यह लड़ते वक़्त ही करता है। यह लड़ाकू पक्षियों में है और यही कारण है कि मानव-समाज में इसका लालन-पालन बड़े आदर के साथ होता रहा है। पालतू तीतर बड़े निडर होते हैं तथा पालने वाले के पीछे-पीछे खूब दौड़ते फिरते हैं। अक्सर आप देखेंगे कि तीतर पालने वाला हाथ में पिंजड़ा लिये घूम रहा है और उसके पीछे तीतर दौड़ रहा है। बिहार के देवघर नामक एक शहर में तीतर पालने की परिपाटी प्राचीन काल से चली आ रही है। सबको पर वहा बहुधा दर्जनों आदमियों को आप तीतर का पिंजड़ा हाथ में लिये घूमते पायेंगे।

बुलबुल और बटेर की तरह ही तीतर खूब लड़ते हैं। लड़ते-लड़ते प्राण देने और लेने तक को तैयार हो जाते हैं। आप इन्हे लाख पचशील के सिद्धांत बतायें, ये सुनने से रहे। सारे मसले लड़कर ही तय करना चाहते हैं, बातचीत से, किसी गोल मेज के चारों ओर बैठकर नहीं।

जमीन के किसी गड्ढे में घास-फूस रख कर मादा अंडे देती है जिनकी संख्या ६ से ९ तक होती है। अंडा देने का समय फरवरी से जून तक है। तीतर में एक विशेषता है जो अन्य पक्षियों में नहीं होती। वह अपनी सन्तान के सग जोड़ा नहीं बाधता। नर और मादा में यदि एक मर गया तो दूसरा अविवाहित रहेगा पर अपनी सन्तति को जोड़ा न बनायगा। हा, यदि किसी दूसरे वंश का नर या मादा मिल जाए तो जोड़ा बाधेगा, अन्यथा जीवन-यात्रा में एकाकी ही चलता रहेगा। भाई-बहन के बीच भी जोड़ा बाधने का रिवाज इस पक्षी में नहीं है। इस सम्बन्ध में इनका नियम बड़ा कड़ा है और इस पर ये बड़ी सख्ती के साथ अमल करते हैं। इनके झुंड होते हैं। एक झुंड वाले दूसरे झुंड वालों के साथ ही जोड़ा बाधते हैं, आपस में नहीं। बहुधा ऐसा देखा गया है कि मादा न मिलने के कारण नर आजन्म अविवाहित रह गया है पर उसने "समगोत्री" के सग जोड़ा नहीं बाधा है। इनके जोड़े स्थायी होते हैं।

काला तीतर ज्यादातर नदी के कछारों में पाया जाता है। इसके नर और मादा में थोड़ा-सा अन्तर है। नर का ऊपरी हिस्सा काला होता है जिस पर सफेद सीधी धारियाँ और चित्ते पड़े होते हैं, गले में कत्यई रंग का कठा होता है, सीना काला तथा नीचे का भाग गहरा भूरा होता है जिसमें सफेद धारियाँ बनी होती हैं। डैने कत्यई रंग के होते हैं। मादा के ऊपरी हिस्से में काले की जगह कत्यई रंग होता है, गले का कठा भूरा तथा निचला हिस्सा वादामी होता है।

स्वभाव में पूर्वोक्त दोनों किस्मों में कोई खास फर्क नहीं है। बोली दोनों की बड़ी तेज होती है, पर आवाज में भिन्नता है। जहा चितकवरा "पतीला", "पतीला" चिल्लाया करता है, वहा काला कहता है—'सुभान तेरी कुदरत', पर यथार्थ में ये क्या कहते हैं यह वे ही बता सकेंगे जो खग-भाषा के पंडित हैं।

शकुन विद्या के पंडितों का कहना है कि यात्रा-समाप्ति के समय तीतर किस ओर उड़ता है, इस पर यात्रा की सफलता-असफलता निर्भर करती है। डाक कहते हैं—

पुर पैठत जो वाम ते, तीतर दक्षिण जाय,  
कह्यि 'डाक' शुभ शकुन यह, मिलती सब मन भाय ।

नगर में प्रवेश करते समय यदि तीतर वाम पार्श्व से दक्षिण पार्श्व की ओर उड़ता हुआ दृष्टिगोचर हो, तो समझिये कि निश्चय ही अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होगी ।



## भटतीतर तथा लवा

भटतीतर, जिसे अंग्रेजी में सैंडग्राउज कहते हैं, तीतर और फाखता की मिलावट से बना हुआ एक पक्षी है जो एकान्त मैदान में गोल वाघ कर अक्सर चरता हुआ नजर आता है (चित्र सख्या : २८) । जंगल-झाड़ियों की अपेक्षा उसे खुला मैदान अधिक प्रिय है, शायद इसलिए कि खुले मैदान में शिकारियों को यह दूर ही से देखालेता है और उन्हें देखते ही उड़ जाता है ।

इसके नर और मादा के रंग में कुछ अन्तर है । नर का रंग बालू जैसा होता है तथा दुम के कुछ परलम्बे होते हैं । गले पर हल्का पीलापन होता है । पेट कत्यई रंग का होता है । दुम और डैनों का बाहरी हिस्सा वादामी होता है । मादा वादामी रंग की होती है तथा नर की अपेक्षा अधिक चितकवरी । भटतीतर अपने बसेरे मैदान में बनाते हैं जहाँ छिछले गड्ढों में मादा अंडे देती है । वे गोल वाघकर रहते हैं ।

छोटे भटतीतर तो यहाँ के बारहमासी पक्षी हैं, पर बड़े भटतीतर शीतकाल में ही आते हैं और फिर जाडों के समाप्त होते-न-होते पहाड़ों की ओर लौट जाते हैं । भूरा गला, पेट के नीचे कालापन, पीठ पर पीले चिह्न, इनकी ये पहचान हैं ।

शिकारी पक्षियों में लवा सबसे छोटे हैं, छोटे तीतर के समान हैं । कद में प्रायः छ' इंच के होते हैं । इनके वास-स्थान खेत के पास की झाड़ियाँ होती हैं जहाँ से निकल कर ये सुविधापूर्वक नाज के दाने चुग सकते हैं । वान के खेतों में ये जाल की सहायता से पकड़े जाते हैं ।

रंग इनका भूरा होता है और नीचे के हिस्से में छोटी-छोटी काली बिन्दियाँ होती हैं ।

मादा कद में नर से छोटी होती है तथा इसके माथे पर सफेद-काली धारी नहीं होती और न सीने पर काली बिन्दियाँ ही ।

झाड़ी के किसी छिछले गड्ढे में मादा साल में दो बार अंडे देती है जिनकी सख्या १०-११ तक होती है । 'भारत-भारती' के कवि ने लिखा था—

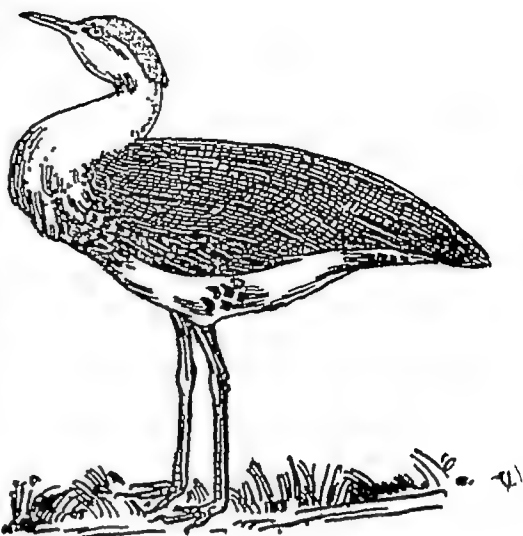
तीतर, लवे, भेंडे, पतगे, वे लड़ाते हैं कभी,  
वे दूसरों के व्यर्थ झगड़ें मोल लाते हैं कभी ।

पता नहीं राष्ट्रकवि की उपर्युक्त भर्त्सना से या कि जमाने की पलट से, तीतर और लवा के कद्रवान आज इस देश में से विदा हो रहे हैं ।



## सोहन चिड़िया

भारतीय शिकार के पक्षियों में हम उस पक्षी को नहीं भूल सकते हैं जिसे अंग्रेजी में ग्रेट इंडियन बस्टार्ड, पंजाब में तुगपर, दक्षिण में मालघोक तथा बुन्देलखंड के इलाकों में हुकना अथवा 'सोहन चिड़िया' के नाम से पुकारते हैं (चित्र सख्या : २६) । यह पहाड़ों पर नहीं बल्कि समतल क्षेत्रों के खुले मैदान की झाड़ियों में पाया जाता है । दकन, मंसूर, राजस्थान, हरियाना, बुन्देलखंड के जंगलों में यह खास तौर पर मिलता है ।



कद में यह बहुत छोटे शूतुरमुर्ग जैसा और लगभग उतने ही वजन का, रंग में बदन का ऊपरी हिस्सा काली लकीरों से आच्छन्न बादामी तथा नीचे का सफेद होता है । सर के ऊपर काले रंग का तुरा इसका सौन्दर्य-वर्द्धन करता है । दात काफी लम्बे होते हैं । उड़ने में यह तेज होता है, दौड़ने में और भी अधिक ।

नर और मादा की रूप-रेखा में कोई अन्तर नहीं है । हा, नर की अपेक्षा मादा कद में कुछ छोटी होती है ।

जोड़ा बाधने के समय नर गला फुला-फुला कर, पंख फैला कर जोर से आवाज करता है और शायद इसी कारण से बुन्देलखंड के लोग इसे हुकना नाम से पुकारते हैं । नर का बहुपत्नीत्व विख्यात है ।

घोसला बनाना, अंडे देना आदि, सभी कामों में उसकी बटेर से बड़ी समानता है ।

खेद है कि शिकार का इतना सुन्दर पक्षी इस देश से क्रमशः अन्तर्हित होता जा रहा है । मांस-भक्षियों को इसका गोشت अतिशय रुचिकर है और इनके वश-विनाश का निस्सन्देह यही मुख्य कारण है ।

## चकोर

ऐ बलबुले गोइवा व ए फन्के जिरामा,  
मं खुर कि जे मं बाव हमेशा परो घालत ।

—सूफी कवि सनाई ।

—ऐ सुन्दर राग अलापने वाली बुलबुल और तेज चलने वाला कवक (चकोर),  
तू प्रेम में मस्त बना रह । प्रेम की यह मदिरा तेरे परो को हमेशा शक्ति देती रहेगी ।

औरों को क्या कहिए, निज रचि ही एकता नहीं रखती,  
चन्द्रामून पी कर तू चकोरि, अंगार है चखती ।



जिसके सम्बन्ध में "साकेत" के कवि  
की यह उक्ति है वह एक अद्भुत पक्षी है जो  
शीतलचन्द्रमयूष का भी प्रेमी है, और जलते  
हुए अगारे का भी । कहते हैं, आकाश में जब  
चाद उग आता है और उसकी धवल किरणें  
घरातल पर विकीर्ण हो जाती हैं, तो यह  
निर्निमेष नेत्रों से देर तक उसकी ओर  
देखता रहता है, मानो उसकी शीतलता

का पान कर रहा हो । और प्रकृति की विडम्बना तो देखिए, दूसरी ओर जलते  
हुए अगारों को भी यदि पा जाता है तो फौरन गले के नीचे उतार डालता है ।  
इस देश के प्राचीन साहित्य में इसने अपनी इसी अनोखी प्रवृत्ति के कारण प्रमुख  
स्थान प्राप्त किया है । संस्कृत भाषा का शायद ही कोई कवि होगा जिसने अपने  
काव्य में चकोर की चर्चा न की हो । देखिए, महाकवि जयदेव ने, किस सुन्दर ढंग  
से इसकी चर्चा की है । भगवान् कृष्ण राधा से कहते हैं—

वदसि यवि किञ्चिदपि दन्तरचि कौमुदी  
हरति दरतिमिरमति घोरम् ।  
स्फुरदधरसीधवे तव वदनचन्द्रमा  
रोचयतु लोचनचकोरम् ।

—हे चारुशीले ! जरा बोलो तो सही, ताकि यह दन्तज्योत्स्ना खिल उठे तथा  
मेरे मन के तिमिर को मिटा दे, और—

सुधा-सम अधर-मधु, वदन-चन्द्रमा से  
लगे लोल लोचन चकोरक बने से ।

लोक गीतों में भी चकोर ने स्थान पाया है, यथा—

आसिन शरद जनावत जोर,  
उगय चाँदनी दुख घर जोर,  
बोलल हे सवि, कीर-चकोर,  
कहमा गेल मोरा नन्दकिशोर

चन्द्र-ज्योत्स्ना से यह अपनी प्यास बुझाता है कि नहीं, इसका मुझे ज्ञान नहीं ।  
पर आग के छोटे-छोटे टुकड़ों को तो खाते मैंने स्वयं देखा है । एक अर्सा हुआ, मेरे  
एक मित्र ने एक चकोर पाल रखा था । मुझे विश्वास न था कि चकोर सचमुच ही  
अगारों को खाता है, और मैंने एक बार उनसे अपने इस अविश्वास का जिक्र किया ।  
उन्होंने मुझे विश्वास दिलाने को फौरन आग के कुछ टुकड़े मगवाये और उसके सामने

रख दिए । मैं यह देख कर दग रह गया कि वह उन टुकड़ों को क्षणों में ही गले के नीचे उतार गया ।

खैर, तो यह चकोर पक्षी है किस जाति का ?

आकार-प्रकार में यह बहुत कुछ तीतर से मिलता है । यह उसी जाति का एक पक्षी है, पर रंग में यह उससे भिन्न है । तीतर की तरह यह चितकबरा नहीं होता और न इसकी प्रकृति ही उसकी तरह लड़ाकू है । ससार के अधिकांश देशों—यूरोप, पश्चिमी तथा मध्य एशिया आदि—में इसकी चार उपजातियाँ पाई जाती हैं जिनके रंग-रूप में थोड़ी भिन्नता है । यूरोप में यह “ग्रीक-पार्ट्रिज” के नाम से मशहूर है ।

फारस तथा उसके पड़ोसी देशों में तो ये झुड के झुड पाये जाते हैं । डा० हेन्डरसन ने लिखा है—“यारकन्द में प्रायः दस-पन्द्रह मील चौड़ा एक क्षेत्र है जहाँ झुड के झुड चकोर रहते हैं । इन्हें पकड़ने में यारकन्द वाले बन्दूकों का इस्तेमाल पसन्द नहीं करते (अर्थात् हाथ से या जाल के सहारे पकड़ना ज्यादा पसन्द करते हैं ।)”

मेजर जॉन कहते हैं—“फारस का यह सबसे परिचित ‘पार्ट्रिज’ जाति का पक्षी है ।”

तिब्बत में १६,००० फुट की ऊँचाई तक यह प्राप्य है । चकोर की एक यह विशेषता है कि यह गर्म से गर्म इलाकों में भी रहता है और शीतप्रधान देशों में भी । इस देश के उन घने जंगलों में, जहाँ काफी गर्मी पड़ती है, यह पाया जाता है, साथ ही, हिमालय के ठंडे प्रान्तरों में भी । जम्मू से श्रीनगर के रास्ते में आज से प्रायः तीस वर्ष पूर्व मैंने इनके अनेक झुड देखे थे ।

चकोर के रंग में राख और बादाम के रंगों का सुखद सम्मिश्रण है, चेहरे पर कपोल से लेकर कंठ तक, आँखों को लेते हुए, एक गाढ़ा काला चक्कर होता है, पाख का अधिकांश हिस्सा बादामी होता है, पार्श्व-भागों पर काले तथा अखरोट के रंग की लकीरें रहती हैं । चक्कर के अन्दर का हिस्सा सफेद होता है और ठोड़ी पर एक काला बिन्दु रहता है । चोंच तथा पैर लाल रंग के तथा चंगुल बादामी होते हैं । नर के पाव की पिछली अंगुली के ऊपर का हिस्सा उभड़ा हुआ-सा होता है (चित्र सख्या ३०; ५५) ।

ऐसे तो ये दल बाधकर—गिरोह में—रहा करते हैं, पर जब प्रजनन-काल आता है तो इनके अलग-अलग जोड़े हो जाते हैं । अंडे देने का समय नीचे के प्रदेशों में अप्रैल से अगस्त तक और पहाड़ों पर अगस्त के बाद है । जमीन पर किसी पत्थर अथवा घास-फूस की आड़ में ये अंडे देते हैं जिनकी संख्या ८ से १२ तक होती है । अंडों के चारों ओर घास-फूस का एक घेरा डाल लेते हैं । इनकी उड़ड़ीयन-शक्ति कमजोर होती है, अतएव थोड़ी दूर उड़ते हैं, बैठ जाते हैं, फिर उड़ते हैं—यही इनका नियम है ।

उत्तर-पश्चिम भारत में ये विशेष रूप से पाए जाते हैं । नेपाल तथा कश्मीर में भी ।

चकोर आसानी के साथ पाले जाते हैं तथा पालतू होकर ये उसी तरह पालने

वाले के साथ-साथ विचरते हैं जैसे कि पालतू कुत्ते । तब इन्हें पिंजड़े में रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

यात्रा-काल में चकोर का बोलना शुभ माना गया है । डाक कहते हैं—

वाम भाग में बोल चकोर,  
सन्मुख बाहिन बोले मोर,  
कह्यो “डाक” शकुन घर जोर,  
वैसने लइ धनधाम घटोर ।

अर्थात्, बायीं ओर यदि चकोर और सामने तथा दाएँ मोर बोले, तो ‘डाक’ कहते हैं कि यात्रा का योग प्रबल है, बैठे-बैठे ही अपरिमित धन की प्राप्ति होगी । पता नहीं, हमारे देश के व्यापारी डाक के इस कथन का कहा तक उपयोग करते हैं, चकोर और मोर पाल-पाल कर रखते हैं या नहीं ।

चकोर इस बात की शिक्षा देते हैं कि हमें सुख तथा दुःख-ताप को समभाव से स्वीकार करना चाहिए, चकोर-सा ही हमें भी स्थितप्रज्ञ होना चाहिए । चन्द्रमयूष हुए तो क्या, और अगर हुए तो क्या—हमारे लिए ये दोनों ही समान होने चाहिए ।

पर जहाँ प्रेम का प्रश्न है, वह अपने प्रियतम के सामने बाकी सभी चीजों को तुच्छ मानता है—आज एक से, कल दूसरे से नेह लगाने वाला नहीं है । आखिर चन्द्र और सूर्य दोनों ही तो व्योम-मण्डल के दीप्तिमान नक्षत्र हैं, पर चाद से प्रेम करके वह जाज्वल्यमान सूर्य की ओर नहीं दौड़ता । चकोर के लिए चन्द्रमा ही जीवन-प्राण है, रवि को वह शत्रु के समान ही समझता है—

ऊधो तुम अति चतुर सुजान,  
जो पहले रंगो स्याम रंग तिनहूँ न चढ़ूँ रंग आन ।  
बे लोचन जो विरद किए स्रुति गावत एक समान,  
भेव चकोर कियो तिनहूँ में विधु प्रीतम, रिपु भान ।

## मोर

शरत्काल का समय है । जल, थल, आकाश सभी स्वच्छ हो गए हैं । सहसा वृन्दारण्य में वशी की ध्वनि जाग उठती है, गोपिया सुनती है और सोचती है—

वर्हापीड़ नटवर वपुः कर्णयोः कर्णिकारम्  
विभ्रद्वाप्त. कनककपिशं वंजयन्तीं च मालाम्,  
रन्धान्वेणोरर्धरसुधया पूरयन्गोपवृन्दं—  
वृन्दारण्यं स्वपवरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः

—मोर मुकुट धारण किए, कानों में कनेर का फूल लगाए, सुवर्ण के समान प्रकाशमान पीताम्बर पहने और गले में वंजयन्ती माला धारण किए हुए नटवर वेश-धारी श्री कृष्ण ने बासुरी के छिद्रों को अपने अवरामृत से पूर्ण करते हुए निज



## भारत के पक्षी

चरण-चिन्हों से सुशोभित वृन्दावन में ग्वालवालों के साथ उनके मुख से अपना सुयश सुनते हुए मालूम होता है कि प्रवेश किया है ।

(श्री मदभागवत, १०।२६)

जिस पक्षी के पुच्छ को स्वयं भगवान् श्री कृष्ण सर पर धारण करे वह अमरता क्यों न पाए ? तभी तो भारतीय भक्ति-साहित्य में जो स्थान इसे प्राप्त हुआ वह किसी अन्य पक्षी को नसीब न हो सका । कृष्ण साहित्य तो इससे भरा-पूरा है ही, अन्य साहित्यों में भी इसने उच्च स्थान पाया है ।

और सुनिए, एक अन्य जिज्ञासु कवि मोर से उसके अनुपम सौन्दर्य के तथा भाग्य के सम्बन्ध में क्या पूछता है—

केका कर्णामृत ते सकुसुमकबरीकान्तिहारा. कलापा.  
कठच्छाया पुरारेगलरुचिरचिरा सौहृदं मेघसघैः  
विश्ववैषिद्विजिह्वस्फुरदुरूपिशितैर्नित्यमाहारवृत्ति  
कैःपुण्यैः प्राप्तमेतत्सकलमपि सखे चित्रवृत्त मयूर ।

—तेरी कूक कानों को अमृत के समान लगती है, कामिनी के जूड़ापाश में लगे हुए सुन्दर पुष्प-जाल की कान्ति उपहरण करने वाली तो तेरी पूछ है, महादेव के कण्ठ के समान तेरी नीलिमा है, मेघों के साथ तेरी मैत्री है, सर्प, जिसका ससार मात्र से विद्वेष है, तेरे नित्य के आहार है । मित्र मयूर ! बता तो सही, किस पुण्य से तूने इन्हे प्राप्त किया ?

गरज यह कि इस देश के काव्य-कानन में फ्रीडा करने वाले कवियों ने किसी-न-किसी प्रसंग में इस पक्षी की अवश्य ही चर्चा की है । काव्य में, उर्मिला की भाति, यह उपेक्षित न हुआ ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इसका सौन्दर्य-गुण ही इसका मुख्य कारण है । भगवान् श्रीकृष्ण से लेकर छोटे-बड़े कवियों तक ने यदि इसकी कद्र की—इसे सर-आखों पर चढ़ाया—तो कोई आश्चर्य नहीं और न यह कोई अनौचित्य अथवा पक्षपात की ही बात है । सौन्दर्य की पूजा कहा नहीं होती । वकौल कीट्स के, सौन्दर्य में ही तो शाश्वत आनन्द है । सौन्दर्यपूर्ण वस्तुएँ कभी शून्यता को प्राप्त नहीं हो सकती हैं—

A thing of beauty is a joy forever  
Its loveliness increases, it will never  
Perish into nothingness

महाकवि माघ के शब्दों में, हम जितनी बार देखें, उतनी ही बार इनमें नवीनता का ही अनुभव करेंगे ।

क्षणं क्षणे यन्निवतामुपति  
तदेव रूपं रमणीयतायाः ।

तभी तो मोर के पख ने एक बार बड़े गर्व-भरे शब्दों में उससे कहा था—हे मोर ! तू भले ही हमें छोड़ दे, इसकी चिन्ता नहीं, क्योंकि इससे तेरा ही नुक्सान होगा—तेरी शोभा नष्ट होगी । हमारे लिए तो फिर भी राजा के मुकुट में ही स्थान रहेगा । जो क्षति होगी, तेरी—



लिखा था—“इस इलाके के गावों में मोर भरे पड़े हैं । मैंने सड़क के किनारे की एक झोपड़ी के पास ४६ मोर एक साथ दाना चुगते हुए देखे थे । ऐसा प्रतीत होता था मानो यहाँ के निवासियों के सग, इनकी बड़ी मंत्री हैं ।”

भगवान् कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज तथा अडोस-पडोस के प्रदेश राजस्थान में मोरो का इतनी बड़ी सख्या में होना आश्चर्य की बात नहीं है, पर चित्रकूट में पता नहीं इनकी इतनी सख्या क्योंकर हुई । श्री रामचन्द्र की जीवन-लीला में इन्होंने कोई प्रमुख हिस्सा नहीं बँटाया, फिर भी चित्रकूट के पहाड़ और वन इन्हे सदा से प्यारे लगते रहे हैं । वनवास के दिनों में चित्रकूट पर निवास करते हुए श्री रामचन्द्र ने वर्षारम्भ होते ही लक्ष्मण से कहा था—

‘लछिमन देखहु मोरगन नाचत वारिद पेखि ।’

नदी और झील के इलाके मोर को ज्यादा पसंद हैं और सन्ध्या होने के पहले झुड़ के झुड़ मोर इनके किनारों पर पानी पीने को आ जुटते हैं ।

पहाड़ों पर ये कम नजर आते हैं, खासकर उन पहाड़ों पर जहाँ सर्दी अधिक पड़ती है । पाँच-छ हजार फुट से ऊपर तो ये कतई नजर नहीं आते । श्रीलंका, वर्मा और अफ्रीका में भी ये बहुतायत से पाए जाते हैं । अफ्रीका का श्वेत-मयूर जगद्विख्यात है । इसका रंग विल्कुल सफेद होता है, मानो इसके पर ढाका के मलमल के बने हुए हों या चमकदार रेशम के । पश्चिम भारत में भी कहीं-कहीं ये पाये गए हैं ।

हर देश के मोर एक-से नहीं होते । मसलन विएत नाम में पाये जाने वाले मोरो की गर्दन काली होती है । यह जापान में उपलब्ध न होकर भी “जापानी मोर” के नाम से मशहूर है ।

जावा के मोर की चोटी ओरो से भिन्न होती है, रंग में भी फर्क है । असम के मोर में नीलापन कम, हरापन और सुनहलापन अधिक होता है ।

यूरोप में मोर का प्रवेश सिकन्दर बादशाह के जमाने में हुआ । ऐसे तो ईसा से ५०० वर्ष पूर्व प्राचीन यूनान के एक कवि अरिस्टोफेन के काव्य में मोर का उल्लेख आता है, पर विद्वानों का मत है कि भारत से लौटते समय सिकन्दर कुछ मोर साथ लेता गया और उनसे ही मोर-वंश का विस्तार समस्त यूरोप में हुआ । फिर तो मध्ययुगीन यूरोप के देशों में कोई भी वह दावत सफल नहीं मानी जाने लगी जिसमें मोर का मांस न हो । मानव-श्रुता को तो देखिए, मोर जैसे सुन्दर, कलापूर्ण पक्षी को भी उसने अपने आहार की सामग्री बना डाला ।

मोरो का पूर्व से व्यापारियों के द्वारा पश्चिम ले जाया जाना वाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट) से भी सिद्ध होता है । उसमें लिखा है, कि बादशाह सुलेमान के शासनकाल में प्रति तीसरे वर्ष पूर्व के जहाज सोना, चादी, हाथी दात, वन्दर तथा मोर लाया करते थे ।

११वीं सदी में ईराक आदि देशों में भी भारत से मोर ला कर मोर की नसल तैयार करने की चेष्टा हुई, पर ये मोर भारत के मोरो जैसे सुन्दर न हो सके ।

संक्षेप में मोर की यही कहानी है । हमें इस बात का गौरव है कि उसके जैसा सुन्दर पक्षी मुख्यतः हमारे देश का निवासी है ।

## भारत के पक्षी

मृदु क्षरने हं रचे रचिर सरिताओ के हित,  
हाय, अन्त में फिया उन्हें तीखा वे सागर !

अन्य पक्षियों की भांति मोर न तो पेड़ पर घोंसला बनाता है और न मोर और मोरनी का कोई जोड़ा ही होता है । अक्सर एक मोर के साथ-साथ अनेक मोरनिय उसके इर्द-गिर्द नजर आती हैं और वह उनके बीच उसी तरह शोभायमान होता है जैसा कि हथिनियों के बीच कोई विशाल हाथी ।

वर्षाकाल में मोर का मोरनियों के साथ विचरना एक ऐसा दृश्य है जो आखों को बड़ा भला लगता है । पर, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, नाचता मोर ही है, मोरनी नहीं और न मयूरी देखने में ही नर की तरह खूबसूरत होती है, फिर भी कल्पना के आधार पर हिन्दी साहित्य में मयूरी के नाचने का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख आया है ।

मोरनी झाड़ियों के बीच, जमीन पर (कभी-कभी टूटे-फूटे मकानों की छत पर भी) अड़े देती है जो सख्या में दो से छ तक होते हैं । ये हाथीदात जैसे सफेद होते हैं इन्हें केवल मादा ही सेती है । एक महीने के बाद बच्चे निकलते होते हैं । अड़ा दे का समय जनवरी से अक्तूबर तक है ।

अपने बच्चों के प्रति मोरनी के हृदय में अगाध स्नेह होता है जिसकी मिसाल और किसी पक्षी में नहीं मिलती । मोर के बच्चों के सर पर की कलगी का निकलन घोर कष्टप्रद है—मानव-शिशु के दात निकलने की तरह—तथा बहुतेरे इस पीड़ा के सह में असमर्थ होकर प्राण तक छोड़ देते हैं ।

कवूतर की तरह मोर भी बहुत जल्द पालतू हो जाता है । आपने दो-चार बार दाने चुगाए, फिर तो यह हर रोज आपके पास आकर दाने की प्रतीक्षा करना लगेगा तथा जब-तब अपने नृत्यों से आपका मनोरंजन भी करेगा । आपके घर आगन में विचरता फिरेगा ।

मोर की एक जवर्दस्त उपयोगिता भी है । यह सापो का दुश्मन है । कीड़े मकोड़े तो खाता ही है, साप तक को निगल जाता है । अतएव जहां मोर होते हैं, साप मुश्किल से नजर आते हैं । कहा भी है, 'अहि-कराल केकी भक्त, मवुर अलापनि हारि । इस दृष्टि से मोर का पालना उपयोगी है, पर वाग के फूलों का—खास कर कलियों का—भी यह जवर्दस्त दुश्मन है । यह उनका सहार कर डालता है, उन्हें बड़े चाव से खात है और वह भी भर-पेट । तार की जालियों से घिरे हुए किसी घर में इन्हें पालना है इससे बचाव का उपाय है ।

भारतवर्ष के अधिकांश भागों में ये पाये जाते हैं । सिन्ध, उत्तर-पश्चिमीय सोमाप्रान्त तथा उत्तर-पूर्वीय असम में मोर के दर्शन दुर्लभ हैं । पर दूसरी तरफ राजस्थान, व्रज तथा चित्रकूट के इलाकों में इनका बाहुल्य है, जहां जाइए, गिरोह के गिरोह नजर आएंगे । व्रज के जंगलों का जैसे-जैसे सहार होता गया, मोरों की सख्या में भी कमी आती गई । फिर भी वृन्दावन में सवेरा होते ही हजारों मोर एक साथ बोलना शुरू कर देते हैं तथा नगर-निवासियों की नींद हराम हो जाती है, उन्हें बरबस राह्यमुहूर्त में उठना पड़ जाता है ।

आज से लगभग सवा सौ साल पहले मेजर स्लिमन ने व्रज की यात्रा की थी और

लिखा था—“इस इलाके के गावों में मोर भरे पड़े हैं । मैंने सड़क के किनारे की एक झोपड़ी के पास ४६ मोर एक साथ दाना चुगते हुए देखे थे । ऐसा प्रतीत होता था मानो यहाँ के निवासियों के सग, इनकी बड़ी मैत्री है ।”

भगवान कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज तथा अडोस-पडोस के प्रदेश राजस्थान में मोरो का इतनी बड़ी सख्या में होना आश्चर्य की बात नहीं है, पर चित्रकूट में पता नहीं इनकी इतनी सख्या क्योंकर हुई । श्री रामचन्द्र की जीवन-लीला में इन्होंने कोई प्रमुख हिस्सा नहीं बँटाया, फिर भी चित्रकूट के पहाड़ और वन इन्हे सदा से प्यारे लगते रहे हैं । वनवास के दिनों में चित्रकूट पर निवास करते हुए श्री रामचन्द्र ने वर्षारम्भ होते ही लक्ष्मण से कहा था—

‘लछिमन देखहु मोरगन नाचत चारिद पेखि ।’

नदी और झील के इलाके मोर को ज्यादा पसंद है और सन्ध्या होने के पहले झुंड के झुंड मोर इनके किनारों पर पानी पीने को आ जुटते हैं ।

पहाड़ों पर ये कम नजर आते हैं, खासकर उन पहाड़ों पर जहाँ सर्दियों अधिक पड़ती है । पाँच-छ हजार फुट से ऊपर तो ये कतई नजर नहीं आते । श्रीलंका, बर्मा और अफ्रीका में भी ये बहुतायत से पाए जाते हैं । अफ्रीका का श्वेत-मयूर जगद्विख्यात है । इसका रंग विल्कुल सफेद होता है, मानो इसके पर ढाका के मलमल के बने हुए हो या चमकदार रेशम के । पश्चिम भारत में भी कहीं-कहीं ये पाये गए हैं ।

हर देश के मोर एक-से नहीं होते । मसलन विएत नाम में पाये जाने वाले मोरो की गर्दन काली होती है । यह जापान में उपलब्ध न होकर भी “जापानी मोर” के नाम से मशहूर है ।

जावा के मोर की चोटी औरों से भिन्न होती है, रंग में भी फर्क है । असम के मोर में नीलापन कम, हरापन और सुनहलापन अधिक होता है ।

यूरोप में मोर का प्रवेश सिकन्दर बादशाह के जमाने में हुआ । ऐसे तो ईसा से ५०० वर्ष पूर्व प्राचीन यूनान के एक कवि अरिस्टोफेन के काव्य में मोर का उल्लेख आता है, पर विद्वानों का मत है कि भारत से लौटते समय सिकन्दर कुछ मोर साथ लेता गया और उनसे ही मोर-वंश का विस्तार समस्त यूरोप में हुआ । फिर तो मध्ययुगीन यूरोप के देशों में कोई भी वह दावत सफल नहीं मानी जाने लगी जिसमें मोर का मांस न हो । मानव-श्रूतता को तो देखिए, मोर जैसे सुन्दर, कलापूर्ण पक्षी को भी उसने अपने आहार की सामग्री बना डाला ।

मोरो का पूर्व से व्यापारियों के द्वारा पश्चिम ले जाया जाना वाइविल (ओल्ड टेस्टामेंट) से भी सिद्ध होता है । उसमें लिखा है, कि बादशाह सुलेमान के शासनकाल में प्रति तीसरे वर्ष पूर्व के जहाज सोना, चादी, हाथी दात, वन्दर तथा मोर लाया करते थे ।

११वीं सदी में ईराक आदि देशों में भी भारत से मोर ला कर मोर की नसल तैयार करने की चेष्टा हुई, पर ये मोर भारत के मोरो जैसे सुन्दर न हो सके ।

संक्षेप में मोर की यही कहानी है । हमें इस बात का गौरव है कि उसके जैसा सुन्दर पक्षी मुख्यतः हमारे देश का निवासी है ।



## शीतकाल के पक्षी

कहा, कहो, आवास तुम्हारा, किस सुदूर पर्वत के पार—  
 कैसे सर, कैसे सरिताएं, करते जिनमें विहग विहार ?  
 प्रणय-भावयुत झोडाओ में, रहते खग क्या रत, लवलीन,  
 क्या न विचरते वधिक वहा है छप-कार्य में परम प्रवीण ?  
 मानसरोवर-सा तज कर सर, तजकर वह स्वर्गीय प्रदेश,  
 ताल-तल्यों का आकर्षण खींच तुम्हें लाया इस देश !  
 क्यों ? वोलो, पावन विहंगवर ! हिम पर्वत के वासी, धीर,  
 उपजाये उर कौन भाव ये, शारदीय सर, सरित समीर ?  
 किसके नयन-किलकिले-से यह, हुआ ग्रसित मन का तब मीन,  
 किस विहगी की मिलन-प्रतीक्षा के विहग, तुम हुए अधीन ?

शरदकाल के कुछ दिन बीतते-न-बीतते शीतकाल का पूर्वाभास मिलने लगता है । पश्चिम पवन में एक अजीब स्फूर्तिदायिनी ठडक आ जाती है, सूर्य की किरणें प्रिय लगने लगती हैं । सुबह दुर्बालो पर मोती की विछी हुई झालरे चमकने लगती हैं और आधी रात के व्यतीत होते ही चादर ओढने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, हल्का-सा जाड़ा लगने लगता है । तभी हम समझ जाते हैं कि अब शीतकाल का प्रादुर्भाव निकट है तथा उसके स्वागत के गीत गाने लगते हैं । महाकवि रवीन्द्रनाथ के शब्दों में जब हम कहते हैं—

आमरा येवेछि काशेर गुच्छ,  
 आमरा गेयेछि शेफालिमाला,  
 नवीन धानेर मंजरी दिये साजिये एनेछि डाला ।  
 एसो गो शारद लक्खी,  
 तोमार शुन्ध भेयेर रये,  
 एसो निर्मल नील पये,







ऐसो घीत श्यामल आलो, झलमल,  
वन, गिरि, पर्वते,  
ऐसो मुकुट परिया श्वेत शतदल  
शीतल शिशिर डाला !

झरा मालतीर फूले,  
आसन बिछानो निभूत कुजे,  
भरा गगार कूले ।

तो मानो इस स्वागत-गान को सुनकर शरद् काल के आते ही नवीन धान की मजरियो से सुसज्जित डालो से आकर्षित होकर सर्वप्रथम दो-चार छोटे पक्षी पहाड़ो से यहा उत्तर आते हैं और हमारे बाग-बगीचो मे पश्चिम समीर की पहली लहर के साथ-साथ ही एकाएक दृष्टिगोचर होने लगते हैं ।

लहतोरा—इनमें लहतोरा मुख्य है (चित्र सख्या . ४१) जिसके सम्बन्ध में पक्षी-विज्ञान के अनुभवी ज्ञाता कर्नल कनिंघम ने 'कुछ भारतीय मित्र और परिचित' नामक अपनी एक पुस्तक (१९०३) में बड़े सुन्दर ढंग से लिखा है कि लहतोरो की परिचित ध्वनि कानो में पडते ही मनुष्य यह समझ जाता है कि वे आ पहुँचे, अब दुख-ताप की जगह शीघ्र ही उत्तरी शीतल पवन हमारे शरीर को स्फूर्ति प्रदान करेगी और मह उस गर्मी से परित्राण पायेंगे जिसने सावन-भादो में हमें परेशान कर रखा था ।

पर यह लहतोरा, जिसे कुछ लोग लहतोरा भी कहते हैं, खजन जैसा कोई प्रिय पक्षी नहीं है । यह शिकारी चिडिया है जिसे अंग्रेजी में 'कसाई चिडिया' के नाम से भी पुकारते हैं, क्योंकि यह शीगुर आदि छोटे-छोटे कीड-मकोडो को तो खाता ही है छोटे-छोटे पक्षियों को भी बड़ी बेरहमी के साथ छापा मार कर पकड लेता है तथा उन्हें चोर-फाड कर हजम कर जाता है, और सख्त वदन होने पर उसे पेड के काटो में फँसा कर उसके टुकडे-टुकडे कर डालता है । यही नहीं, अपने घोंसले के पास काटेदार झाडी में यह बहुतेरे कीडे-मकोडो को पकड कर काटो में भोजन के लिए टांग कर रखे रहता है जो एक खासे बूचडखाने का दृश्य उपस्थित करता है (चित्र सख्या . ३९) । कीडे-मकोडे ही नहा, छोटे-छोटे पक्षियों के शिशु भी बहुधा काटो से टँगें दृष्टिगोचर होते हैं । निस्तन्देह क्रूरता की पराकाष्ठा है इस पक्षी में ।

उत्तर भारत में इसकी तीन उपजातिया पायी जाती हैं जिनमें दुधिया सबसे अधिक प्रसिद्ध है । कद मे औरो की अपेक्षा यह बडा, मैना-जैसा, होता है तथा रंग में भूरा, पर नीचे का हिस्सा और डँनो के अनेक पर सफेद होने के कारण, दूर से, खासकर उड्डोयमान अवस्था में, यह श्वेत प्रतीत होता है और शायद इसलिए लोग इसे दुधिया कहते ह ।

दूसरी उपजाति—पचनक—का कद बलबल जैसा, रंग सफेद, पीठ पर कल्यई होता है । तीसरी उपजाति—मटिया या कजला—की पीठ भी कल्यई रंग की होती है, पर पूछ पर सफेदी नहीं होती । चोच तीनों की अत्यन्त कठोर, मजबूत तथा देशकरे की तरह टेढ़ी होती है ।

बबूल के काटेदार वृक्ष इसे ज्यादा पसन्द है । कारण स्पष्ट है !

## भारत के पक्षी

**रामगंगरा**—हवा में शीतलता के आते ही एक दूसरे प्रकार के पक्षी, झुंड के झुंड, पहाड़ों से उतर कर हमारे बाग-बगीचों, मैदानों में छा जाते हैं। वे हैं 'रामगंगरा', जिनका दूसरा नाम फुदकी भी है। यह चार-पाच इंच की एक छोटी-सी चिड़िया है जो पेड़ों पर रहना अधिक पसन्द करती है। हा, कीड़े-मकोड़ों



की तलाश में ज़मीन पर भी अक्सर घूमती रहती है। इसका सर, गर्दन और छाती चमकीली, काले रंग की, होती है। गाल और नीचे का हिस्सा सफेद होता है, ऊपर का कजई। चोंच काली और पैर स्लेटी रंग के होते हैं। नर और मादा का रूपरखा में कोई अन्तर नहीं होता। रामगंगरा उन चिड़ियों में है जिन्हें सुन्दरता का वरदान प्राप्त है। बोली भी इसकी प्यारी है। ग्रीष्म-काल का आभास पात हा यह उत्तर का ओर, पहाड़ों को, चल देती है, हमारे बाग-बगीचों को सूना कर जाता है।

**सहेली**—सहेली भी हमारे शीतकाल के अतिथि-पक्षियों में है (चित्र सख्या . ६०)। जाड़ा आया नहीं कि सहेली आ पहुँची। यह अधिकतर गोल बना कर रहती है जिनमें एक-दो नर, बाकी मादाएँ हुआ करती हैं। इसीलिए लोगो ने इनका एक नाम सहेली आर दूसरा नाम 'सातसखों' रखा है। कद में यह गौरैया जैसी होती है। नर की आधा पीठ का ऊपरी हिस्सा और गले तक का निचला हिस्सा काला, डैनों को छाड़कर वदन का बाका हिस्सा चटक लाल और डैने काले होते हैं। मादा का रूप अधिकांशतः नर जैसा होता है, सिवाय इसके कि नर के वदन पर का लाल स्थल मादा में पीत वर्ण का होता है। कीड़े-मकोड़े इसके भी आहार हैं।

सहेला का हा एक छोटी उपजाति है—राजालाल। इसके शरीर का अधिकांश हिस्सा मटमले रंग का होता है, सिर्फ छाती पर एक लाल धारी होती है, पूछ आर डैना क ज्यादा पर लाल होते हैं। मादा की ठोड़ी काली होती है और पंखों में से कुछ जड़ रंग के होते हैं। यह झुंड बाँध कर रहती है और अपने सौन्दर्य पर इतराती फिरती है। कहाँ जमकर नहा बैठता। आज यहाँ, कल वहाँ, आज इस बाग में, कल उस बाग में। यहाँ इसका किस्सा है आर यहाँ इसका प्रणाला है।

**थिरथिरा**—'थर-थर कँपनी' या 'थिरथिरा' भी हमारे यहाँ जाड़ों के साथ-साथ ही आती है और वसन्त में पुनः पर्वतों के उस पार चल देती है। 'कार्तिक की रात, पाड़ो-पोंडो सियरात', ऐसे हा दिनों में इसका आगमन हमारे बाग-बगीचों में होता है। कद में यह छ इंच से ज्यादा नहा, नर धूमिल, काले वर्ण का होता है। जिस समय आश्विन के अन्त और कार्तिक के शुरू में यह इस देश में आती है, इसका रंग मटमला रहता



है, पर कुछ ही दिनों के बाद इसकी काया पलट हो जाती है और इसके नये-नये काले रंग के पर उग आते हैं । परमादा का रंग वादामी ही बना रहता है । दुम को यह हमेशा हिलाती रहती है और शायद इसी कारण इसका नाम थिरथिरा पड़ा है ।

शरद् ऋतु में जब जल, थल और आकाश स्वच्छ हो जाते हैं, हमारी नदिया और सरोवर भी एक अद्भुत शोभा को प्राप्त होते हैं । पावस की उन्मत्त तरंगों के स्थान पर मन्द-मन्द धाराएँ मन्थर गति से प्रवाहित होने लगती हैं । जल पंकहीन होकर श्याम रूप धारण कर लेता है और स्वच्छ दर्पण के समान हो जाता है जिसमें नीलाकाश

और तटवर्ती वृक्ष और उनकी टहनिया प्रतिबिम्बित रहती हैं । नव-विकसित पद्मपुष्पो से उसका तट भी अतिशय शोभाशाली हो जाता है । महाकवि वाल्मीकि के शब्दों में शारदीया सरिता क्षीणकाय होकर भी एक अपूर्व प्रभा विस्तारित करती है, ऐसी लगती है मानो नव वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, तन्वगी कोई नवप्रसूतिका हो ।

सर-सरिताओं के तट भी पक-विहीन, स्वच्छ, हो जाते हैं । सूर्य की किरणों में सिकता के लघु कण चमकते हैं मानो हीरा के छोटे-छोटे कण हो ।

बड़ी-बड़ी झीलों के उभय कूलों पर हरे धान के पौधे लहराने लगते हैं तथा नाना प्रकार के कतकी, गजकेसर, तुलसी-फल, कान्हर, लालसर, ललदेइया, वासमती धान<sup>१</sup> फूट पड़ते हैं, जिन्हें देखकर ग्राम्य वालाएँ उमग-भरे मन से कहने लगती हैं—

अगहन हे सखि, सारि लब्धि गेल,

फुटि गेल सभ रंग धान्,

तथा पवन उनके दानों की सुरभि चतुर्दिक फैलाने लगता है, तो ये (झील, सर-सरित, आदि) जल-पक्षियों को वारम्बार अपनी ओर आकर्षित करने लगते हैं । कविवर पत की यह उक्ति कि—

न जाने सौरभ के मिस कौन,

सदेश मुझे भेजता मौन,

इन पक्षियों पर पूरी तरह चरितार्थ होने लगती है । और तब ये पक्षी हिमालय के विविध प्रान्तों से दक्षिण दिशा की ओर चल पड़ते हैं—

कातिक के आवत हो धानन के डारनपै,

लाख-लाख फूटि आये फूल रात भर मै,

## भारत के पक्षी

सुन्दर सुवास जाको पवन चुराय चल्यो,  
खबर जनायो जाय पछिन कै घर मै ।  
दक्खिन दिशा को घाये पातिन रचाय खग,  
आये गगन बीच गावत एक स्वर मै,  
छाये चहु ओर मच्यो शोर कल-कूजन सो,  
चोच वै खवावै कोक कोकिन अघर मै ।

गरज यह कि हिमालय की गोद, यानी कश्मीर, तिब्बत, चीन के पहाड़ी प्रदेशों से ये चिड़िया फौरन दक्षिण की ओर उड़ चलती है और रातोंरात भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों में, सर, सरिताओं, झीलों के बीच या तटवर्ती खेतों में, छा जाती है और वहाँ उनके अविराम कल-कूजन से एक शोर-सा मच जाता है। सब से पहले तटवर्ती चहा तथा चुपका पक्षियों का आगमन होता है।

चहा—चहा एक छोटी-सी चिड़िया है (चित्र सख्या ६१) जिसकी विभिन्न किस्में हैं और जो पानी के किनारे रहना पसन्द करती है। यह बड़ी शर्मीली होती है और हमारी आहट पाकर फौरन उड़कर किसी झाड़ी में जा छिपती है। फिर भी शिकारी इसे अपना निशाना बना ही डालते हैं और वहेलिये इसे अपने जाल में फँसा कर शहरों में बेचते हैं। कहते हैं, खाने में इसका गोشت बड़ा स्वादिष्ट होता है, यही नहीं, यूरोप के अनेक देशों में यह अधविश्वास प्रचलित है कि चहा के मांस-भक्षण से मनुष्य के दात सोने के हो जाते हैं।

कहते हैं, सूर्य की तेज़ धूप इसे पसन्द नहीं, इसी से दोपहर में यह घान के खेतों अथवा पौधों की छाया में छिप जाती है, और गोधूली के समय बाहर निकल कर कीचड़ वाले स्थानों में आ बैठती है। चाँदनी इसे अतिशय प्रिय है, चाँदनी से उजले खेतों अथवा जलाशय के समीपवर्ती स्थानों में यह आनन्द के साथ आहार-विहार करती है। शिकारी को देखकर वजाय इसके कि यह दूसरे पक्षी की भाँति भाग खड़ी हो, दृढ़ता से जमीन से चिपक जाती है। यदि उड़ती भी है तो थोड़ी देर में पुन वही लौट आती है।

यह १०-११ इंच की छोटी-सी चितकवरी चिड़िया है जिसके नर और मादा में कोई भेद नहीं है। इसकी पीठ सफेद पट्टियों तथा धारियों से चित्रित काले रंग की होती है। डंने सफेद धारियों से युक्त गाढ़े भूरे रंग के होते हैं। नीचे का समस्त हिस्सा सफेद, और दुम काली होती है। कद और वर्ण भेद से, इसकी भी कई श्रेणियाँ या उप-जातियाँ हैं, पर स्वभाव प्रायः सबका एक जैसा ही है।

इसे आप अक्सर जल के किनारे छिछली जगहों पर बैठी हुई देखेंगे। इसकी चोच की एक खास बनावट है जिसके द्वारा यह कीचड़ से छोटे-मोटे कीड़ों को तो पकड़ लेती है, पर कीचड़ छन कर अलग निकल जाता है। गर्मियों के शुरू होते ही ये चहा पहाड़ों की ओर चल देती है, पर कुछ रुक भी जाती है जो ग्रीष्म-ताप के बढ़ने पर ही उत्तर की यात्रा करती है। कई वर्ष हुए हमारे एक मित्र के बगीचे में गर्मी के दिनों में भी इनका एक जोड़ा एक झाड़ी के पास हमेशा बैठा या उड़ता हुआ नजर आता था। अन्वेषण से पता चला कि झाड़ियों की ओट में मादा ने दो अंडे—जो छोटे और धारीदार हुआ करते हैं—दे रखे थे। अंडों से बच्चों के निकलने तथा उनके पर जम जाने के बाद एक दिन बड़े नज़रे उन चारों ने उत्तर की राह पकड़ी।

**चुपका**—चहे से मिलती-जुलती एक छोटी चिड़िया है जिसे अंग्रेजी में 'सैंडपाइपर' और हिन्दी में 'चुपका' कहते हैं। यह भी जल के किनारे का पक्षी है। कद इसका प्रायः आठ इंच होता है, ऊपरी हिस्सा सफेद चित्तियों से भरा, भूरे रंग का होता है और नीचे का सफेद। इसकी चोंच चहे से भिन्न, नुकीली होती है। कीचड़ की अपेक्षा जलाशयो—ताल-तलैयो—का साफ-सुथरा किनारा इसे अधिक रुचिकर है जहाँ के शान्त वातावरण में एकाकी विचरता हुआ यह कीड़ो-मकोड़ो को ढूँढता फिरता है। आगन्तुक की आहूट पाकर उड़ खड़ा होता है, पर फिर लौटकर अपने पुराने स्थान पर ही आ बैठता है।

**वटेर**—मास-भक्षियों को चहा बहुत प्रिय है पर उससे भी अधिक प्रिय वह छोटा-सा पक्षी है जो जाड़ों में हजारों की सख्या में उत्तर-पश्चिम दिशा से यहाँ आ पहुँचता है और फसल से लदे हुए खेतों तथा छोटी झाड़ियों में आनन्द के साथ उछलता फिरता है। घूप इसे वर्दाश्त नहीं, अतएव पौधों की छाया में, झुरमुटों में, अधिक काल व्यतीत कर वसन्त के आते ही पुनः अपने प्यारे वतन को लौट जाता है। यह है वटेर जिसकी कई उपजातियाँ हैं और वर्ण-भेद भी। रूप-रंग में तीतर से इसकी काफी समानता है। यही नहीं, दोनों का गोشت भी सफेद रंग का ही होता है—पर जहाँ तीतर गर्मियाँ भी हमारे देश में ही बिताता है, चहा ग्रीष्मकाल के शुरू होते ही पुनः पहाड़ी इलाकों की ओर चल देती है।

बड़े कद के वटेर को घाघस वटेर कहते हैं जिसके नर और मादा में किंचित् अन्तर है। इसके ऊपर का भाग भूरा होता है, डँने पर कथई धारियाँ, गले पर सफेदी दुम गाँठे कथई रंग की। मादा के गले पर लगरनुमा काला चिह्न नहीं रहता जो नर के होता है, पर उसकी छाती पर काली चित्तियाँ अवश्य होती हैं। चोंच इसकी स्लेटी भूरे रंग की तथा पाँव पीले होते हैं।

छोटे कद के वटेर को चिनिंग वटेर कहते हैं जिसका सीना सफेद न होकर काले रंग का होता है।

वटेर हिन्दुस्तान से अरब तक मिलते हैं। स्वभाव से ये डरपोक होते हैं तथा आदमी की नज़र से हमेशा ओझल रहना चाहते हैं। घान के खेत इन्हें अत्यधिक प्रिय हैं और इन खेतों में लगाये गये जालों में ये सँकड़ों की सख्या में फँसते रहते हैं। खाने के काम में तो ये आते ही हैं, लड़ाने के काम में भी आते हैं। शौकीन लोग बुलबुल की तरह ही इन्हें पालते हैं और लड़ाया करते हैं। लड़ाने के काम में लाये जाने वाले वटेरों को ब्राह्ममुहूर्त में ही गर्म जल से नहलाया जाता है, फिर इनके वदन की मालिश की जाती है। इन्हें साहसी बनाने और इनमें स्फूर्ति लाने के लिए अनेक तरीके करने होते हैं। महीने-दो महीने में ये काफी लड़ाके बन जाते हैं और फिर तो ऐसे लड़ते हैं मानो दो पहलवानों की कुश्ती हो रही हो। लखनऊ आदि शहरों में एक समय था जब कि इनके दगल हुआ करते थे तथा लोग इन पर हजारों की बाज़ियाँ लगाते थे। आज से प्रायः ४०-४५ वर्ष पहले हमारे यहाँ भी घर-घर में वटेर पाले जाते थे और उनकी लड़ाइयाँ हुआ करती थी। पर आज के परिवर्तित समय में वटेर लड़ाने की यह प्रथा खत्म-सी हो चली है।

## भारत के पक्षी

देखने में गौरये से इसका काफी समानता है ।

बटेर से भी छोटी एक चिड़िया है जिसे बिहार में बगेडी (बटेरी ?) कहते हैं । कद में यह गौरये से छोटी तथा भूरे रंग की होती है जिसके पखो पर काले चित्ते, पेट पर सफेदी होती है । यह एक ऐसी चिड़िया है जो सैकड़ों-हजारों की तादाद में खेतों तथा सरपत की झाड़ियों में उड़ती फिरती है । बहेलिये इसे जाल में फँसा कर बाजारों में बेचते हैं । यह भोज्य पक्षी है । जाड़ी के समाप्त होते ही यह झुड़-का-झुड़ पहाड़ों की ओर चल देता है ।

बटेर उन पक्षियों में है जिनके बच्चे अड़ों से निकलते ही चलना शुरू कर देते हैं तथा जिनके शरीर पर जन्म-काल से ही पर उगे होते हैं । भोर, मुर्गी, तीतर, बटेर आदि के पक्षी-शिशुओं की यह एक विशेषता है । थल पर रहने वाली चिड़ियों की तरह बटेर भी अड़े जमीन पर ही, किसी झुरमुट की ओट में बैठता है ।

वतख—इन तटवर्ती पक्षियों के बाद जल में रहने वाली उन वतखों का आगमन होता है जो गर्मियों में मानसरोवर आदि पहाड़ी झीलों में निवास करती हैं, पर शीत-काल के आते ही हमारे देश की झीलों अथवा नदियों में आ पहुँचती हैं ।

इनकी यात्रा विशेषतः रात में होती है । गोघूली अथवा अर्धनिशा में यदि आप गौर से देखेंगे तो सुदूर आकाश में आपको इनकी कतारे दिखाई देंगी, मानो कोई कारवा जा रहा हो । ये जलपक्षी हजारों की सख्या में कलरव करते हुए उड़ते नजर आते हैं । कभी-कभी तो ये इतनी ऊँचाई से जाते हैं कि इनका कूजन ही कर्ण-गोचर होता है, ये दिखाई नहीं देते । यही समय है जब कि इन झीलों के समीपवर्ती धान के खेत दानों से लद जाते हैं । इनसे आकर्षित होकर बतखें इन झीलों में उतर पड़ती हैं और तमाम जाड़ा यही बिताती हैं । बहुधा इनकी सख्या लाखों तक होती है । बहेलियों के जालों में फँसकर इनमें से बहुतेरी बाजारों में विकती भी हैं और बहुतेरी बन्दूक का निशाना भी बनती हैं, फिर भी ये इन झीलों में डूबी रहती हैं । हाँ, जब-तब समीपवर्ती झीलों में सैर को चली जाती हैं, पर पुन लौटकर अपनी झील में आ पहुँचती हैं । कुछ ऐसी भी है—जिनकी सख्या अधिक नहीं होती—जो गर्मियाँ भी इन्हीं झीलों में बिता डालती हैं । इन में मुख्य वे हैं जिन्हें हम चैती, तिदारी, बुडार, सवन, सीखपर, सुरखाव, हसावर आदि नामों से पुकारते हैं ।

जब इनके दल कलरव करते हुए आकाश-मार्ग से हिमालय की ओर से विभिन्न झीलों की ओर अग्रसर होते हैं तो इनका कूजन कानों को अत्यन्त प्रिय लगता है । एक अंग्रेज पक्षी-प्रेमी ह्यूम के शब्दों में—

“झुड के झुड इन पक्षियों का आकाश में उड़ते हुए कूजन करना अत्यन्त कर्णप्रिय प्रतीत होता है । बहुत कम शिकारी ऐसे होंगे जो उनके संगीत से जाह्लादित न हो उठें ।”

बिहार राज्य में, खासकर हिमालय के समीपवर्ती उत्तर बिहार में ऐसी झीलों की बहुतायत है, पर अफसोस ! कि इन झीलों से नहर निकाल कर जलपक्षियों के इन क्रीडास्थलों का सात्मा किया जा रहा है ।

**चैती**—यह कद में प्रायः १५ इंच की होती है (चित्र सख्या ५३)। नर और मादा के रंगों में अन्तर होता है। नर का सर और गर्दन का ऊपरी हिस्सा कत्यई रंग का होता है। गर्दन के पिछले हिस्से तथा पीठ में काली और सफेद धारिया होती है। डैने भूरे होते हैं और उन पर चमकीली, हरी तथा काली धारिया बनी होती है। पेट और सीना सफेद होते हैं।

मादा की पीठ का ऊपरी भाग, दुम तथा सारे ऊपरी हिस्से गहरे भूरे रंग के होते हैं। सीने पर चित्तिया काली न होकर भूरी होती है। अन्य वतखों की भांति ही चैती के पैर के अँगूठे भी जुड़े हुए होते हैं। पानी में यह डुबकिया भी लगाती है, खासकर जल्मी होने पर।

**तिदारी**—चैती से बड़ा होता है (चित्र सख्या ४६)। नर की गर्दन और सर का रंग चमकीला हरा, पीठ का चित्रित भूरा, दुम काली और भूरी होती है। डैने का रंग मिश्रित भूरा, स्लेटी, नीला और सफेद होता है तथा सीने पर सफेद, पेट पर कत्यई रंग होते हैं। इसकी चोंच और वतखों से अधिक लम्बी और चिपटी हुई होती है।

मादा का रंग धूमिल होता है : वदन का भूरा चितकवरा, पेट का कत्यई। बहुधा ताल-तल्लियों की कीचड़ में यह कीड़ो-मकोड़ों की तलाश में घूमा करता है।

**बुडार**—इस जाति की वतखें ज्यादा मशहूर हैं। इनकी तीन किस्में हैं—बुडार (चित्र सख्या ५०) नर, लालसर (चित्र सख्या ५१) और करछिया।

बुडार ज्यादातर गहरे और साफ जल में रहता है तथा निपुण पनडुब्बा है। इसका आहार मुख्यतः पानी में उगे हुए पौधों की जड़ें होती हैं। यह तिदारी से कद में छोटा होता है और सुस्त भी। अधिकतर रात में यह खाने की तलाश में घूमता रहता है। इसके नर का सर तथा गर्दन खैरे रंग की, सीना और दुम के ऊपर-नीचे के हिस्से काले होते हैं। अग के शेष हिस्से पीलापन लिए हुए स्लेटी रंग के होते हैं। पेट सफेद होता है। डैने भूरे होते हैं।

मादा के रंग में थोड़ा-सा फर्क रहता है।

लालसर का सर लाल होता है, करछिया का पेट सफेद।

उत्तर बिहार की झीलों में ये बहुतायत से पाये जाते हैं।

**सबन**—यह हंस की श्रेणी की एक वतख है जो देखने में काफी सुन्दर होती है। कद में प्रायः ३० इंच की होती है, सर सफेद होता है, गरदन भूरी होती है, ऊपरी हिस्सा राख के रंग का, पीठ और कन्धों पर पीलापन युक्त खड़ी धारिया, डैने भूरे जिनके किनारे काले, दुम हलकी स्लेटी, सीना सफेद, चोंच पीली, पैर गुलाबी—मोटे तौर पर इसकी यही रूपरेखा है।

तालाब और झील की अपेक्षा नदी का किनारा इसे अधिक प्रिय है।

**सीखपर**—यह देखने में सबसे अधिक सुन्दर होता है तथा दुम के बीच के दो पर सीख जैसे लम्बे होने के कारण इसका नाम सीखपर पड़ गया है।

## भारत के पक्षी

कदम यह (चित्र सख्या ५२) प्रायः दो फुट का होता है, दुम काफी लम्बी होती है। नर का सर और गला गाढ़े भूरे रंग का, वदन पर तरह-तरह की काली, सफेद और हरी धारियाँ, दुम भूरी और वादामी होती है। पैर स्लेटी रंग के होते हैं। मादा की गर्दन पर भूरी चित्तियाँ होती हैं, वदन के नीचे के सभी हिस्से सफेद होते हैं, पीठ और डैने स्लेटी लिए हुए भूरे रंग के होते हैं।

अधिकांशतः ये पानी में ही रहते हैं। सूखी जमीन पर शायद ही कभी आते हैं। ये एक साथ लाखों की तादाद में आकाश-मार्ग से चलते हैं तथा इनकी रफतार बड़ी तेज होती है।

**सुरखाव**—ये पात बाध कर नहीं चलते। अधिकतर जोड़ा बाध कर नदी या तालाब के किनारे रहते हैं (चित्र सख्या ४३)। कदम प्रायः २६ इंच के होते हैं। नर का सारा वदन सुनहला या नारंगी भूरे रंग का होता है, सर और गर्दन वादामी रंग की। गले के चारों ओर एक काली कठी होती है। पीठ का पिछला भाग और दुम का रंग काला होता है। डैने पर काले, हरे, सफेद-आदि कई रंग हुआ करते हैं। मादा के गले में कठी नहीं होती। चोच दोनों की काली होती है।

सुरखाव के प्रति कविवर राकेश की ये पक्तियाँ इस पक्षी के वास्तविक स्वरूप को अंकित करती हैं—

हे प्रफुल्ल चम्पक प्रसून-से प्रिय विहग, हे कृष्ण-चंचु व्रत,  
सिखत सलिल-से, पद्म-रेणु से सिद्धरित सर्वांग कातिम्बु!

सुरखाव के पर कई रंगों से चित्रित होने के कारण स्वभावतः बड़े सुन्दर लगते हैं और कई देशों में लोग इन्हें सर पर धारण भी करते हैं—‘सुरखाव का पर लगाना’ कहावत मशहूर है। यह बडप्पन का चिह्न माना जाता है।

सुरखाव को चकई-चकवा या कोक-कोकी भी कहते हैं। साहित्य में इनके दाम्पत्य-प्रेम का बार-बार जिक्र आया है। महाकवि वाल्मीकि ने इन्हें ‘स्मर-प्रिय’ कहा है—

अभ्यागतंश्चावविशालपक्षं.

स्मरप्रिय. पद्मरजावकीर्णः

महानदीना पुलिनापयात.

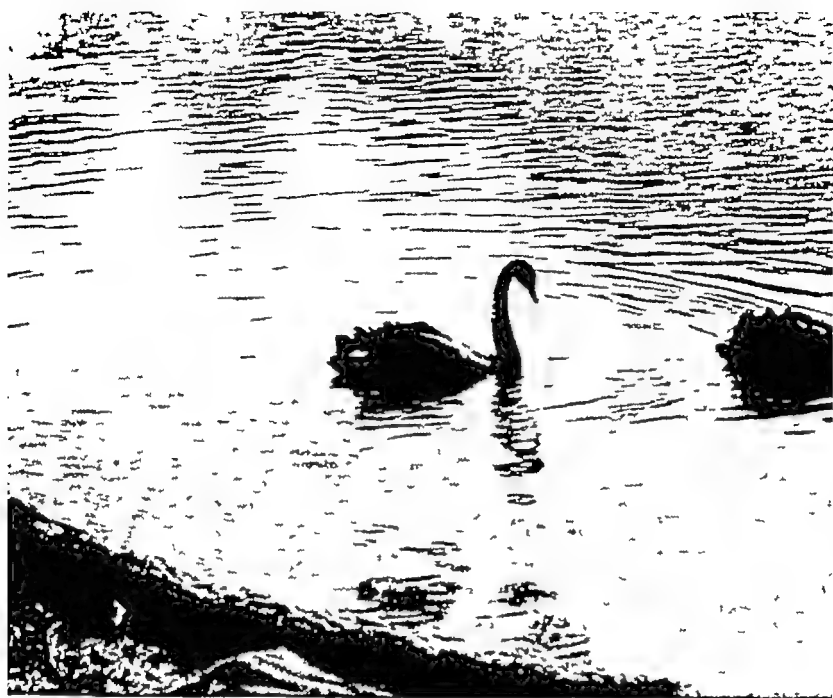
क्रोडान्तं हसा. सहचक्रवाकः।

—बड़ी पाखवाले, गूहागत, कामी, कमल की घूल से भरे हुए, महानदी के तट पर आए हुए चक्रवाकों के साथ हस-क्रोडा कर रहे हैं।

रात में इनके नर और मादा एक-दूसरे से विलग हो जाते हैं, क्रन्दन करते हैं मानों भगवान् भास्कर से प्रार्थना करते हैं कि वह उदित होकर इनका पुनर्मिलन करायें।

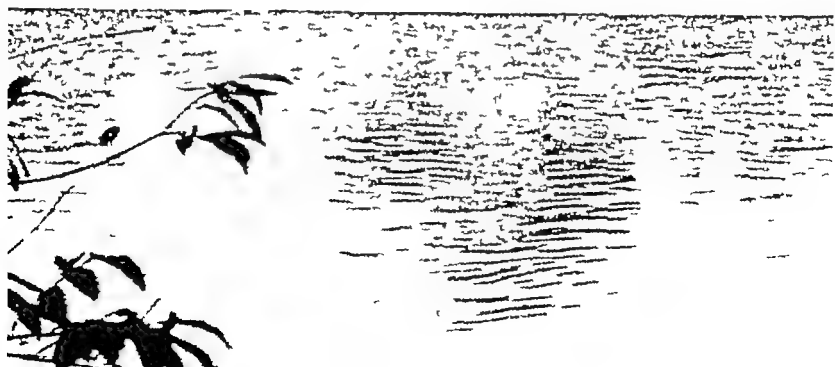
काव्य में इनके निशाकालीन विरह-क्रन्दन की चर्चा स्थान-स्थान पर आई है। नृपों को अस्ताचलगामी होते देखकर एक करुण-हृदय कवि ने उसके आने वाली वरह-वेदना का ध्यान करके उन्हें पूर्व से ही इन शब्दों में ढाढस बँधाया है—





हस युगल काश्मीर की एक झील में  
चित्र सख्या ७३

चित्र सख्या :  
हसों की जल



विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं—कामक्रीडा में सलग्न पाये जाते हैं । महाकवि वाल्मीकि के देखते हुए एक बहेलिये ने काम-क्रीडा-रत एक कौँच को अपने बाण का शिकार बना डाला था जिसके परिणाम-स्वरूप महर्षि के मुख से आप-से-आप शाप-सूचक 'मा निषाद' वाला श्लोक निकल पड़ा था जो परम विख्यात है ।

चक्रवाक के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

चक्रवाक, बक, खग समुवाई, देखत बनइ बरनि नहि जाई ।  
और इसमें सन्देह नहीं कि यह एक अतिशय श्रेष्ठ सुन्दर पक्षियों में है । शारदीय सरिता-तट के चक्रवाक और कौँच शोभा बढ़ाने वाले पक्षियों में हैं—

फूजत कहूँ फलहस, कहूँ मज्जत पारावत,  
कहूँ फारडव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत,  
चक्रवाक कहूँ वसत, कहूँ बक ध्यान लगावत,  
शुक, पिक, जल कहूँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गायत,  
कहूँ तट पे नाचत मोर, बहु शोर विविध पछी करत,  
जलपान न्हान करि सुखभरे, तट सोभा सब जिय धरत ।

(भारतेन्दु यमुना-छवि)

गल—यह मुख्यतः समुद्र का पक्षी है (चित्र सख्या ६८, ६९, ७०)—अंग्रेजी में इसे "गल" और हिन्दी में गंगाचील कहते हैं । यह अधिकांशतः विलायत में पाया जाता है, पर जाड़े के दिनों में हमारे यहाँ की नदियों, झीलें और तालाबों के किनारे भी झुंड का झुंड आ पहुँचता है और ग्रीष्म ऋतु के आरंभ काल तक रहता है । भारत में इसे 'घोमरा' भी कहते हैं, पर इसका सामुद्रिक नाम 'गल' ही सर्वत्र, देहातो में भी, प्रचलित है । इसकी पीठ और डैने राख के रंग के, सरगर्दन और दुम सफेद रंग की होती है । डैनों के कुछ पखों की नोक पर कालापन रहता है । गर्मियों में सर और गर्दन का रंग कत्यई में परिवर्तित हो जाता है । चोंच और पैर गाढ़े लाल रंग के होते हैं । दक्षिण भारत के समुद्री इलाकों में, खासकर समुद्र-तट पर, यह बहुतायत से पाया जाता है । देखने में सुन्दर होता है ।

हसावर—यह भी हमारे यहाँ शरदकाल के साथ-साथ आने वाले पक्षी है (चित्र सख्या ७१) तथा जाड़े भर रहते हैं । देखने में अत्यन्त सुन्दर होते हैं । सर, गर्दन बदन और दुम के कुछ भाग सफेद रहते हैं जिनमें गुलाबी झलक रहती है, डैने लाल होते हैं, चोंच गुलाबी होती है, पैर भी लाल ही होते हैं । टाँगें बड़ी और लम्बी होती हैं । अधिकतर गहरे पानी में कीड़े-मकोड़े तथा काई की तलाश करते रहते हैं जिन्हें ये अपना आहार बनाते हैं ।

कविवर राकेश ने निम्न पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग पर इनका भी वर्णन किया है—

छिछले पानी में एक चरण के बल पर,  
लम्बी ग्रीवा को मोड़ खड़े बलबल पर,  
पक्षों के नरन लवावे श्वेत, अबोरी,  
आखों की पुतली अरुणि सुमन-सी पीली,

\* \* \*

हंसावर नहीं, खिले सरसी में पंकज ।

‘हंसावर नहीं, खिले सरसी में पंकज’—जलस्थित हंसावर वास्तव में दूर से खिले हुए गुलाबी कमलों की याद दिलाते हैं। हंस, जिसके सम्बन्ध में श्रुति ने कहा है—“हंस के समान जल में निलेप रहकर विहार करने वाला योगी प्राण के सयमन में कुशल है”, तथा जो मुक्ता और दूध को ही अपना आहार बनाता है तथा जिसमें जल से दूध को विलग करने की क्षमता है—‘हंसैर्यथाक्षीरमिवाम्बुमध्यात्,’—वह, आर्या है कि, कश्मीर तक ही आता है, आगे नहीं बढ़ता<sup>१</sup>। पर उसकी विरादरी का यह पक्षी—हंसावर—शरदकाल के आते ही हमारा अतिथि होता है और हम इसे देखकर ही मराल के उस अमित सौन्दर्य की कल्पना कर लेते हैं जिसकी हमारे भारतीय साहित्यकारों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा जिसके सम्बन्ध में महाकवि कालिदास ने ‘ऋतुसंहार’ में लिखा है—

संपन्नशालिनिचयावृतभूतलानि  
स्वस्यस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि ।

१ पक्षिशास्त्र के कई पद्धतों का कहना है कि जिसे हम राजहंस के नाम से पुकारते हैं तथा जिसके सम्बन्ध में महाकवि कालिदास ने लिखा है—

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छलिन्ध्रामबन्ध्यम्  
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गजितं मानसोत्काः  
आ कंलासाद्विसकिसलयच्छेवपायेयवन्तः  
सपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।

वह बिल्कुल सफेद नहीं धूसर-मिश्रित है। अमरकोश में राजहंस का परिचय इस प्रकार दिया है—राजहंस वे हैं जिनका शरीर ‘सित’ तथा चरण और नेत्र ‘लोहितवर्ण’ के होते हैं—‘राजहंसास्तु ते चक्षुचरणैर्लोहितैः सिताः’। अब प्रश्न यह है कि ‘सित वर्ण’ किसे कहते हैं।

शब्दार्णव में लिखा है कि ‘सित’ रंग कवली कुसुम के सदृश है। कवली कुसुम—फेले का फूल—स्पष्ट है कि सम्पूर्ण स्वच्छ, धवल-श्वेत नहीं होता, सफेदी के साथ-साथ अन्य रंगों का भी इसमें सम्मिश्रण है। अतएव ‘सित’ से यहाँ तात्पर्य दूध जैसी सफेदी से नहीं है, वरन् उस सफेदी से है जिसमें और रंगों की भी झलक होती है। हा, अधिकांशतः सफेदी अवश्य होती है।

गरज यह कि उस पक्षी को ही, जिसकी सफेदी धूसर-पिंगल-मिश्रित है, तथा जिसके मस्तक, कंठ, शरीर और पूँछ का निचला हिस्सा बिल्कुल श्वेत, पर मस्तक के नीचे जिसके दो काली चौड़ी धारियाँ हैं, उसे ही कुछ लोग राजहंस मानते हैं। इसकी आँखें कमल जैसी लाल तथा पाँव भी लाल ही होते हैं। तिब्बत तथा लद्दाख के आसपास की झीलों के किनारे ये एक बड़ी सख्या में अड़ा देते पाये गये हैं। अन्यत्र दिये गये एक चित्र में (चित्र सख्या : ६२) तिब्बत-स्थित एक झील के आसपास इन्हीं का झुंड है।

पर इसमें मतान्तर है और दृढ़तापूर्वक यह कहना, कि यही वह क्षीर-नीर-विवेकी हंस है जिसका मेघवृत्त में उल्लेख है, कठिन है।

हंसं ससारसकुलैः प्रतिनावितानि  
सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥

अर्थात्, घरती धान के खेतों से सम्पन्न है; गायें शान्तिपूर्वक विचर रही हैं, हंस और सारस बोल रहे हैं, सभी कुछ जन-मन को मुग्ध करने वाला है ।

कौन बताये कि मानसरोवर के वे हंस, जो मुक्ता चुग-चुग कर ही अपना पेट भरते हैं—

हंस, छोड़ आये कहां मुक्ताओं का देश ?—

(साकेत)

रक्त-मांस के बने हुए वास्तविक पक्षी हैं या कवि की कोरी कल्पना ही ?

जाड़े के मौसम में हमारे यहाँ उत्तर अर्थात् पहाड़ी प्रदेशों से आने वाले पक्षियों में जिनकी ऊपर चर्चा की गयी है, वे ही मुख्य हैं । इनके अलावा भी कुछ हैं, पर वे नगण्य हैं । स्रजन का जिक्र एक स्वतन्त्र लेख में किया गया है, अतएव उसका यहाँ उल्लेख नहीं है ।

बहुधा पूर्वोक्त जल-पक्षियों को देखकर हमारे हृदय में इनके रोमानी जीवन का ध्यान हो आता है, और मन में ये प्रश्न आप-से-आप आ जाते हैं—

शीतकाल के अतिथि हमारे !

जल-विहार-रत हे सुपणे-स्नग,

रहते जो नित पख पसारें,

चक्रवाक हे ! हंसावर हे !

मुग्ध लालसर ! बेश संघारे,

हिम पर्वत के बीच, दिव्यतम,

कौन शील आवास तुम्हारे ?

पक्षियों का ऋतुविशेष में स्थान-परिवर्तन भी एक दिलचस्प विषय है । ऋतु-परिवर्तन-काल में एक से दूसरे देश को जाते समय ये पक्षी जिस रफ्तार से रोज उड़ा करते हैं उससे कहीं ज्यादा रफ्तार से उड़ते हैं । इसके कई कारण हैं । एक तो उन्हें दूर की यात्रा करनी पड़ती है जिसे वे कम से कम समय में तय करना चाहते हैं, दूसरे, वे आकाश में काफी ऊँचाई पर उड़ते हैं जहाँ हवा का वेग नीचे की अपेक्षा ज्यादा तेज रहता है और उसके साथ उड़ने में आप-से-आप तेज होती जाती है । नीचे तथा ऊपर की हवा के वेग में कितना अन्तर है, यह देखिए—

ऊँचाई (फुट)	वायु-वेग (मील प्रति घटा)
जमीन के ऊपर	११
३००	२५
१,०००	३०
१०,०००	६५
३०,०००	१००

स्पष्ट है कि एक पक्षी यदि १,००० फुट पर उड़ता है तो जमीन की ऊँचाई से अपनी उड़ान में वह १० मील प्रति घंटा अधिक की रफ्तार हासिल कर लेता है ।

तात्पर्य यह कि दूर देश का यात्री-पक्षी साधारण, नित्य-प्रति की उड़ान से काफी अधिक तेजी से उड़ता है । मसलन, आमतौर पर २६ से ३५ मील प्रति घंटा के वेग से उड़ने वाला अवावील स्थानान्तरित होते हुए ३८-४० मील तथा टिट्टिभ, जिसकी साधारण रफ्तार ३० से ४० मील प्रति घंटा है, ३७ से ४५ मील प्रति घंटे के हिसाब से रास्ता तय करता है ।

आश्चर्य की बात है कि ये पक्षी एक निश्चित समय पर एक जगह से दूसरी जगह—कभी-कभी हजारों मील दूर—आ पहुँचते हैं, मानो उनकी यात्रा का समय और पहुँचने का दिन पहले से तय हो । यही नहीं, यह भी देखा गया है कि अमुक पक्षी साल-बसाल अमुक स्थान पर ही, शीतकाल के आते-न-आते, आ पहुँचता है । पहचान के लिए गले में किसी वस्तु—छल्ले आदि को पहनाकर पक्षि-शास्त्र के विशेषज्ञों ने इस बात की जाच की है ।

इनकी यात्राएँ ज्यादातर उत्तर से दक्षिण तथा दक्षिण से उत्तर की ओर हुआ करती हैं । इनमें इन्हे हजारों मील तक की दूरी तय करनी पड़ती है । कहते हैं, सबसे लम्बी यात्रा वह है जो आर्कटिक इलाकों के कुररी पक्षी को जाडों में अंटार्कटिक प्रदेशों को—जहाँ उन दिनों ग्रीष्मऋतु बनी होती है—और फिर गर्मियों में अंटार्कटिक से वापस आर्कटिक इलाकों को करनी पड़ती है । ११,००० मील के इस सफर को वह बहुत थोड़े समय में तय कर लेता है ।

भोजन की सुविधा ही इन पक्षियों के स्थानान्तरण का मूल कारण है । यह भी देखा गया है कि ऐसे पक्षी वही पर घर बनाना और अड़े देना अधिक पसन्द करते हैं जहाँ ठंडक ज्यादा होती है । इसीलिए हमारे यहाँ जो पक्षी शीतकाल में हिमालय की ओर से उड़कर आते हैं वे घोंसले यहाँ नहीं बनाते, बल्कि लौटकर हिमालय के किसी भाग में ही बनाते तथा जनन-क्रिया सम्पन्न करते हैं । हिमालय की झीलो—लदाख की पेंगोंग, कराकोरम के दक्षिण रावण तथा मानसरोवर, ल्हासा के समीपवर्ती पालती आदि—के आस-पास यात्रियों ने लाखों की सख्या में ऐसे जल-पक्षियों को ग्रीष्मकाल में एकत्र पाया है । एशियाटिक रिसर्चेंज, खंड १२ (१८१६) के पृष्ठ ४६६ पर एक सज्जन का वयान है—

“जल के चारों ओर जंगली भूरी बतखों के छोटे-बड़े पर विखरे हुए थे । ये बतखें सयानी तथा कम उम्र की, दोनों—मुझे देखते ही झील के भीतर चली गयी । इनकी सख्या तथा इनकी वोट की मात्रा से मुझे लगा कि ये यहाँ काफी बड़ी सख्या में प्रति वर्ष आती तथा अड़ोस-पड़ोस की चट्टानों के बीच अड़े दिया करती हैं ।”

अत्यधिक सर्दों तथा वर्षा गिरने के कारण वे दक्षिण की ओर भले ही चली आयें, पर तीन चार महीने यहाँ रह कर, धान के खेतों में जी भर दाना चुग कर अन्त में देह में वासन्ती हवा के लगते ही उन्हें अपने पुराने घर की याद आ जाती है और तब वे हिमालय की ओर लौट चलती हैं । जब इनके चलने के दिन आते हैं तो इनमें एक खलवली-सी मच जाती है, किसी अज्ञात प्रेरणा से ये बेचैन-सी हो उठती हैं । डा० दामसन् के शब्दों में—

## भारत के पक्षी

“जब तक वे चल नहीं पड़ती, उनमें बेचैनी फैली रहती है। हेमत में वापस जाने से पहले उनमें बेचैनी का होना इस देश में सर्वविदित है।”

जब दल के दल ये पक्षी हिमालय से दक्षिण की ओर खाना होते हैं, तो ऐसा देखा गया है कि इनके दल का नेतृत्व नवजात—दो तीन मास की उम्रवाले—पक्षी करते हैं, बड़ी उम्रवाले इनका अनुसरण करते हैं, पर लौटती बार इसके ठीक विपरीत, जो उम्र में बड़े होते हैं, वे अपने निर्वाचित स्थल पर पहले पहुँचते हैं, बाकी पीछे, शायद इसलिए कि उन्हें आगे पहुँच कर घर तैयार करना रहता है ताकि निश्चित समय पर मादा अंडे देने में समर्थ हो सके।

दल की नेतागिरी करते हुए जब विहग-कुमार दक्षिण देश की ओर आते हैं तो पथ के अज्ञात होने पर भी वे अपने मार्ग से तिलमात्र भी विचलित नहीं होते। अन्त-करण की प्रेरणा ही उन्हें ठीक उस रास्ते से ले आती है जिससे होकर उनके पूर्वज न जाने कितने वर्षों से इस देश की यात्रा करते रहे हैं। ये अपने निश्चित समय पर यहाँ आ पहुँचते हैं कुछ तो आते समय रास्ते में रुकते हैं, कहीं दो चार दिन, कहीं हफ्तो, और कुछ बगैर यात्रा-भग किए हुए सीधे अपने निर्दिष्ट स्थान पर आ पहुँचते हैं। हिमालय के कतिपय स्थानों पर यात्रियों ने ऐसे पड़ाव देखे हैं जहाँ ये पक्षी दो-चार-दस रोज ठहर कर विश्राम करते हैं और तब आगे अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते हैं। इनमें जो कमजोर होते हैं, वे कभी-कभी अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के पहले ही हिम्मत हार बैठते हैं। हिमालय के कई यात्रियों का कहना है कि उन्होंने हिमालय-स्थित उन झीलों से, जिनकी चर्चा ऊपर आ चुकी है, मीलों दूर कई ऐसे थके हुए, शक्तिहीन पक्षियों को बेवसी की अवस्था में बैठे पाया था। ऐसे ही किसी यात्री की दयनीय दशा पर आसू गिराते हुए उर्दू के एक शायर ने कहा था—

किस्मत पे उस मुसाफिरे-बेकस के रोइए,

जो थक गया हो राह में मजिल के सामने।

इनके पथ भी एक प्रकार से निर्धारित हैं, हिमालय के ऊँचे शिखरों के ऊपर से न जाकर ये घाटियों के रास्ते से चलते हैं। ऐसी ही एक घाटी ‘क्रॉचरन्ध्र’ है जिसे कालिदास ने ‘मेघदूत’ में ‘हंसद्वार’ कहा है—यह कुमायूँ जिले में ‘नीतीघाटी’ के नाम से मशहूर है तथा इससे होकर तिब्बत के यात्री आया-जाया करते हैं—

प्रालेयाद्रेषपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्—

हंसद्वारं भृगुपतिपशोवर्त्म यत्क्रौंचरन्ध्रम्।

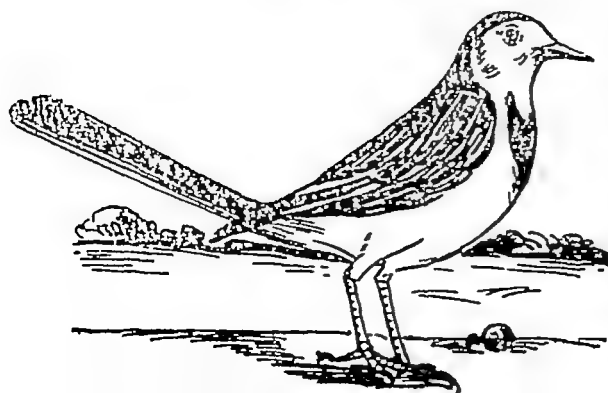
ऋतु-परिवर्तन के होते ही पक्षी स्थानान्तरण की तैयारियाँ करने लगते हैं। फिर जब कूच का उका वजने का समय समीप आता है, तो वे एक जगह एकत्र हो जाते हैं, जैसा कि अन्यत्र दिये गये एक चित्र से परिलक्षित होता है (चित्र सख्या ३८)। जब उनके गिरोह में सभी पक्षी आकर इकट्ठे हो जाते हैं—भूले-भटके तक आ पहुँचते हैं—नया वतन की याद उन्हें सताने लगती है, तो वे एक दिन—पता नहीं किसी शुभ-मुहूर्त पर या यों ही—मुड़-से उड़ चलते हैं।

इन पक्षी-यात्रियों के भी दो भेद हैं—एक वे जो निशाकाल में अपना सफर तय करते हैं, दूसरे वे जो कि दिवा-यात्री हैं।

इन पक्षियों के पास 'स्पीडमीटर'—रफ्तार जाचने का यन्त्र— नहीं होता, फिर भी ये बड़े नियम के साथ अपनी उड़ान पूरी करते हैं। जल की जिन बतखों की ऊपर चर्चा की गई है, वे औसतन ४० से ५० मील तक प्रति घंटे उड़ती हैं। अगर हवा अनुकूल रही हो तो ६० मील प्रति घंटे तक भी उड़ती हैं। दिन-रात में ६ से ११ घंटे तक ये उड़ती रहती हैं। एक उड़ान में टिकरी १६० मील तक, वनकुक्कुट २५० से ३०० मील तक तथा टिटहरी ११ घंटे में ५५० मील तक उड़ती हुई पायी गई है। पूर्व देशीय सुनहली प्लामर (टिटहरी) को समुद्र पार करते समय एक ही उड़ान में २०० मील का रास्ता तय करते हुए देखा गया है। जापान में पाये जाने वाले चहा पक्षी शीतकाल के दिन पूर्वी आस्ट्रेलिया एवं तस्मानिया में बिताते हैं और दोनों देशों के बीच की तीन हजार मील की दूरी एक ही उड़ान में पार कर लेते हैं। १,३०० से लेकर ३,००० फुट तक की ऊंचाई पर से देश-विदेश की सैर करने वाले ये पक्षी, उड़ते देखे गये हैं। भारतवर्ष के शीत-कालीन पक्षी, जो उत्तर से आते हैं, अधिकतर तिब्बत, साइबेरिया और कश्मीर से, उनका पथ-प्रदर्शन ब्रह्मपुत्र तथा सिन्धु नदियों की धाराएं करती हैं। एक चैती बतख—जिसे १९२९ की जुलाई में पश्चिमी साइबेरिया के किसी हिस्से में छल्ला पहना दिया गया था—उसी वर्ष के दिसम्बर महीने में उत्तर प्रदेश के गोडा जिले में पायी गयी थी। हिमालय के नगापर्वत आदि उच्च श्रृंगों की यात्रा करने वाले साहसी यानियों का कहना है कि उन्होंने १७,००० से लेकर २७,००० फुट तक की ऊंचाई पर इन पक्षियों को देखा है। यही नहीं, २३,००० फुट पर उन्हें कोए तक देखने को मिले हैं। इन बातों से यह स्पष्ट है कि ये पक्षी यदि चाहे तो काफी ऊंचे उड़ सकते हैं। यही कारण है कि हिमालय की ऊँची चोटियों की तनिक भी परवाह न करके ये प्रतिवर्ष यहाँ आ पहुँचते हैं।

## खंजन

वर्षा विगत शरद ऋतु आई,  
लछमन देखहु परम सुहाई।



वर्षा काल का  
अन्त हुआ, आकाश के  
काले-काले मेघ, जो  
आषाढ़ से ही किसी  
सुदूर देश से आकर  
छाये हुए थे, कभी फट  
कर व्योम के किसी कोने  
में जा छिपते थे, कभी  
लौट कर सारे व्योम-  
मंडल पर छा जाते थे  
तथा गरज-गरज कर

## भारत के पक्षी

इतना बरसते थे कि जल-थल में कोई अन्तर न रह जाता था, जल से भरे हुए अन्तरिक्ष में दिन-रात झूमते फिरते थे ।

वे किसी और देश को चले गए, आकाश स्वच्छ, धोया-धोया-सा, अत्यन्त निर्मल, दीखने लगा, पथ-पगडडियों का जल और कीच व्योम में अगस्त्य तारे के उगते ही ऐसा सूखा मानो उसने इन्हे सोख ही लिया हो । चारो ओर कास के रुपहले फूल खिल आये, सरोवर के तट पर वे ऐसे लगते हैं मानो वयोवृद्ध श्वेत-जटाधारी योगी-मुनि जल के किनारे ध्य नस्य बैठे हो तथा सृष्टि-सम्बन्धी शाश्वत प्रश्नों का समाधान ढूढ़ रहे हो—

तट पर चारो ओर सरोवर के हैं पुष्पित,  
शत-सहस्र घन श्वेत कास अति भाव-मग्न-से,  
लीन ध्यान में बैठे मानो वृद्ध तपस्वी,  
सवियों के 'कोऽह', 'कस्त्व' का प्रश्न-भार ले ।

आकाश में शरदेन्दु उग आया । जिस ओर देखिए, चन्द्र-ज्योत्स्ना दूध की भाति श्वेत और निर्मल दिखरी पड़ी है ।

चन्द्रोदय होते ही जगल के चकोर दल बाध-बाध कर शरदेन्दु की ओर ऐसे देख रहे हैं मानो वन के मुनिगण श्री रामचन्द्र को निहार रहे हो—

मुनि समूह में बैठे सन्मुख सबकी ओर,  
सरव इन्दु तन चितवत मानहु निकर चकोर ।

देखते-देखते दशहरा आ गया । चारो ओर प्राकृतिक फूलों के, मालती और माधवी के, वन्दनवार टँग गये । और इस शुभ अवसर पर न जाने कहा से उतर आये, नीले, अति सुन्दर पर वाले पक्षी नीलकण्ठ, और जहा-तहा विचरने लगे । इनका दर्शन इस अवसर पर अतिशय शुभ माना गया है तथा इन्हे ही देखकर कविवर विहारीलाल ने कहा था—

काल्हि वसहरा वोतिहं, धरि मूरख जिय लाज,  
बुर्यो फिरत कत व्रुमनि में नीलकण्ठ, बिनु काज !

और इनके साथ-साथ ही अगणित खजन, कद में अति छोटे, गौरैया जैसे, देखने में अति सुन्दर, सुहावने, उत्तर दिशा से—शायद पहाड़ों से—आ कर छा गये, जहा देखिए, पूछ को तेजी से हिलाते हुए, किसी प्रेम-गर्विता की चंचला आखों की तरह, नदी और सरोवरों के तट पर, पगडडियों पर, खेतों में, मकान की छतों पर, गृह-प्रागण में, वाग-वगीचों में घूमने लगे—

जानि शरव ऋतु खजन आये  
पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये ।

ये उतर पड़े शत-शत खजन,  
कोने-कोने में बिखर गये,  
ये भव-भूतल के वृग-रजन ।

रमणी के सुन्दर नेत्रों की सी जिसमें सुन्दरता है और उससे भी बढ़कर उन्ही जैसी चपलता, उसकी याद महात्मा सूरदास जैसे सन्तकवि को मरण-काल में भी न भूल पायी और उन्होंने दर्द-भरे शब्दों में कहा—



खजन नैन, रूप-रस माते,

उडि-उड़ि जात, निकट श्रवणन के, उलटि-मुलटि ताटक फँवाते ।

साहित्य में इतना उच्च स्थान प्राप्त करने वाली यह छोटी-सी चिड़िया आखिर है कौन ? पाठको के हृदय में यह प्रश्न आप-से-आप जाग्रत हो उठना स्वाभाविक है । तो सुनिये, खजन—खजरीट, खिडलिच—के सम्बन्ध में दो चार बातें ।

इस देश में पायी जाने वाली चिड़ियों में एक छोटी-सी चिड़िया है जिसे घोविन कहते हैं । यह यहा की बारहमासी चिड़ियों में नहीं है, शरद ऋतु के साथ-साथ आती है और वसन्त समाप्त होते-न-होते पहाड़ों की ओर चल देती है । वही, हिमालय की गोद में, पत्थरों के बीच, यह अपना घोंसला बनाती है, अंडे, जिनकी संख्या साधारणतः पाच होती है, देती है तथा सन्तान को पाल-पोस कर इस लायक कर देती है कि वह वर्षा समाप्त होते ही नीचे उतर आयें । इसकी लम्बाई ज्यादा से ज्यादा आठ इंच की होती है । इनमें कुछ ऐसी है जिनका रंग ऊपर नीला-हरा और भूरा होता है, नीचे पीला । दुम का मध्य का भाग काला, छोर सफेद होते हैं । गला भी सफेद ही होता है । वसन्त-काल में नर का गला मध्य भाग में विल्कुल काला हो जाता है । भोंहें सफेद होती हैं । दूसरे प्रकार की घोविन वह है जिसके नीचे का वर्ण सफेद होता है, गला कुछ काला होता है । बाकी पर भूरे होते हैं । दोनों ही प्रकार की घोविन की पूछ लम्बी होती है जिसे वह वारम्बार हिलाती रहती है । यही नहीं, गिरगिट की तरह अपना रंग भी बदलती रहती है—फर्क इतना है कि जहा गिरगिट दिन में कई बार रंग बदलता है, यह साल में कई बार । इसके पर गिर पड़ते हैं और फिर दूसरे, भिन्न रंग के उग आते हैं । यह इसकी विशेषता है । इसे किसी झील के किनारे रहना ज्यादा पसन्द है, जहा सदैव जमीन में पाये जाने वाले छोटे-छोटे कीड़ों को पकड़-पकड़ कर यह खाती रहती है ।

खजन, घोविन जाति की ही चिड़िया है और इसके मुख्यतः चार भेद हैं—सफेद, चितकवरी, भूरी और पीली । प्रकृति सबकी एक है । सबमें देखने में चितकवरी ज्यादा खूबसूरत होती है । नर के शरीर का ऊपरी हिस्सा राख के रंग का और नीचे का सफेद, सर के ऊपर का हिस्सा काला होता है, तथा छाती पर एक काला चन्द्राकार चिह्न रहता है । डंने काले होते हैं, जिन पर सफेद धारिया बनी होती हैं । किन्तु उनके सिर पर सफेदी रहती है । गर्मी आते ही नर का सारा वक्ष-स्थल चमकीला काला हो जाता है, मादा का धूमिल । आख की पुतलिया भूरी तथा चोंच और पाव काले होते हैं । खजन उन पक्षियों में है जो देखने में आखों को बड़े प्यारे लगते हैं ।

खजन साल में कई बार अपना रंग बदलते रहते हैं—कभी काला सफेद होता है, कभी सफेद काला । इनकी चंचलता जगविख्यात है और साहित्य में इसकी जगह-जगह पर चर्चा है ।

घने जंगलों में खजन शायद ही नजर आयें । ये अधिकतर जल के किनारे अथवा खेत-खलिहान में, पगड़डियों पर या मानव-आवास के बीच, गोशाला, घर के आगन आदि स्थानों में अपनी दुम हिलाते हुए घूमते रहते हैं । कहते हैं, हस्त नक्षत्र में खजन

## भारत के पक्षी

का इस देश में प्रथम आगमन होता है । प्रथम दर्शन के सम्बन्ध में जनश्रुति एवं ज्योतिष का विचार है कि यदि भांडार के कोने में, हस्त नक्षत्र में, पहली बार वह दृष्टिगोचर हो तो देखने वाले को उस वर्ष धन प्राप्त होता है, इसी तरह यदि ईशान कोण में देखे तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है । इसी तरह के विचार अन्य कोणों तथा दिशाओं के सम्बन्ध में भी हैं । हाथी के मस्तक अथवा गोबर के किसी टीले पर इसे देखना सबसे शुभ माना गया है, साप के मस्तक पर भी । हस्त नक्षत्र के बीत जाने पर खजन दर्शन का कोई फल नहीं होता ।

ग्रीष्म काल के आते ही खजन इस देश से चल देते हैं । गर्मी और बरसात ये पहाड़ों पर या हिमालय की घाटियों में बिताते हैं, वही अडे देते हैं और जब शरद् ऋतु का पुन आगमन होता है, भूमि पारिजात के पुष्पों से आच्छन्न हो जाती है, तो इस देश में ये पुन आ पहुँचते हैं । अक्सर ऐसा हुआ है कि किसी दिन प्रातः काल सैकड़ों खजन एकाएक चारों ओर घूमते हुए नजर आने लगे हैं जब कि पिछले दिन कहीं एक भी दृष्टिगोचर नहीं थे । इनका सहसा रातभर में इस तरह आकर चारों ओर छा जाना भी एक रहस्य की बात है ।

शरद् काल में खजरीट का प्रथम दर्शन हमारे हृदय में एक अद्भुत आह्लाद पैदा करता है और हम उत्सुकतापूर्वक गुलाब के फूलों से लदे उस मौसम की प्रतीक्षा करने लगते हैं, जब झमरावलियां गुनगुनाती हुई पक्ष-पुष्पों से पराग चुरा-चुरा कर अपने घर भरने लगती हैं, कुलागनाएँ एक दूसरी से कहती हैं—

(१)

निरख सखी, ये खंजन आये,  
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मनभाये ।  
फँला उनके तन का आतप मन ने सर सरसाये,  
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये ।  
फर के ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,  
फूल उठे हैं कमल, अघर-से ये बन्धूक सुहाये ।

(मैथिलीशरण गुप्त)

(२)

चुरा-चुरा फर मेरी ही आखों को खजन !  
वनी विहगि, तू भव-भूतल के हित दुग-रंजन ।  
मेरे नेत्र, लौट आ मेरे पास आज तू,  
पलक सेज पर आ फर मेरी, चिर-विराज तू ।  
मेरे नेत्र, लौट आ मेरे पास आज तू ।

## नीलकंठ

समुद्र-मथन से निकले हुए विष को भगवान शंकर ने अपने गले में रख लिया, अतएव वे नीलकंठ कहलाए। परन्तु नीलकंठ पक्षी ने वगैर विष-पान के ही नीलकंठ सज्ञा प्राप्त कर ली। यही नहीं, वह महादेव की कृपा का भाजन भी बन गया। तभी तो दशहरे के अवसर पर उसका दर्शन अत्यन्त शुभ माना गया। लोग दशहरे के दिन प्रातःकाल से ही नीलकंठ के दर्शन के लिए घर के आस-पास अपनी नज़र दौड़ाने लगते हैं—

नीलकंठ कौं दरस को, बुर्यो फिरत चहु ओर,

दोठि बसहरा दिवस को, पुन्य परव लखि भोर।

नीलकंठ का दर्शन पाकर लोग अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं। कारण लोक-कहावतो के स्रष्टा ङाक के शब्दों में सुनिये—

नीलकंठ कर दर्शन होए,

मन वाञ्छित फल पावें सोए।

फारसी के भी किसी शायर ने कहा है—

दशहरे रोज़ फ़र्रख़ अंजुमन दये अस्त,

पये लंका सवारी रामचन्द्र अस्त,

बबोवे नीलकंठी हिन्दुभारा,

तमाशे वाग बोस्तां विलपसन्द अस्त।

इसके दर्शन से हमारे सौभाग्य में वृद्धि हो या न हो, पर इसमें शक नहीं कि देखने में यह एक अत्यन्त सुन्दर पक्षी है। जब यह अपने दोनों पखों को फैला कर उड़ता है, तो इसके चमकीले पखों से अनोखा सौन्दर्य टपक पड़ता है। ये कई रंग के होते हैं पर इनमें नीले रंग की प्रधानता होती है। स्वर्ग के पक्षी की तरह इसे भी अपनी सुन्दरता के कारण बहुधा प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। कवि वायरन ने इटली को सम्बोधित करके कहा था—

इटली, इटली, हाथ मिला चर,

सांघातिक यह सुन्दरता का।

जैसे इटली को अपने अनुपम सौन्दर्य के कारण बारम्बार बाहरी आक्रमणकारियों की चोट बर्दाश्त करनी पड़ी थी—उसकी सुन्दरता ने उन्हें उसे जीतने के लिए प्रोत्साहित किया था, वैसे ही “न्यूगिनी के स्वर्ग पक्षी” तथा हमारे देश के नीलकंठ भी अपने सुन्दर पंखों के लिए तीर अथवा बन्दूक के शिकार होते आये हैं। इनके पंखों को लोग—मुख्यतः अंग्रेज आदि—अपने बन्दु-बान्धवों को उपहार के रूप में भेजते हैं।

देखने में जो सुन्दर होता है उसका दिल या प्रकृति भी सुन्दर हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। कम से कम नीलकंठ के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि देखने में यह जैसा सुन्दर है, स्वभाव में नहीं। इसको बोली कंकश है और स्वभाव झगडालू। जब देखिए, कटे हुए अनाज के खेतों में ये एक-दूसरे से लड़ रहे हैं, कुश्ती मची हुई है, जोरों में चचु-प्रहार चल रहे हैं, शोर मचा हुआ है। ये इनके रोजमर्रा के किस्से हैं।

## नारत के पक्षी

मादा को देखकर यह तरह-तरह के करिश्मे दिखाता है, उड़कर सीधे आसमान की ओर चला जाता है, फिर डूने बन्द कर नीचे की ओर ऐसे गिरता है मानो प्राणहीन हो गया हो, पर जमीन तक पहुँचते-न-पहुँचते पुन उड़कर खड़ा होता है । ऐसी अनेक लीलाएँ दिखा-दिखा कर वह मादा के मन को वश में कर लेता है, जोड़ा बाधता है, और तब दोनों मिलकर गृह-निर्माण—घोसला बनाने में लग जाते हैं । इसके अंडा देने का समय मार्च से जुलाई तक है । वैसे नाम तो इसका नीलकंठ है पर इसका कंठ नीला नहीं होता, पंख नीले होते हैं जो खुलने पर अत्यन्त सुन्दर लगते हैं । इसके सर के बीचो-बीच एक आसमानी चिन्ती होती है और वहाँ से पीठ तक का रंग भूरा होता है । तत्पश्चात् हरी और आसमानी लकीरे । डूने और दुम पर भी शुरू में आसमानी, फिर हल्का नीला और अन्त में गहरा नीला रंग होता है । कई रंगों में रंगा हुआ इसका शरीर देखने में बहुत ही सुन्दर लगता है । नर और मादा की रूप-रेखा में कोई अन्तर नहीं है ।

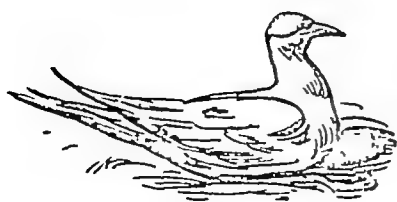
फसल को नुकसान पहुँचाने वाले कीड़े-मकोड़े, टिड्डी, झींगुर, गुवरैला, चुहिया, मेढक, साप आदि—इसके आहार हैं । इनकी खोज में यह चुपचाप बैठा हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानो मिट्टी की मूर्ति हो, पर शिकार को देखते ही बिजली की तरह उस पर झपट्टा मारता है और उसे पकड़ कर खा जाता है । सूर्यास्त के पूर्व बहुधा टेलीग्राफ के तार पर ये ध्यानमुद्रा में बैठे हुए नजर आते हैं ।

नीलकंठ ऐसी जगहों पर बैठना अधिक पसन्द करता है जहाँ से वह चारों ओर वगैर किसी रुकावट के अपनी नजर दौड़ा सके, उड़ कर कीड़ों को पकड़ सके (चित्र सख्या ६४) । कहावत मशहूर है—

नीलकंठ फीरा भल्लं करै बधिक को काम ।

○

## ✓ कुररी या टिटहरी



गोस्वामी तुलसीदास ने “विलपत ज्यो कुररी की नाई” लिख कर जन-समाज की इस धारणा को, कि कुररिया निशा-काल में श्रन्दन करती है, और भी पुष्ट कर दिया । श्री मुकुटधर पांडेय की कल्पना शायद तुलसीदास की इस पंक्ति से ही एक

दिन सहमा सजग हो उठी थी और आज से प्राय ३०-३५ वर्ष पहले उन्होंने दिन भर सुदूर खेतों में दाना चुगने के बाद महानदी के गर्भ में विश्राम करने वाली कुररी के प्रति ये सुन्दर पंक्तियाँ लिखी थी—

यता मुझे ऐ विहग<sup>१</sup> विदेशी अपने जी की बात  
 पिछड़ा था तू कहा, आ रहा जो कर इतनी रात ?  
 निद्रा में जा पड़े कभी के, ग्राम्य मनुज स्वच्छन्द  
 अन्य विहग भी निज खोलो में सोते हैं सानन्द ।  
 इस नीरव घटिका में उड़ता है तू चिन्तित-गात,  
 पिछड़ा था तू कहाँ, हुई क्यों तुझको इतनी रात ?

\* \* \* \*

अन्तरिक्ष में करता है तू वयो अनवरत विलाप,  
 ऐसी दारुण व्यथा तुझे क्या है, किसका परिताप ?  
 किसी गुप्त दुष्कृति की स्मृति क्या उठी हृदय में जाग ?  
 जला रही है तुझको अथवा प्रिय वियोग की आग ?

महाकवि कालिदास ने भी, रघुवश में, कुररी-ऋन्दन का उल्लेख किया है, यथा—

तथेति तस्याः प्रतिगृह्यवाच  
 रामानुजे दृष्टिपथ व्यतीते,  
 सा मुक्त कठ व्यसनातिभारा—  
 च्चक्रन्द चिन्ता कुररीव भूय ।

पर प्रश्न यह है कि आखिर यह कुररी है कौन-सा पक्षी ? श्री पारसनाथ सिंह ने “पक्षी-परिचय” नामक अपनी पुस्तक में टिटहरी (चित्र सख्या ६५) को कुररी माना है । किन्तु कुअर सुरेशसिंह के विचार में यह टिटहरी से भिन्न एक पक्षी है । उनके स्थाल से यह एक स्वतन्त्र पक्षी है जिसे अंग्रेजी में ‘टर्न’ नाम से पुकारते हैं । टर्न की अनेक किस्में हैं जो शील और नदी के तटों पर बैठी रहती हैं, मछली का आभास पाकर उड़ती हैं और झपट्टा मार कर उसे पकड़ लेती हैं । मुख्य किस्में दो हैं—एक बड़ी और दूसरी छोटी । बड़ी का कद प्रायः १६ इंच का होता है, इसके सारे शरीर का रंग हल्का स्लेटी होता है, नीचे का हिस्सा अत्यधिक हल्का । शीष्म ऋतु में सर का कुछ हिस्सा गाढ़ा काला हो जाता है, मानो कोई मखमली टोपी हो । चोंच लम्बी होती है तथा पैर के अगूठे बतखों जैसे जुड़े होते हैं । यही कारण है कि यह पेड़ों पर न बैठ कर जमीन पर ही बैठी रहती है । हा, पर बतख जैसे पैर पाकर भी यह पानी में तैरना नहीं जानती । इसकी दुम और डेने काफी लम्बे होते हैं ।

छोटी टर्न के नीचे का तमाम हिस्सा भी काला होता है । हा, प्रसव के बाद कुछ दिनों के लिए इसके काले रंग में गाढ़ी सफेदी आ जाती है ।

अड़े नदी के किनारे या किसी निर्जन टापू पर जमीन में देती है तथा बैठी हुई उनकी निगरानी करती रहती है ।

ये झुड-की-झुड साथ रहती हैं । शाम के वक्त अक्सर पानी के ऊपर सटी हुई ये मछली की ताक में उड़ती रहती हैं । ससार के अधिकांश देशों में इनकी कोई-न-कोई

१. कुररी अधिकतर जाड़े के दिनों में ही इस देश में देखी जाती है, बाकी दिनों में नहीं ।

## भारत के पक्षी

किस्म पाई जाती है। इन्हीं में एक सामुद्रिक कुररी भी है जो समुद्र के तट पर ही विशेषतः नजर आती है। कुछ किस्में ऐसी हैं जो गर्मियों में ठंडे देशों को चल देती हैं, कुछ, जो संख्या में बहुत हैं, गर्मियों में भी उष्ण प्रदेशों में ही रह कर अडे देती हैं।

बम्बई के प्रायः १७०० मील दक्षिण सेसिल द्वीप समूह (Seychelles Islands) में हजारों की तादाद में कई किस्म की कुररियाँ पायी जाती हैं—काली, सफेद, गुलाबी आदि। इन में एक ऐसी जाति भी है जिस के सर पर तुर्रा होता है। यह भारत के भी कई समुद्र-तटवर्ती भागों में पायी जाती है।

जैसा कि पहले कह आये हैं, ये नदी, झील या समुद्र के निर्जन सिकतामय तटों पर अडे देती हैं। एक साथ झुड़-के-झुड़ अडे देती तथा उन्हें बैठी सेती रहती हैं। सयोगवश वहाँ यदि आप कभी पहुँच जाए तो देखेंगे कि आपकी उपस्थिति ने एक तहलका मचा डाला है। अडे सेती हुई ये चिड़िया सहसा उड़ पड़ेंगी। जल के ऊपर उछते हुए पक्षियों का झुड़ भी फौरन वहाँ आ उपस्थित होगा और फिर तो वे सभी मिलकर आपके सर के ऊपर मड़राना तथा एक विचित्र प्रकार का क्रन्दन करना शुरू कर देंगे और थोड़ी देर में आप वहाँ से स्वयं ही चल पड़ेंगे। “विलपत ज्यो कुररी की नाई” से अभिप्राय क्या इसी क्रन्दन से है ?

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध, अध्याय ७, में अवधूतोपाख्यान की चर्चा है। महाराज यदु से अवधूत कहते हैं—

हे राजन्। मेरे अनेक गुरु हैं जिन्हें मैंने अपनी बुद्धि से स्वीकार किया है उनके नाम सुनो—

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कपोत, अजगर, समुद्र, पतंग, मधुमक्खी, हाथी, मधुहारी, हरिण, मीन, पिंगलावेश्या, कुरर पक्षी

और फिर आगे चल कर यह बताते हैं कि उन्होंने कुरर पक्षी (स्त्री०—कुररी) से क्या सीखा—

परिग्रहो हि दुःखाय यद्यत्प्रियतमं नृणाम्  
अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान्यत्स्वर्गकिञ्चन ।  
सामिपं कुररं जघ्नुर्वलिनो ये निरामिषाः  
तवामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ।

—अर्थात् (कुरर पक्षी से मैंने यह सीखा है कि) मनुष्यों को जो-जो चीजें अतिशय प्रिय हैं उनका संचय करना ही उनके दुःख का कारण है। ऐसा जानकर अकिञ्चन भाव से रहने वाला (असंग्रही) असीम सुख का भागी होता है। एक कुरर पक्षी को, जो चोच म मास लिए हुए था, कुछ अन्य बलवान पक्षियों ने देखा। इन पक्षियों के पास मास नहीं था। उन्होंने कुरर को बहुत मारा, तब उसने उस मास को त्याग दिया और शान्ति प्राप्त की।

टीकाकारों ने यहाँ कुरर पक्षी से चील की श्रेणी के एक पक्षी का आशय माना है, चूँकि चोच में मास लेकर उड़ने वाला, मास का शोकीन पक्षी चील ही है जिसके सम्बन्ध में गालिव की यह उक्ति मशहूर है—

विरमो-वाम अपने पास कहां ?

चील के घोंसले में मास कहां ?

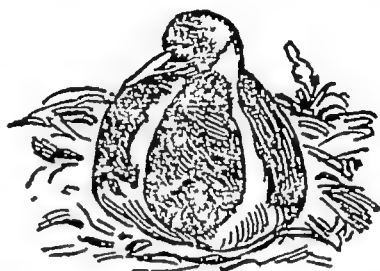
कुररी को मछली का शौक तो ज़रूर है, पर मास का शौक है कि नहीं, यह हमारे वे पाठक ही बता सकेंगे जिन्हें कुररियों का सान्निध्य प्राप्त हो। महाकवि वाल्मीकि ने रामायण में इसका जिक्र इस प्रकार किया है—

द्वितीयो बलिभोजाना ये च वृक्षफलाशना.

भासास्तृतीय गच्छन्ति क्रीचाश्च कुररैः सह ।

तो क्या कुररी चील की जाति का ही कोई पक्षी है ? स्वभावतः उपर्युक्त पक्षितया पढ़ कर यह प्रश्न हमारे मस्तिष्क में जाग्रत होता है ।

कुछ लोगों का कहना है कि कुररी और कोई पक्षी नहीं टिटहरी ही है, जो तमाम रात करुण-क्रन्दन करती रहती है। कभी-कभी तो इसके विलाप से हमारी नींद तक हराम हो जाती है। इसकी बोली में रोनेपन का इतना आभास है कि लोग इसका धोलना अशुभ तक मानने लगे हैं। टिटहरी भी पानी के किनारे रहने वाली चिड़िया है, जिसका कद



धारह-तेरह इच से अधिक नहीं होता। इसके सर, गर्दन और सीना काले होते हैं, नीचे का हिस्सा सफेद। गर्दन पर दोनों ओर दो सफेद धारिया होती हैं, जो ऊपर आखों तक चली जाती हैं। पूछ और डैनों में भी सफेद धारिया रहती हैं। इसकी चोंच लाल, आख की पुतली कत्यई और पैर पीले होते हैं। पीठ और डैने लाल और हरेपन की चमक लिए हुए होते हैं। वदन दुबला होता है और इसी लिए कभी-कभी अत्यन्त क्षीण शरीर वालों की उपमा टिटहरी से दी जाती है। पर इसका प्रयोग बुरे भाव में होता है, अच्छे में नहीं।

टिटहरियों में ही एक छोटी जाति की, तेज उड़ने वाली, टिटहरी होती है जिसके सर पर एक चोटी होती है। एक तीसरी जाति भी है जिसकी चोंच लाल नहीं, पीले रंग की होती है।

टिटहरी की आदतें बहुत कुछ पूर्वोक्त टर्न पक्षी से मिलती हैं—जल के किनारे खुली रेती में अड़े देना, किसी के आने पर उड़ कर शोर मचाना आदि-आदि। मनष्य को देखकर कभी-कभी यह उसके आगे-आगे दौड़ने लगती है, निकटस्थ होने पर आवाज करती हुई उड़ पड़ती है। पर कुछ ही क्षणों में पुनः पूर्ववत् जमीन पर दौड़ना शुरू कर देती है।

शिकारियों के लिए यह एक बड़ा विघ्नकारक पक्षी है। जहां किसी शिकारी को किसी टिटहरी ने देखा झट शोर मचाना शुरू कर देती है। यही नहीं, उड़कर शिकार—शेर, चीते, भालू, घड़ियाल आदि—के पास फौरन पहुंच जाती है और जोर से चिल्लाना आरम्भ कर देती है, जिससे वे सतर्क हो जाते हैं, समझ जाते हैं कि कोई शिकारी निकटस्थ है, और आत्मरक्षा में सलग्न हो जाते हैं। शिकारी इसीलिए टिटहरी को बड़ी नफरत की निगाह से देखते हैं।

## भारत के पक्षी

कटे हुए खेत तथा वे स्थान जहाँ से जल हट गया हो, पर नमी मौजूद हो, इसे अधिक पसन्द है। छोटे कीड़े-मकोड़े इसके आहार हैं। रात में शायद इसे नींद नहीं आती क्योंकि सारी रात यह बोलती रहती है। कौन जाने किसकी विरह-व्यथा में।

टिट्ठरी सोते समय अपने पावों को ऊपर की ओर कर के सोती है। कहते हैं, एक बार किसी ने उससे इसका कारण पूछा तो उसने बड़े गर्व के साथ उत्तर दिया कि मूर्ख! तुझे पता नहीं आकाश गिरने वाला है। उसे मेरे सिवाय कौन दूसरा थाम सकेगा? उसे रोकने की ही तो मैं अपने पाव ऊपर की ओर रखती हूँ। ऊपर की ओर पाव करके सोने के कारण ही संस्कृत में इसे 'उत्पादशयन' या 'उत्तानपाद' भी कहते हैं—'टिट्ठि-भस्तु कटूक्काण उत्पादशयनोहन्तुक।' पर प्रश्न यह है कि क्या टिट्ठिभ (टिट्ठरी) रात में सोते भी हैं। "राजनिघण्टु" कहता है—

टिट्ठिभीपीतपावश्च सदालुता नृजागर

निशाचरी चित्रपक्षी जलशायी सुचेतना ।

यदि यह निशाचरी है, तथा 'सुचेतना'—सदा जाग्रत और सतर्क, तो फिर सोती कब है? कंठेन लेगी लिखते हैं—

"यह रात में बड़ी सतर्क—रहने वाली चिड़िया है, अपनी आवाज से सोयी हुई वन की प्रकृति को जगा कर भयभीत कर देने वाली है।"

सम्भव है कि यह नींद में न होकर पाव ऊपर करके विश्राम-मात्र कर लेती हो या वह इसकी श्वान-निद्रा हो। पक्षीतत्त्वविद् 'ईहा' महोदय का कथन है कि किसी ने आज तक टिट्ठरी को निद्रित अवस्था में नहीं पाया।

पूर्वोक्त श्लोक में टिट्ठिभ की स्वभावगत प्रवृत्तियों का उल्लेख है—'सदालुता' नर और मादा का पृथक्-पृथक् विचरण करना जाहिर करता है, नृजागर एव निशाचरी है, चित्रपक्षी है शरीर पर इसके चित्राकण जैसा वर्ण-विन्यास है, जलशायी है जल से घिरी जगहों, टापू आदि, इसका निवास स्थल है, तथा 'सचेतना'—हमेशा सतर्क रहने वाला पक्षी है कभी गाफिल नहीं होता। दिन हो या रात, आगन्तुक को देखते ही टिट्ठि-टिट्ठि करता हुआ यह भाग खड़ा होता है। पक्षतन्त्र में टिट्ठिभ (टिट्ठरी) के सम्बन्ध में एक रोचक कथा है, जो इस प्रकार है

किसी समुद्र के तट पर एक टिट्ठिभ-दम्पति रहा करता था। प्रसवकाल के निकट होने पर टिट्ठिभी ने एक दिन टिट्ठिभ से कहा—अब मेरा प्रसवकाल समीप है, अतएव एक सुरक्षित स्थान ढूँढो जहाँ मैं अंडे दे सकूँ। टिट्ठिभ बोला—समुद्र तट से बढ़िया कौन-सा स्थान हो सकता है, यही अंडे दो। पर टिट्ठिभी को यह बात पसन्द न आयी, बोली—समुद्र में ज्वार-भाटा आता रहता है, मेरे अंडों को वहाँ ले जाएँगा। टिट्ठिभ ने अहंकार भरे शब्दों में कहा—समुद्र की क्या मजाल कि वह मेरे अंडों का अपहरण करे।

समुद्र के कानों में उसके ये अहंकार-भरे शब्द आए। उसने सोचा, ठीक ही कहा है, कि यह सत्तार अहंकारियों से भरा हुआ है—

उत्क्षिप्य टिट्ठिभ पादावास्ते भगभयाद्वि

स्वचित्तकल्पितो गर्व कस्य नात्रापि विध्यते ?







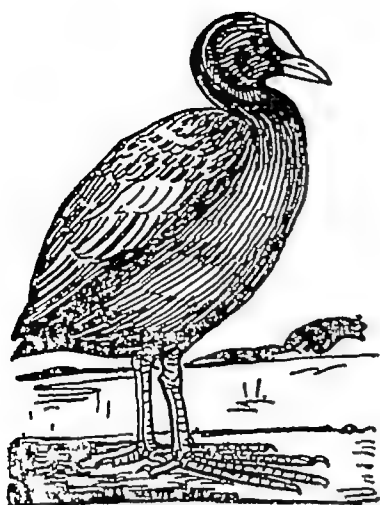
—आकाश के पतन की आशंका से टिट्ठिभ अपने पावों को ऊपर करके सोता है। इस सप्ताह में किस मनुष्य को अपने चित्त से कल्पना किया हुआ अहंकार नहीं है ?

अन्त में टिट्ठिभ की बात ही रही तथा टिट्ठिभी ने समुद्र-तट पर अडे दिए। समुद्र उसके अहंकार को वर्दाश न कर सका, पूर्णिमा के दिन सारे अडे को बहा ले गया।

टिट्ठिभी दुखी होकर सिसकिया भरने लगी, फिर पति पर क्रोधित हो कर वरस पड़ी। टिट्ठिभ ने कोई दूसरा उपाय न देखकर पक्षी-कुल-सम्राट गरुड के पास जाकर अपनी दुःख-गाथा कह सुनाई। गरुड ने भगवान विष्णु से इसकी फरियाद की। गरुड उनका प्रिय वाहन ठहरा, वह किस तरह उसकी अवहेलना करे। सो अन्त में समुद्र को भर्त्सनाए सुननी पड़ी। यही नहीं, टिट्ठिभी के अपहृत अडे भी उसे लौटाने पड़े। उसका मान-मर्दन हुआ। वह भी एक छोटे-से पक्षी के द्वारा—

पश्य, टिट्ठिभमाश्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः ।

एक पक्षी के कारण महासमुद्र तक को अपमान का घूट पीना पड़ा। पर जैसा कि किसी कवि ने कहा है, सब में सुहागिन वही है जिसे प्रियतम का प्यार प्राप्त है। गरुड न केवल भगवान का वाहन है, वह उनकी असीम कृपा का भाजन भी है। फिर ऐसा हुआ तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?



## जल-तट के पक्षी

“शेतकाल के पक्षी”—शीर्षक लेख में हमने उन जल-पक्षियों की चर्चा की है जो जाड़ो में दल-के-दल पहाड़ों की ओर से यहाँ, इस देश की विभिन्न झीलों में, उतरते हैं और हजारों, लाखों की सख्या में छा जाते हैं। फिर वसंत के आते-आते पहाड़ों को लौट जाते हैं। पर इनके साथ-साथ इन झीलों में कुछ ऐसे जल-पक्षी भी निवास करते हैं जो इनकी तरह “जलपाद” होकर भी इनसे प्रकृति में भी भिन्न हैं, और रूप-रेखा में भी। ये सभी जल-कुक्कुट वंश के पक्षी हैं जिनका उल्लेख महाभारत के वन पर्व में आया है—कादम्ब-वृक्ष-कवाकंश-चक्रुर रंजजलकुक्कुटैः। सुश्रुत संहिता आदि ग्रन्थों में भी जल-पक्षियों में जल-कुक्कुट का उल्लेख आया है तथा ग्रन्थकर्ता ने इन्हें जलपाद, जालाकार पाव वाले कहा है, जसा कि जल में तैरने वाले सभी पक्षियों के पांव हुआ करते हैं। इनकी एक नहीं, अनेक किस्म हैं, रंग-रूप में भिन्नता है, फिर भी प्रकृति-सादृश्य के कारण ये सभी जल-मुर्ग की श्रृंखला में ही रखे गए हैं।

अन्य जल पालया में और इनमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि ये जलचारी भी हैं, भू-चारी भी। जल-यल दोनों ही इनके समान रूप से निवास-स्थल हैं। झील-तालाब आदि जलाशयों के इद-गद के झाड़ियाँ, सरपत आदि के झुरमुट में, ये एकान्त जीवन बिताते हैं। आस-पास के धान के खेतों में विचरते हैं, कभी समीप की वृक्ष-शाखाओं पर बैठकर वायु-मान करते हैं। कभी जल में तैरते हैं और किसी आगन्तुक का देखते ही जल में ऐसा डुबका लगाते हैं कि फिर इनके आस्तित्व का पता लगाना मुश्किल हो जाता है। हाँ, पाना से य जब-तब सर निकाल कर देख लेते हैं कि आगन्तुक है या चला गया, तब फिर य पाना में डुबका लगाते हैं।

जल के बाहर घास में या झाड़ियों में, ये इस प्रकार छिपे रहते हैं कि हमें तब तक इनका आभास नहीं मिल पाता, जब तक कि ये हमारे पाव की आहट पा कर सहसा तेजी से झुरमुट से निकल कर जलाशय की ओर दौड़ नहीं पड़ते, जल में कूद नहीं पड़ते। उनमें तेजी ऐसी होती है कि क्षणभर में ही ये झाड़ी से निकलते हुए दिखाई देकर न जाने किस

ओर चले जाते हैं। फिर पल मात्र म वृक्ष-शाखा पर बैठे हुए नजर आकर दूसरे क्षण जला-शय के तट पर दीख पड़ते हैं—और तीसरे क्षण जल के भीतर। ऐसी कुर्ती शायद ही किसी और जाति के पक्षी में हो।

इनकी रू-रेखा मुर्गे की-सी न होती हुए भी इनका नाम जल-कुक्कुट क्यों पड़ा, यह प्रश्न स्वभावतः हमारे मन में आता है। अंग्रेजी में भी इन्हें इंडियन मूरहेन (भारतवर्षीय जल-मुर्गी), वाटर कॉक (जलमुर्ग), पंपल मूरहेन (वैगनी रंग की जल-मुर्गी) आदि नामों से पुकारते हैं।

दोनों के स्वभाव में सादृश्य ही इसका कारण प्रतीत होता है। मुर्गे की तरह ही ये भी अपनी दुम ऊंची करके रखते हैं, तेजी से इधर-उधर घूमते हैं तथा आसानी से उड़ने में असमर्थ हैं, पाव के नाखून से पृथ्वी कुरेद कर खाने की चीजों की खोज करते हैं तथा पंजों की चोट से अपने दुश्मन को परास्त करने की चेष्टा करते हैं। इनके नवजात शिशु भी मुर्ग की भांति ही जन्म-वारण करते ही चारों ओर दौड़ना शुरू कर देते हैं—इन सारी बातों में मुर्ग-जाति के पक्षियों से इनकी गहरी समानता है।

चपलता की दृष्टि से इनमें सबसे श्रेष्ठ वह है जिसका पेट सफेद, शरीर का बाकी हिस्सा गाढ़ा खैरा होता है, जो दूर से देखने में काला-सा लगता है। शैशव-काल में यह घूसर वर्ण का सा लगता है। नर और मादा में कोई भेद नहीं है। संस्कृत में इसके कई नाम हैं—अत्यूह, कालकठ, मासग, सितिकठ, कटाचुर आदि। इसके तीव्र कठस्वर के सम्बन्ध में संस्कृत का एक श्लोक है—

प्रावृट्काले सुखीभूत्वा कोवा कुत्र न गच्छति।

इति वदति दात्यूहः कोवा कोवा क्ववा क्वया।

कैप्टन लेगी (१८८०) ने लिखा है—

“वैसे तो मेरे लिए अपने यूरोपीय पाठकों को शब्दों द्वारा इन पक्षियों की आवाज को ठीक-ठीक समझाना बहुत मुश्किल है, परन्तु वे शुरू में कुछ धीरे-धीरे कौर-कौर का शब्द करते हैं और फिर जोर-जोर से और कुछ आवाज को तोड़ते हुए कौर वक-वक कौर वक-वक करते हैं। फिर ये शब्द कूर-कूर-कूर की गहरी आवाज में परिवर्तित हो जाते हैं जो धीरे-धीरे खत्म होते दिखायी देते हैं और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बहुत अधिक थकावट के कारण पक्षी का गन्ना अचानक बैठ-सा गया है।”

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ८, अव्याय २, का एक श्लोक है—

हसकारण्डवाकीर्णं चक्राहं सारसैरपि,

जलकुक्कुटं कोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम्।

जल-कुक्कुट जाति के यहाँ दो पक्षियों का उल्लेख है, कोयष्टि तथा दात्यूह। प्रस्तुत पक्षी ही दात्यूह है जिसे जल-कौआ भी कहते हैं। वरसात में यह इतना शोर मचाता है कि आदमों इसकी आवाज से ऊत्र जाता है।

कहीं-कहीं इसे ‘वस मुर्गी’ भी कहते हैं, क्योंकि वसवारियों में रहना इसे बहुत पसंद है। कोयष्टि को अंग्रेजी में जल-मुर्ग के नाम से पुकारते हैं। इसके शरीर का रंग घूसर है जिस पर गाढ़ी रेखाएँ बनी होती हैं, जनन-श्रुतु के आते ही नर के रंग में फर्क आ जाता है—घूसर मिश्रित कृष्णाम में बदल जाता है। यही नहीं, तर पर इसके एक शृंग-सा उग जाता है जो जनन-श्रुतु के साथ-साथ ही फिर गायब भी हो जाता है।

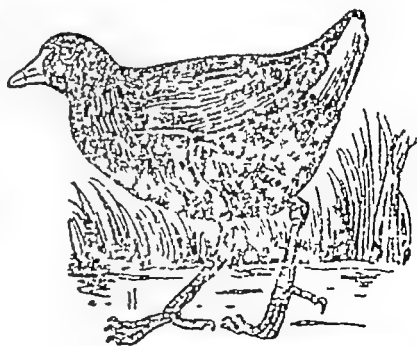
## भारत के पक्षी

बगाल में इसे 'कोडा पाखी' के नाम से पुकारते हैं। राज्य के पूर्वी हिस्से में इसे मुर्गे की तरह पालते हैं, मुर्गे की ही तरह यह खूब लड़ता भी है। घास-पात आदि से विरी जगहों में ही यह रहता है। साधारणतः ऐसी जगहों पर, जहाँ मनुष्य का पहुँचना कठिन रहता है, वर्षाकाल में यह बहुधा अपने घोंसले में ऊँचे बोल कर में अपनी उपस्थिति का परिचय देता रहता है। अपने आहार की तलाश में यह अधिकतर दिन में नहीं, शाम को ही निकलता है। जल-भरे घान के खेतों में यह ऐसे समय अक्सर नज़र आएगा।

कारण्डव भी, जिसका उल्लेख उपर्युक्त श्लोक में है, एक ऐसा पक्षी है जो जल में वतखों के साथ मिला रहता है, साथ ही जलाशय के निकटवर्ती घास-फूस तथा झाड़ियों में भी विचरण करता है। इसके सारे वदन का रंग स्लेटी काला होता है तथा उँनों में किनारे पर सफेदी होती है। आँखें लाल होती हैं, माँसे पर सफेद-सा टीका रहता है, जिसकी वजह से कुछ लोग इसे टीका पक्षी के नाम से भी पुकारते हैं। कद में १६ इंच से अधिक नहीं होता। पैर और उसकी अंगुलिया बहुत लम्बी होती हैं।

अंग्रेजी में इसे 'कूट' और हिन्दी में टिकरी कहते हैं। टिकरी से मिलता-जुलता एक पक्षी है खेमा या जल वोदरी। बगला में इसे बूड़ी पाखी कहते हैं। डुवकी लेने में यह अत्यन्त कुशल होता है। इसकी देह का वेगनीपन रंग लिये हुए स्लेटी है, सीना गाढा नोलापन लिए तथा सर इसका वादामी स्लेटी रंग का होता है। आँखें रक्त वर्ण, चोंच गाढ़े लाल रंग की होती है। घूप में इसका वदन चमकता हुआ बड़ा ही सुन्दर लगता है। इसीलिए अंग्रेजी में इसे 'पर्पल मूरहेन' के नाम से पुकारते हैं।

यह दल बाध कर रहने वाली चिड़िया है। खेमों को आप अक्सर पानी के ऊपर भाँनाकार रूप में तैरते हुये पायेंगे। स्वच्छ जल की अपेक्षा घास-पात, सेवार आदि से भरे हुए तालाव इन्हें अधिक पसंद है। इनके मुख्य आहार भी वे ही हैं और इसीलिए घान के खेतों में घुसकर ये काफी नुकसान पहुँचाते हैं।



एक और पक्षी है जिसे अंग्रेजी में 'भूरहेन' कहते हैं। इसे आप ज्यादातर छोटी-मोटी ताल-तलैयाँ में, सड़को के किनारे जलभरे गडों में पायेंगे। रंग इसका कुछ-कुछ काला पीठ पर पीलापन तथा इसकी पूँछ के अंत भाग में सादी धारी होती है। आम तौर पर जल-मुर्गी के नाम से ही यह विख्यात है।

जल-कुक्कुट वंशीय पक्षी-समूह का संक्षेप में यही इतिवृत्त है। ये सभी रूप-रंग में भिन्न होकर भी स्वभाव में अधिकांशतः एक-से होते हैं, यह आरम्भ में कहा जा चुका है। वर्षा के प्रारम्भिक दिनों में जोड़ा बांधते तथा घास-पात के बीच या जलाशय के समीप-वर्ती वृक्षों के कोटर में अंडा देते हैं अथवा तालाब के भीतर उगे हुए पौधों के सहारे घोंसला बनाकर। इनके घोंसले कुरूप तथा अंडे एक-से न होकर कई प्रकार के, लम्बे-चौड़े, होते हैं।

इनके अलावा भी कई और पक्षी हैं जो देखने में, और प्रकृति में भी, इनसे भिन्न हैं, पर जिनका निवास जल और थल दोनों में ही है। सबसे प्रमुख सिलही (चित्र सख्या : ६६) नामक वतख है जो यहाँ की बारहमासी चिड़ियों में है। कद में प्रायः १७ इंच की, सर, गर्दन, सीना और पैर लाल, चोंच भूरे रंग की होती है। टाँगें बड़ी होती हैं जिनके द्वारा यह आसानी से पहचानी जा सकती है। घास-पात से भरे हुए तालाब इसे ज्यादा पसंद है, स्वच्छ जल की सरिताएँ अथवा सरोवर नहीं। किनारे के वृक्ष आदि वृक्षों पर यह बसेरा बनाती है। खूब तैराक होती है तथा उड़ते समय सीटी की-सी सुरीली आवाज करती है जिसके कारण अंग्रेजी में इसे 'ट्विस्लिंग टील' के नाम से पुकारते हैं। जून से सितम्बर के बीच यह अंडे देती है जो शुरू में खूब सफेद होते हैं, पर पीछे चलकर मटमैले हो जाते हैं।

दूसरा पक्षी नकटा (चित्र सख्या ६७) है, जिसकी गणना बड़ी वतखों में की जा सकती है। इसके नर की चोंच के ऊपर काला-सा कुछ उठा हुआ होता है, जिसके कारण यह नकटा नाम से प्रसिद्ध है। इसके ऊपर का सारा हिस्सा काला होता है, नीचे का सफेद। सर और गर्दन पर काली चित्तियाँ होती हैं। चोंच काली, पैर स्लेटी रंग के होते हैं। भादा की चोंच पर कोई उठी हुई चीज नहीं होती। यह ज्यादातर बड़े तालाबों में रहता है। बरसात के दिनों में किनारे के किसी दरख्त पर घोंसला बनाकर अंडे देता है जिनकी सख्या १०-१२ या इससे भी अधिक होती है। आहार मुख्यतः घास-पात, पौधों की जड़ और धान है। जल के छोटे कीड़े भी खा लेता है।

वानवर भी तालाबों में रहने वाले पक्षी हैं, जिनके सर और गर्दन पर 'पर' नहीं होते। रंग इनका नीलापन लिए हुए काला, काले बदन पर सफेद भूरी तथा स्लेटी धारियाँ, विन्दिया और चिन्ह भी बने होते हैं। चोंच और पैर भी काले ही होते हैं। लम्बी चोंच, लम्बी गर्दन—ये इनकी खास पहचान है। पानी के भीतर से अपनी लम्बी गर्दन निकाल कर चारों ओर देखते हुए तैरते हैं, बीच-बीच में डुबकी लगा लेते हैं। इनका खास आहार मछलियाँ हैं। झुंड बाँधकर रहते हैं। वर्षाकाल में तटवर्ती वृक्षों पर ये घोंसले बनाते तथा अंडे देते हैं। कद में ये प्रायः तीन फुट के होते हैं। तालाब के किनारे तरु-शाखाओं पर ये अक्सर बैठे हुए नजर आयेंगे।

वानवर को आदतों से मिलती-जुलती आदतों वाली एक चिड़िया है जिसे

## भारत के पक्षी

‘पनकौआ’ (चित्र सख्या ७४) के नाम से पुकारते हैं यह काली वतखो के रंग की होती है। शरीर का रंग चमकीला काला, लम्बी सख्त दुम तथा चोच कुछ टेढ़ी-सी होती है। गले के नीचे एक खेत चिन्ह होता है। नर और मादा में कोई अन्तर नहीं होता।

जल में डुबकिया लगाने में पन कौए को निपुता प्राप्त है। जल के भीतर मछलियों का पीछा करना और उन्हें पकड़-पकड़ कर खाना इसका रोज दिन का काम है। तालाब, झील आदि इसके निवास-स्थल हैं।

जल-कुक्कुट की तरह जल-कपोत भी तालाबों में रहने वाले पक्षी हैं, पर फर्क इतना है कि ये उन्हीं झीलों अथवा तालाबों में रहते हैं जो कमल, कुमुदिनी, सिंघाड़ा आदि पौधों से भरा होता है, स्वच्छ सरोवर में नहीं। तटवर्ती घास-फूस के झुरमुट भी इन्हें पसन्द नहीं है। ये ज्यादातर जल-पौधों—कमल आदि के पत्तों पर चला करते हैं और कभी-कभी उन्हीं पर अड़े भी दे डालते हैं। जल में तैरना और डुबकिया लगाना भी इन्हें आता जरूर है, पर इन्हें अधिक प्रिय है पत्तों पर चलना, और इसीलिए ये स्वच्छ जल वाले सरोवरों में रहना पसन्द नहीं करते। इनकी अंगुलियों की बनावट इनके पंथ-पंथ पर खड़े होने अथवा एक पत्ते से दूसरे पत्ते पर चलने में सहायक होती है। झील अथवा सरोवर में ये कभी तो कमल आदि के पत्तों पर खड़े मिलेंगे या कभी जल के इन पौधों की ओट में झुरमुट में छिपे हुए, जहाँ से जब-तब गर्दन ऊँची करके चारों ओर देखते भी रहते हैं।

जल-कपोत के नर-मादा भी ज्यादातर एक साथ ही रहा करते हैं। किसी-किसी सरोवर या झील में इनके एक-दो नहीं पचासो जोड़े जहाँ-तहाँ जल-विहार करते हुए नजर आयेंगे अथवा पत्तों की झुरमुट में छिपे हुए।

इनमें उड़ने की शक्ति अधिक नहीं, और इसीलिए जब ये किसी आगन्तुक को देख कर उड़ने लगते हैं तो थोड़ी दूर जाकर ही पुन पत्तों पर चलना शुरू कर देते हैं।

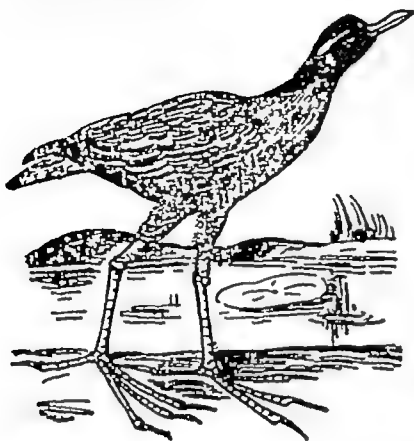
इनकी दो किस्में हैं एक वह जिसका सर, गर्दन तथा छाती चमकदार काली, पीठ और डैनें काई लगे हुए पीतल के रंग के, पूँछ पर कथई-लाली होती है। दूसरा वह जिसकी पूँछ लम्बी होती है तथा रंग में स्वच्छ सफेदी और चाकलेट जैसा कथई पन होता है। सर का अगला भाग तथा गर्दन का निचला हिस्सा सफेद, पेट, पीठ तथा दुम के लम्बे पर चाकलेटी रंग के होते हैं। दुम के पंखों का आकार लम्बा हसुआ जैसा होता है। गर्दन का ऊपरी हिस्सा पीले रंग का होता है।

दोनों के स्वभाव में कोई खास अन्तर नहीं है, और न नर और मादा की रूप-रेखा में





ही। पाव के अगूठे देखने में मकड़ी जैसे लगते हैं। किसी जल-मोषे के ऊपर या कभी-कभी जल की सतह पर ही ये वर्षाकाल में घोंसला बनाते हैं। अंडों पर तरह-तरह की विभिन्न वर्णों की रेखाएँ बनी होती हैं। अंडे संख्या में अधिकांशतः चार होते हैं। ये अपने घोंसले को पानी में नाव की तरह खेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी ले जाते हुए देखे गये हैं।

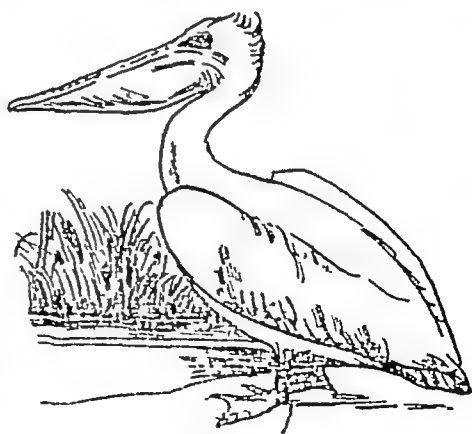


वगाल में इन्हें जल-पिपि तथा बोल-चाल की हिन्दी में 'पिही' अथवा पिहुआ कहते हैं। सारे देश में उपलब्ध है। कद ये तीतर जैसे होते हैं।

पेलिकन नाम का एक-जल पक्षी है जो ससार-प्रसिद्ध है। इसे हिन्दी में हवासिल तथा बगला में 'गगन-बेड़' अथवा 'गगन-भेरी' के नाम से पुकारते हैं। कहते हैं संस्कृत भाषा का 'प्लव' नामक पक्षी भी यही है—प्लस्तु गात्र सप्लव (अभिधान चिन्तामणि)।

पर हवासिल इस देश का वारहमासी पक्षी नहीं है। शीत काल में इसे अधिकतर समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में, जैसे कि बगाल के सुन्दरवन के इलाके में, झुंड में देखा जाता है। मद्रास के भी कई स्थानों में यह पाया गया है, घोंसले बनाकर अंडे देता हुआ भी।

हवासिल जहाँ भी रहते हैं झंड में रहते हैं। इनके गाव-के-गाव बसे हुए पाये जाते हैं। बर्मा में सिताग नदी के आस-पास के जंगलों में, झीलों में, फँला हुआ इनका एक उपनिवेश है जिसमें करोड़ों की संख्या में ये निवास करते पाये गये हैं। कद में यह गूढ़ से भी बड़ा, लम्बी गर्दन तथा छोटे लेकिन मजबूत जालीदार पाव वाला पक्षी है। इसका चर्च बहुत लम्बी, मोटी तथा चपटी-सी होती है जिसके नीचे एक नीले रंग की बढ़ने-घटने वाली



चमड़े की बड़ी-सी थैली बनी होती है। पेलिकन की यह खास चीज है, जो किसी और पक्षी में नहीं पायी जाती। पेट के निचले हिस्से में सफेदी, पीठ पर कत्यई रंग होता है। चोंच के ऊपरी हिस्से में, नीलापन लिये हुये काले रंग के बन्ध बने होते हैं।

ये उड़ने में बहादुर हैं तथा जब आकाश में उड़ते रहते हैं तो इनके गतिशील, सुदृढ़ डैनों से एक प्रकार की सीटी की-सी आवाज निकलती रहती है। सम्भव है इनका 'गगन भेरी' नाम इसी कारण से पड़ा हो।

ये मत्स्यभक्षी पक्षी हैं तथा जल में मछली पकड़ने का इनका तरीका भी बड़ा रोचक है। समुद्र में जिस तरह दर्जनो की सख्या में मछुए मछली पकड़ते हैं, उसी तरह ये भी कई एक साथ मिलकर डैनों की चोट देते हुए आगे बढ़ते हैं और इस तरह मछलियों को गहरे जल से छिछले पानी की ओर जाने को बाध्य करते हैं। फिर जल में डूब कर चोच को पानी की सतह पर खोले हुए तिरते हैं। मछलिया आपसे आप इस चंचु-जाल में आ फसती है।

बतखों की तरह ये भी कतार बाधकर आकाश में उड़ते हैं। ऊँचे वृक्ष पर दल बाधकर घोंसले बनाते हैं। अड़ो की सख्या अधिकतर तीन होती है, रंग में वे सफेद होते हैं।

पेलिकन की चर्वी से निकला हुआ तेल गठिया आदि रोगों के लिए बड़ा गुणकारी माना गया है।



## बगला

**पश्य लक्ष्मण ! पम्पायां वक. परम धार्मिक. ।**

भगवान रामचन्द्र ने लक्ष्मण को बगले को दिखा कर कहा था । परम धार्मिक.— इसका मतलब यह नहीं कि बगला सचमुच ही पक्षियों में बड़ा धार्मिक है, बल्कि इस सज्ञा का प्रयोग व्यंग्यात्मक रूप से किया गया है। जिस प्रकार नदी या सरोवर के निर्जन एव शान्त तट पर योगी ध्यान लगाकर बैठे करते हैं, उसी प्रकार बगला भी जल के किनारे चुपचाप ध्यान लगाकर बैठता है; अन्तर इतना है कि जहाँ योगी भगवान का ध्यान करते हैं, यह मछलियों का (चित्र सञ्चा ७५)। शान्त भाव से बैठे रहने के कारण मछलियों का इसका उपास्यात का आभास नहीं मिलता, व तट का आर स्वच्छन्दतापूर्वक, निभय हो कर, आता है। बगल का ध्यान तभी टूटता है। शिकार का पास आया देख कर वह उसको एक ही झपट में पकड़ लेता है और निगल जाता है। यागया जसा उसका मुद्रा का देखकर ही शायद भगवान राम ने लक्ष्मण से कहा था—पश्य लक्ष्मण ! पम्पाया वक परम धार्मिक ।

आज भा ऊपर से धार्मिक बनने वाला लागा का, मुह में राम बगल में छूरावालों को “बगला भगत” का नाम से पुकारते हैं।

तात्पर्य यह कि अड़िंग हाकर लक्ष्य पर ध्यान जमाना बगले का प्रधान गुण है। जिस प्रकार “काकचष्टा” प्राप्त है, उसी तरह “वका ध्यान” भी ख्यातप्राप्त है। जावन में सफलता प्राप्त करने के लिए बगल का यह गुण मानव मात्र का लिए अनुकरणाय है। कितने कर्मठ हैं ये बगल ! किता सरिता, सरावर या झाल के किनार जाइए, ता आप देखेंगे कि दिन-दिन भर सेंकड़ों बगल चारा आर स अपन ध्यान का समट कर, चित्तवृत्त का निरोध करके, चुपचाप अपनी कठोर सावना में सलग्न हैं। उन्हें न ता आकाश के काले-काले, किता श्यामांगों के लहराते केशों-से बादल ही आकर्षित करते हैं, न वन-उपवन की पराग से भरी हुई, रस से ओतप्रोत, कुसुम-कलिका ही। न उन्हें अमराइयो से प्यार है, न आम्र-मजरी-मदिरा की प्यास है, और न बाग के सुमधुर फलों की ही भूख है। पीले





आम, लाल सेब, काले अगूर—ये सभी उनके लिए तुच्छ है, अनाकर्षक है; उन्हें तो चाह है मछली की, और उसकी प्राप्ति के लिए एकाग्रचित्त होकर ये यत्नशील रहते हैं। काश ! हम भगवद्प्राप्ति के लिए इनकी जैसी एकाग्रता और तन्मयता प्राप्त कर पाते । तब हमें यह कहने की आवश्यकता न पड़ती कि—

प्रभुजी, यह मन अधम वरो,  
छाडि रावरो चरण सरोरुह, इत-उत भ्रमत फिरो ।

अथवा—

कस न भयो मन थीर,  
तजि हरि-चरण-छाह अति सीतल, इत-उत भ्रमत अधीर ।

भगवान् करे हमारे चरितनायक का यह वकव्रत—जिस की निम्नलिखित पक्तियों में चर्चा है तथा जो वगले को स्वर एव शरीर-सौन्दर्य से रहित होने पर भी गुणशाली बनाता है—हमारे लिए आदर्श हो ।

न कोकिलानामिव मञ्जु कूजितं,  
न लब्धलास्यानि गतानि हंसवत्,  
न बहिणानामिव चित्रपक्षता  
गुणस्तथाप्यस्ति ब्रूके वकव्रतम् ।

—हे वक ! न तो तू कोयल की भांति मधुरवाणी ही बोल सकता है, न हंस के समान तेरी सुन्दर चाल ही है और न मोरो जैसे तेरे रंग-विरंगे पख ही है । तो भी हे वगुले ! वकव्रत ही तेरा सबसे बड़ा गुण है ।

वगले को शांत भाव से बैठ देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि यह पक्षियों में सबसे सीधा-सादा है । पर समय आने पर इसका सारा सीधापन पलमाय में काफूर हो जाता है; श्रीमान् वगला भगत का तभी वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है, जब उनके सम्मुख कोई मत्स्यवाला आकर उपस्थित हो जाती है—

न भ्रूणां स्फुरणं न चचुचलन नो चूलिकाकम्पनम्  
न ग्रीवाचलनं मनागपि न यत्पक्षद्वयोत्क्षेपणम्,  
नासाग्रेक्षणमेकपादवमन कष्टैकनिष्ठं परम  
यावत्तिष्ठति बीनमीनवदनस्तावद्वकस्तापसः ।

—इस वगले की न तो भौंहे फड़कती है, न चौच ही हिलती है, गर्दन भी बिल्कुल स्थिर है, दोनों पख भी निश्चल हैं । एक पाव पर खड़ा होकर यह नासाग्र में ध्यान लगाये रहता है । पर यह सब कुछ तभी तक है जब तक कि उसके सामने बेचारी किसी गरीब मछली का अस्तित्व विद्यमान नहीं है ।

इस गर्दन सिकोड़े, एक पाव पर खड़े, बूड़े वगले को देखकर छोटी-छोटी अवोध मछलियों को ऐसा भान होता है कि डडी पर कोई श्वेत कमल खिला हुआ है—

नालेनेव स्थित्वा पावेनंकेन कुन्चितग्रीवम्,  
जनयति कुमुदभ्रान्ति वृद्धवको बालमत्स्यानाम् ।

पर जब वे आगे बढ़ती हैं तो उस वगले का, जो बड़ा सीधा-सादा-सा प्रतीत हो रहा था, असली स्वरूप प्रकट होता है—

स्थित्वा धैर्यादुपाम्भः समजठरशिराश्चक्रमूर्तिमुहृतम्,  
धूर्तः सत्यक्ततोरः कतिचिदपि पदान्युच्चकैः कुचिताधिः  
पश्चाद्ग्रीवां प्रसार्य त्वरितगतिरपां मध्यमाविश्य चंच्वा,  
चच्चन्तीमूर्ध्वकठः कथमपि शफरीं स्वारिताक्षो धकोऽस्ति ।

पहले तो वह बगला पानी के पास खड़ा रहता है, फिर अपने शरीर को गोल-मटोल बनाकर, अपनी एक टांग को सिकोड़ कर, आहिस्ता-आहिस्ता किनारे पर आ पहुँचता है । और तब तेज चाल से पानी के बीचो-बीच पहुँच कर, गर्दन उठा, चमकती हुई मछली को आखें फाड़-फाड़ कर देखता हुआ, भक्षण करने लगता है ।

यही हैं वे योगिराज जो जल के किनारे कुछ ही देर पहले ध्यानावस्थित नजर आ रहे थे ।

नदी, जलाशय, झील, छोटे-छोटे जल भरे गड्ढों में ये अपनी करामात भले ही दिखा ले, विशाल जल-राशि समुद्र में इनकी एक नहीं चलती—

धकोट भ्रमस्त्वां लघुनि सरसि श्वापि शफरै  
स्तव न्याय्या वृत्तिर्न पुनरवगाढुं समुचितः ।  
इतश्चेतश्चाभ्रलिहलहरिहेलातरलितम्  
क्षितिध्रुप्रासैकप्रहिलतिमिपोतः पतिरपाम् ।

बगले का जाति-विस्तार बहुत बड़ा है तथा यह ससार के सभी हिस्सों—यूरोप, एशिया, अफ्रीका आदि में—सम रूप से पाया जाता है । इसकी छ मुख्य उपजातियाँ हैं जिन में तीन ऐसी हैं जिनका रंग स्लेटी है, शेष तीन का गहरा सफेद ।

उपर्युक्त छ उपजातियों में सबसे बड़ा बगला वह है जिसे आजन बगला कहते हैं । यह आम तौर पर हर जगह पाया जाता है । कद में यह सबसे बड़ा प्रायः ४० इंच लम्बा होता है । इसका सर सफेद होता है, सर, चोटी और आँख के पास एक काली पट्टी होती है, गर्दन मटमैली-सफेद होती है । डेने स्लेटी, उनके सिर के काले तथा कन्धों पर सफेद धब्बे होते हैं । आखें पीली होती हैं और चोच में कई रंग होते हैं—जड़ नीली, मध्य पीला, सिर के काले रंग के होते हैं । पैर हरापन लिए हुए धूसर रंग के होते हैं । गर्मियों में पीठ के रंग में ललाई आ जाती है । इसके पंजों में दात होते हैं, जिनके सहारे यह अपने शरीर और चोटी को सँवार लिया करता है ।

मार्च और अगस्त के बीच मादा अंडे देती है, जिनकी संख्या साधारणतः तीन होती है ।

दूसरे प्रकार का बगला वह है जिसे 'निशावक' (चित्र संख्या ८४) कहते हैं । यह रात में ही विचरता है और कद में करीब २२-२३ इंच का होता है । इसके सर के ऊपरी हिस्से तथा पीठ पर कालापन रहता है । चोटी सफेद, गर्दन, पेट, दुम और डेने हल्के स्लेटी रंग के होते हैं । नेत्र रक्तवर्ण, चोच काली, पर और पाव पीलापन लिए हुए हरे रंग के होते हैं । जुलाई-अगस्त के महीनों में मादा चार-पाच तक अंडे दिया करती है ।

सबसे छोटी 'बगली' है, जिसमें डिठाई की मात्रा सबसे अधिक है । पास तक चले जाइए, पर यह न उड़ेगी, इसके सर और गर्दन का ऊपरी भाग गहरा भूरा व नीचे का सफेद होता है । पीठ स्लेटी, शरीर के बाकी हिस्से साधारणतः सफेद होते हैं ।

आख की पुतलियाँ चमकदार पीली, चोंच काली-पीली-नीली, अर्थात् आगे काली, फिर पीली और अन्त में नीली होती है। पैर गहरे हरे रंग के होते हैं। मई से सितम्बर तक इसका प्रसव-काल है। मादा छ-छ अडे तक दे डालती है।

ये तो तीन स्लेटी वगले हुए। इसके बाद के तीन प्रकार के वगले वे हैं जो देखने श्वेत, दूध जैसे, होते हैं (चित्र सख्या: ८६)। परन्तु कद में अन्तर होता है। एक खूब बड़ा, दूसरा मझोला और तीसरा सब से छोटा होता है। ये सभी वर्षाकाल में अडे देते हैं। वर्षा ऋतु में जब आकाश में काले-काले मेघ घिर आते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे अब बरसने ही वाले हैं, तो व्योमगामी इन श्वेत वगलो का दल इन मेघों की पृष्ठभूमि में बड़ा सुहावना लगता है, ऐसा प्रतीत होता है मानो ये मेघवाला के गले का हार हो। इन्हीं के सम्बन्ध में विरही यक्ष ने मेघ से कहा था —

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नमावद्वमाला,

सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्त वलाकाः।

—जलद। तुम्हारे नेत्र-रजन दर्शन से यह समझ कर कि अब उनका गर्भाधान-काल समुपस्थित है, वलाकाए आकाश में श्रेणीबद्ध रूप में उड़-उड़ कर तुम्हारा अभिनन्दन करेगी।

उपर्युक्त तीन प्रकार के वगलो में जो सबसे बड़ा है उसके चोटी नहीं होती। इस वर्ग की मादा की चोच प्रसव-काल में पीली से काली हो जाती है। मझोले की पीली और छोटे कद वाले की हमेशा काली रहती है।

मझोले कद के वगले में—जिसे करछिया कहते हैं—एक विशेषता है जिसके कारण किसी जमाने में वे हजारों की सख्या में मार डाले जाते थे। इसके पर बड़े सुन्दर होते हैं। प्राचीन काल में पूर्वीय देशों के लोग इसके परो को साफे अथवा पगड़ी में लगाया करते थे। मणियों से सुसज्जित इसके परो की बनी कलंगी वादशाहों का सबसे मूल्यवान उपहार मानी जाती थी। मिस्र के सुलतान ने नील नदी के विख्यात युद्ध के बाद ऐसी ही एक पगड़ी नेल्सन को भेंट की थी। यही नहीं, यूरोप में औरतें भी बड़े शौक से इसके परो को धारण करने लगी थी—फैशन में इसका शुमार होने लगा था तथा इसका व्यापार चमक उठा था। परो की खातिर ये हजारों की सख्या में प्रति वर्ष मारे जाने लगे, और एक समय ऐसा भी आया जब मिस्र में इस जाति के वगलो का लोप-सा हो गया।

छठी अर्थात् अन्तिम श्रेणी उन वगलो की है जिसे 'गाय-वगला' अथवा 'सुरखिया' कहते हैं। यह कद में सबसे छोटा होता है। जब अडा देने का समय समीप आ जाता है तो मादा के शरीर पर नारंगी लिए हुए कुछ वादामी पर उग आते हैं और इसीलिए इसे सुरखिया भी कहते हैं। यह अधिकतर चरागाह में मवेशियों के साथ-साथ घूमा करता है, जब-तब उनकी पीठ पर सवार भी हो जाता है तथा उनके पाव की ठोकर से उभारे हुए कीड़े-मकोड़ों को चट करता रहता है। यही नहीं, गाय, भैंस आदि पशुओं के वदन पर के जू आदि कीटों को भी अपना आहार बनाकर इन पशुओं को इनसे छुटकारा देता है। किसानों के लिए इस जाति का वगला लाभकारी है क्योंकि कृषि-कार्य में बाधक न जाने कितने कीड़े-मकोड़ों को यह खा जाता है।

ऊपर जिन छ प्रकार के वगलो की चर्चा की गई है उन सभी के स्वभाव तथा आदतें

मुख्यतः एक-सी होती हैं। मछली सब को अत्यन्त प्रिय है, साथ-साथ मेढक, जल-कीट आदि जीव भी इन्हे स्वादिष्ट लगते हैं। यो तो केकड़ा भी इन्हे प्रिय है, पर यदि वह जिन्दा रहा, तो कभी-कभी इनके गले के भीतरी भाग को कस कर जकड़ लेता है जिससे इनका प्राणान्त तक हो जाता है। फिर भी लोभवश ये उसे उदरस्थ करने की कोशिश से बाज नहीं आते।

वगले शिकार तो अलग-अलग किया करते हैं, परन्तु रात में एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं—एक साथ, पचासो की सख्या में। जिस वृक्ष पर वगलो ने डेरा डाला, बस समझ लीजिये कि वह समाप्त हुआ। एक तो ये उसे बेतरह गन्दा कर डालते हैं, दूसरे, इनके शरीर से कुछ ऐसी विषैली गर्मी निकलती है जो वृक्ष को धीरे-धीरे सुखा डालती है।

ये वृक्ष पर घोंसले बनाकर एक साथ रहते हैं, एक साथ ही अड़े देते हैं। इसका एक कटु अनुभव मुझे हजारीबाग जेल में हुआ। गर्मी के दिन थे। जेल के जिस वार्ड में हम—मैं तथा मेरे साथी—रखे गये थे, उसमें आम के बहुत-से वृक्ष थे। एक बार सहसा पचासो वगलो ने आकर इन पर डेरा डाला। दिन भर तो वे गायब रहते थे, पर रात में इन पर आ बैठते थे। अड़ा देने का समय आया। इन्होंने घोंसले बनाये, अड़े भी दिये। वच्चे पैदा हुए। यहाँ तक तो कुछ बुरा न था। पर धीरे-धीरे इन दरख्तों से असह्य दुर्गन्धि निकलने लगी तो हम घबड़ा गये। पर करे क्या, कैदी थे, चुपचाप सहते रहे। इतने में ही एक रात बड़े जोर की आधी आधी और वृष्टि भी हुई। सुबह उठकर जो हम देखते हैं तो प्रायः एक सौ से भी ज्यादा नवजात बक-शिशु तमाम वार्ड में, कोठरियों में, रसोई घर में, हर जगह विचर रहे हैं। तूफान ने उन्हें घोंसलो से निकाल-निकाल कर नीचे गिरा दिया था। एक तहलका-सा मच गया। हम अपनी-अपनी कोठरियों से उन्हें निकालते, वे पुनः घुस आते थे। अंत में जेल-अधिकारियों को खबर लगी। उन्होंने बक-शिशुओं को पकड़-पकड़ कर बाहर भिजवाया और इस प्रकार पवनदेव की कृपा से हमें इन वगलो से सदा के लिए छुटकारा मिला।

दिन में जो जलाशयों के किनारे योगियों की-सी योगनिद्रा में लीन नजर आते हैं वे—श्री वगलाभगत—रात में अपने निवास-वृक्षों पर आपस में खूब झगड़ते भी हैं। रात भर शायद बैठने के स्थान के लिए घोर संघर्ष चलता रहता है, एक दूसरे पर प्रहार होता रहता है, पक्षों की फड़फड़ाहट तथा उनकी कोक-कोक की बोली से सारा वृक्ष तथा उसके अड़ोस-पड़ोस की जगह अशांत बनी रहती है। चेहरे कभी-कभी धोखे में डालने वाले भी होते हैं, दिन में वगला इतने शान्त स्वभाव वाला दृष्टिगोचर होता है, रात में वही इस कदर झगड़ालू।



## लगलग या महावक

लगलग या महावक एक ऐसा पक्षी है, जिसकी वेढगी सूरत-शकल पर हम दिल खोल कर हँसते हैं। पर जिस तरह उल्लू की कद्रदान स्वयं लक्ष्मी है, उसी तरह लगलग के कद्रदान भी इन भव-भूतल पर विद्यमान हैं और वे हैं बलसेस (फ्रांस और जर्मनी के बीच





एक प्रान्त) के निवासी, जिनका यह विश्वास है कि घर में अथवा अडोस-पडोस में यदि लगलग आ कर रहें तो मनुष्य को सन्तान तथा धन की प्राप्ति होती है । यही नहीं, वहा लगलगो को आकर्षित करने की तरह-तरह की चेष्टाएँ भी की जाती हैं । अभी पिछले दैनो रिवोविले नामक एक शहर की नगरपालिका ने नगर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर ऊँचे-ऊँचे मचान बना कर उन पर हू-बूहू वैसे ही घास-पात-लकड़ियों के घोंसले बनवाये हैं, जैसा कि लगलग स्वयं बनाया करते हैं, ताकि उन्हें नगर में आकर्षित किया जा सके । इनका मनोवाञ्छित परिणाम भी हुआ है तथा बहुतरे लगलग इनसे आकृष्ट हो कर शहर में आ वसे हैं । नगरपालिका ने इसके लिए एक खास समिति का निर्माण किया है जो हर प्रकार से लगलगो की सुविधाओं की व्यवस्था किया करेगी । यही नहीं, मोरक्को से बड़े मोंगा-मोंगा कर कृत्रिम ढग से उनके सेने का प्रवन्ध भी इस समिति के द्वारा हुआ है और इनमें निकले हुए बच्चे आज शहर में नगरवासियों के प्यार के भाजन हो रहे हैं । अन्य हैं अलसेस-निवासियों की यह कद्रदानी ।

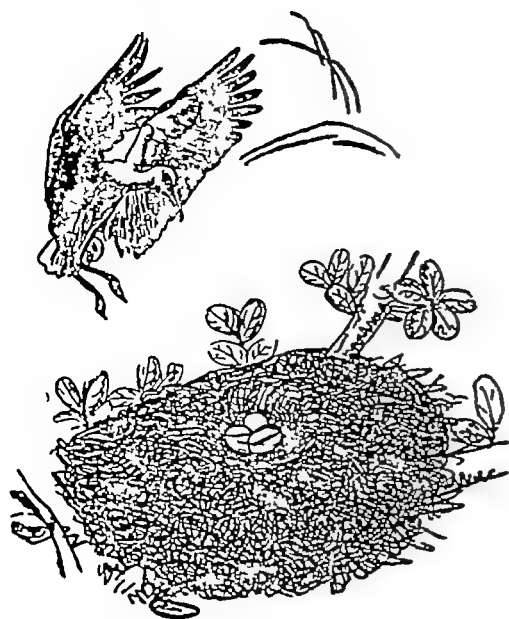
जिस लगलग की यूरोप के एक हिस्से में आज इतनी पूछ हो रही है, वह आखिर है कौन-सा पक्षी ?

इस पुस्तक में अन्यत्र हमने कई ऐसे पक्षियों की चर्चा की है जो जल के किनारे रहा करते हैं, घाट के पडे हैं, पर जल के भीतर बतखों की तरह न तो निवास करते हैं और न डुबकी ही लगाते हैं । तात्पर्य सारस, वगला, कुररी, कौडिल्ला आदि पक्षियों से है । ऐसे ही पक्षियों में एक लगलग भी है जिसे अंग्रेजी में स्टार्क, वगला में 'हाडगिला' कहते हैं तथा जिसके सम्बन्ध में 'वर्ड्स आफ द प्लेन्स' (१९०६) के लेखक ने लिखा था कि यह प्रकृति का एक छोटा-सा मजाक है । लम्बे पाव, सर और गर्दन परो से चाली, छोटी आँखें—शायद इसी रूप-रेखा के कारण उपर्युक्त लेखकने इसे 'प्रकृतिका एक छोटा-सा मजाक' कहा है । पर जिन्होंने उसे चक्राकार ऊपर उठते या नीचे की ओर आते देखा है, वे शायद इस कथन से सहमत न होंगे, क्योंकि उसकी उस समय की आकृति और ढग आँखों को बड़ा सुहावना लगता है ।

हिन्दी भाषा में इस जाति के पक्षियों के लिए कोई एक उपयुक्त शब्द नहीं है । इसकी कई किस्में हैं । भिन्न-भिन्न किस्मों के लिए अलग-अलग नाम हैं, जैसे कि "घोघिल" (घोघा खाने के कारण), "जाविल", "गँवर", "लोहा", "लगलग" आदि । पर यदि इनको हम एक ही नाम "महावक" के भीतर ले जाए तो अधिक अच्छा हो । लगलग इनमें सबसे प्रमुख है, अतः इस पक्षी-समूह को यदि हम लगलग के नाम से भी पुकारें, तो कोई हर्ज नहीं है । दरअसल लेख के शुरू में हमने लगलग शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया भी है ।

लगलग, जो इस जाति के पक्षियों में प्रधान है, कद में प्रायः ३ फुट का होता है । इसके सर का ऊपरी हिस्सा काला रहता है, बाकी सभी गर्दन के नीचे तक सफेद । दुम के नीचे का हिस्सा भी सफेद ही होता है । शरीर का बाकी सारा भाग हरी चमक के साथ घुर काला होता है । आँख की पुतली तथा लम्बी टाँगें लाल होती हैं, चोंच काली ।

महावक की एक दूसरी जाति भी है, जिसका सारा बदन बर्फ जैसा सफेद होता है, केवल डँनों के कुछ पर गहरे काले होते हैं । गरज यह कि इस जाति के पक्षियों में काले और सफेद दोनों वर्णों का सुन्दर सम्मिश्रण है । स्वभाव से ये शर्मील होते हैं । कभी



झुठ बांध कर नहीं रहते। छ-सात भी यदि एक स्थान पर होंगे, तो एक साथ या एक जगह पर नहीं, दूर-दूर।

इनका दाम्पत्य-प्रेम स्तुत्य है। कपोत की भाति नर और मादा, साथ-साथ रहते हैं। स्वभाव से ये चुप रहने वाले पक्षी हैं, पर प्रजनन-ऋतु के आते ही खूब शोर मचाते हैं। उन दिनों इनकी सारी लाज मानो विलीन-सी हो जाती है। इनकी बोली कर्कश और कर्णकटु होती है।

मछली, घोघे आदि इनके आहार हैं, यहां तक कि मृत पशु-पक्षियों के हाड-मांस भी ये बड़े

चाव से खा जाते हैं। कलकत्ते में जिन दिनों सफाई की व्यवस्था अच्छी न थी, बहुतेरे स्टार्क सड़े-गले हाड-मांस आदि पदार्थों का भक्षण करके नगर की स्वास्थ्य रक्षा में सहायक हुआ करते थे।

बड़े-बड़े नगरों में ये बहुधा खाने की खोज में लगे देखे जाते हैं। पता नहीं इस देश की किसी नगरपालिका ने इनकी इस मानव-सेवा की प्रकृति से लाभ उठाने की चेष्टा की है या नहीं।

लोक-सेवा की उक्त सद्भावना के कारण ही शायद पश्चिम एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका के मुसलमान इस पक्षी को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। तुर्क उससे भाई-चारे का सम्बन्ध रखते हैं, मोरक्को तथा मिस्र के लोग उसकी मजहबी तरीके पर इज्जत करते हैं तथा भारतवर्ष में भी इसकी हत्या करना मना है। जाडों में तालाब के किनारे के किसी वृक्ष पर, सूखी टहनियों के बने वेडोल घोंसले में, आप इसके अंडे देख सकते हैं। इनकी संख्या तीन से चार तक होती है।

सक्षेप में महावक का यही परिचय है। यदि हम शरीर-सौन्दर्य पर न जाकर इसकी उपयोगिता पर जाएं, तो हम भी अलसेस निवासियों की तरह इसकी कद्र करेंगे और कहेंगे—



भावहू, आवहू, विहग ! बसहू गृहप्रांगण माहीं,  
हों गुणप्राहक, रूप-रंग को माहक नाहीं।

# सारस

दीर्घाकुर्वन्पटु मवकलं कूजितं सारसानाम्  
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।

\* \* \* \*

शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्यनाचाटुकारः ।

—मेघदूत

सारस एक ऐसा पक्षी है जिसे एक बच्चा भी बड़ी आसानी से पहचान सकता है—  
ऊट जैसा ऊँचा बदन, लम्बी गर्दन, लम्बी टाँगें, कर्कश बोली । ये इसकी पहचान के  
(चित्र सख्या ७७) चिह्न हैं । बड़ा ही निडर होता है । जब तक आप उसके बिल्कुल  
समीप न पहुँच जाए, वह उड़ने का नहीं । हा, बिल्कुल करीब पहुँचने पर खीझा  
हुआ-सा कर्कश स्वर में कुछ बोलकर उड़ चलता है । इसके उड़ने का ढंग वायुयान  
का-सा है । पहले थोड़ी दूर तक दौड़ता है, फिर पखों पर आ जाता है । आकाश में  
ज्यादा दूर तक नहीं जाता, थोड़ी ऊँचाई पर ही उड़ता है ।

लोग इसे पालते भी हैं । पालतू हो जाने पर यह साथ-साथ चलता है और रात में  
पहरेदार का काम करता है । किसी अजनबी के आने पर उस पर चचु-प्रहार तक कर  
ढालता है ।

एक पति अथवा एक पत्नीव्रती है यह । एक बार ही जोड़ा बाँधता है, एक बार  
जोड़ा फूट जाने पर फिर नहीं बाँधता । नर-मादा दोनों बहुधा अघर से अघर, चौच से  
चौच मिलाए खड़े रहते हैं । एक को यदि आप गोली का गिकार बना डाले तो दूसरा मरने  
के लिए तैयार हो जाता है, मुमकिन नहीं कि मृतक के पास से आप उसे बगैर मारे हटा  
सकें । वही खड़ा रहेगा और रोता रहेगा ।

सारस सर्वभक्षी है । तालाब के छिछले किनारों पर यह धूम-धूम कर मछलियाँ,  
घोघे, कछुए तथा मेंढक खाता रहता है । पर जल के भीतर नहीं जाता ।  
मादा पानी के बीच किसी टापू पर अड़े देती है । यह स्वभाव से अतिरिक्त-विज्ञान का  
ज्ञाता है । बरसात कम होगी या ज्यादा, इसका उसे पूर्वाभास-सा मिल जाता है, और मादा  
उसी के अनुसार अड़े देने की जगह चुनती है । यदि अधिक वर्षा होने वाली हुई तो  
ऊँची, बरना नीची जमीन पर । गाव के लोग इसके प्रजनन-स्थान की ऊँचाई से ही भावी  
बरसात की कमी या अधिकता का अंदाजा लगा लेते हैं । इसके सारे शरीर का रंग  
स्लेटी होता है । डेँने भूरे होते हैं, गर्दन के ऊपरी हिस्से में ज्यादा सफेदी होती है ।

सारस हमारे देश के प्रसिद्ध पक्षियों में है । भारत, चीन तथा बर्मा के अतिरिक्त  
यह शायद ही कहीं और पाया जाता हो । दाम्पत्य-प्रेम का आदर्श रखने वाले इस पक्षी  
पर स्वभावतः हमें अत्यन्त गर्व है ।

चीन निवानी विशेष रूप से इस पक्षी का आदर करते हैं, इसे चुल-त्समृद्धि का कारण  
मानते हैं । वहाँ एक खास जाति का सारस पाया जाता है, जिसकी जिव्दगी सौ साल की  
होती है । गत वर्ष हमारे प्रधान मन्त्री श्री नेहरू के जन्म-दिवस पर चीन के प्रधान मन्त्री

श्री चाऊ एन लाई ने इस जाति के कुछ सारस उन्हें भेट के रूप में भेजे थे, जो आज राष्ट्र-पति भवन दिल्ली के बाग की शोभा बढ़ा रहे हैं ।

एक खास जाति का सारस है जिसके वंश का इस ससार से उत्तरोत्तर लोप होता जा रहा है । ससार भर में इस जाति के केवल तीस सारस बचे हुए हैं । देश-देश में, गांव और वनों में, इनकी लगातार खोज की गयी है । फिर भी इनकी संख्या ३० से अधिक नहीं पायी गई है । इनमें से दो, जो नर और मादा हैं, अमरीका में सरकार द्वारा पाले गए हैं ।

सारस की एक उपजाति है “करकरा”, (चित्र संख्या ७८) जो हमारे यहां केवल जलोढ़ में आता है । इसका रंग भी स्लेटी ही होता है, केवल गर्दन के नीचे का भाग काला होता है । आंखों के पीछे कुछ मुलायम सफेद परत आकरते हैं । आसमान में हजारों की कतार में उड़ते हुए और तेज शब्दों में कुछ बोलते हुए यह शीत काल के आरम्भ में किमी दूर देश से हमारे यहां आते हैं और फिर गर्मियों के आते ही वहीं लौट जाते हैं । अधिकांशतः नदी-झील-तालाब के तटों पर आप इन्हें पाएंगे । जब-तब अड़ोस-पड़ोस के खेतों पर घावा बोल कर फसल को ये काफी नुकसान भी पहुंचाते हैं । बड़े सारस से इनका कद छोटा होता है और दोनों की प्रकृति में भी अन्तर है । जहां सारस वैयक्तिक प्रकृति का पक्षी है, ये गिरोह बांधकर रहने वाले पक्षी हैं । पता नहीं, एक वंश के होकर भी दोनों की प्रकृति में इतना अन्तर क्यों है ।

करकरा को पंजाब में ‘कुज’ कहते हैं । ये पहाड़ के पक्षी हैं जो दाने की खोज में कुछ दिन के लिये समतल क्षेत्रों में आ जाया करते हैं । पंजाबी भाषा में इस सम्बन्ध की एक सुन्दर प्राचीन कविता है, जो इस प्रकार है—

कुजा कोलों मोर पुछेंदी,  
‘तुस्ती नित परदेसी तैयारी,  
या तुसाडा वतन कुचजड़ा  
या तुस्ती पेट तगारी ?’  
‘ना साडा वतन कुचजड़ा  
न अस्सी पेट तगारी,  
ते रब्व डाढा फादिर,  
जिसने साडी चोग खिलारी,  
ते कोई वम ओ गोरिए !  
साडी जिदियां दे मेलें !’

—कुजों से मोर ने पूछा, ‘तुम हमेशा परदेस जाने की तैयारी में क्यों रहने हो ? क्या तुम्हारा देश निकम्मा है या पेट की खातिर तुम्हें परदेस जाना पड़ता है ?’

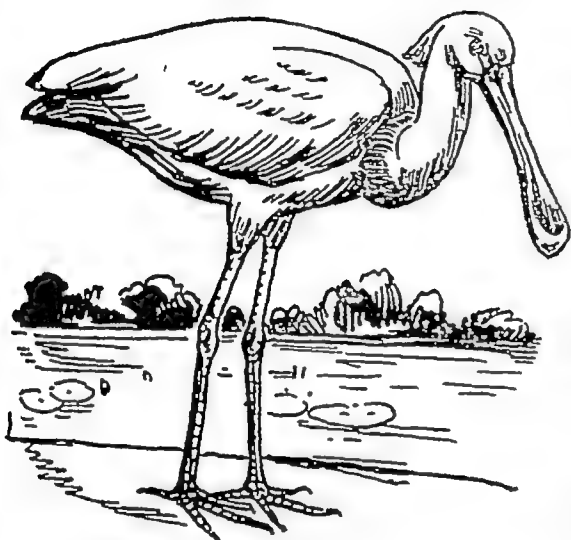
कुजों ने कहा, ‘परमात्मा बड़ी कुदरत वाला है । उसने हमारा आहार सारी पृथ्वी पर फैला रखा है । उसी की खातिर हमें तुमसे और बहुतों से मिलने का मौका मिल जाता है ।’

## दाविल और बुज्जा

जल के किनारे पर रहने वाले पक्षियों में “दाविल” और “बुज्जा” भी उल्लेखनीय हैं।

दाविल (चित्र सख्या ८७, ८८) दरअसल उसी विरादरी का है, जिसके बगले और लगलग आदि हैं। यदि उसको चोंच चिमटे की तरह न होकर सीधी होती, तो हम इसे एक प्रकार का बगला ही कहते। रंग भी इसका तुपार-सा होता है। चोंच और पाव काले होते हैं। यह गोल बावकर रहने वाला पक्षी है। जब यह कतार में उड़ता है, तो दूर से एक श्वेत लकीर-सी नजर आती है।

घास-पात, छोटी मछलियां तथा पानी के कीड़े इसके आहार हैं। चोंच खोल कर अपनी गर्दन को यह पानी के भीतर डाल कर घुमाता रहता है, ताकि उसके भीतर छोटे-छोटे कीड़े अपने आप आ जाए और यह उन्हें गप कर ले।



किनारे के किसी पेड़ की टहनियों पर मचान-सा घोंसला बना कर यह अगस्त से नवम्बर तक अंडे देता है। बुज्जा के दो भेद हैं—एक काला, दूसरा सफेद। काले को ‘कड़ाकुल’ भी कहते हैं और सफेद को ‘मुड़ा’, हालांकि दोनों की बनावट तथा स्वभाव एक-सा ही है।

कड़ाकुल कद में प्रायः २६-२७ इंच का होता है तथा नर और मादा के

रूप-रंग में कोई फर्क नहीं होता। इसके सर के ऊपर के कुछ पर लाल रंग के होते हैं, मानो मुँगे के पर हों।

मुड़ा कद में कड़ाकुल से कुछ बड़ा होता है। इसका सर और गर्दन काले रंग के तथा बगैर बाल के होते हैं। शरीर के बाकी सभी हिस्से सफेद होते हैं। दोनों की चोंच लम्बी और टेढ़ी होती है। रात में ये किनारे के किसी वृक्ष पर दल बाध कर रहते हैं, दिन में पानी के किनारे अथवा घास के खेतों में कीड़ों की तलाश में घूमते रहते हैं। मुड़ा जून से अगस्त तक, कड़ाकुल मार्च और नवम्बर के बीच अंडे देते हैं। अंग्रेजी में इन्हें ‘आइविस’ कहते हैं।



## पहाड़ के पक्षी

भारतवर्ष के पहाड़ों पर समतल क्षेत्र में पाये जाने वाले प्रायः सभी पक्षी—कोयल तक—प्राप्य हैं, पर उनकी रूप-रेखा में काफी अन्तर पाया जाता है। कद में और रंग में भी। उदाहरण के लिए गौरये को लीजिए। पहाड़ी गौरये मैदानों के गौरयों से, जो हमारे गृह-प्रागण में दिन भर फुदकते रहते हैं, रंग में काफी भिन्न होते हैं। उनके गले और पीठ पर जो गहरा वादामोपन होता है वह मैदानी गौरयों में नहीं होता, और न उनकी तरह ये मोटे-ताजे ही होते हैं। गरज यह कि मैदान के तथा पहाड़ के पक्षियों में भी प्रायः वही अन्तर है जो कि मनुष्यों में।

पहाड़ों पर कुछ ऐसे पक्षी अवश्य हैं जो साधारणतः नीचे के इलाकों में नहीं पाये जाते। इनमें मुख्य वे हैं जो एक जाति के होते हुए भी रूप तथा रंग भेद से 'चीर', (चित्र सख्या . ७६, ८०) 'कोकला', 'कालिज', 'मोनल' (चित्र सख्या . ८१) आदि नामों से जाने जाते हैं। जिस तरह तोतर, बटर आदि शिकार के छोट पक्षी हैं, उसी तरह चीर, कोकला, कालिज, मोनल शिकार के बड़े पक्षी हैं जो पहाड़ी प्रदेशों के ऐसे जंगलों में, जहाँ ठंडक अधिक रहती है, निवास करते हैं। चित्तियों तथा धारियों से युक्त इनका शरीर बहुत कुछ ताँतर जैसा होता है, पर अपन चमकदार रंग, सर के तुराँ तथा लम्बी सुन्दर पूछा के कारण ये उनसे कहीं अधिक चित्ताकषक हैं। मासभक्षियों को इनका मांस बहुत प्रिय है।

चीर का नर कद में काफी बड़ा होता है। २८ इंच की पूछ, सर पर प्रायः ३ इंच का तुराँ रखन वाले इस पक्षी का वजन एक सर से लेकर दो सर तक होता है। मादा नर से कुछ छोटी होती है।

नर का मस्तक तथा तुरेँ के पर कालापन लिए हुए वादामी रंग के होते हैं। शरीर के बाकी हिस्से पर भी कालेपन की झलक लिए हलका अथवा गाढ़ा वादामी रंग होता है। गले का निचला हिस्सा सफेदी लिए हुए होता है। ढँना में भी जहाँ-तहाँ सफेद रंग के स्थल नजर आते हैं, यद्यपि नाव वादामी रंग की ही होती है। पेट का मध्य भाग कालापन लिए हुए ललछोह तथा चोच हल्के पाला, पाव स्लटा वादामी, पाव की अँगुलियाँ और तलव हल्के पाले रंग के होते हैं। मादा का रंग में कुछ अन्तर रहता है।

नर और मादा का आमरण जोड़ा होता है। दोनों मिलकर बड़े चाव से अंडे सेते एवं बच्चों का लालन-पालन करते हैं। इनका अंडा देने का समय अप्रैल से जून

तक है । ५,००० फुट से लेकर ६,००० फुट की ऊँचाई वाले स्थानों में ये अडे देते हैं । इनके घोंसले जमीन पर ही किसी गड्ढे में घास-फूस के बने होते हैं ।

नेपाल, कुमाऊ, गढ़वाल, टेहरी गढ़वाल, शिमला, बराहिर, चम्बा के इलाकों में ये बहुतायत से पाये जाते हैं । घने जंगलों की वजाय कुछ खुले जंगलों में रहना इन्हें ज्यादा पसंद है । ये सुबह-शाम भोजन की तलाश में निकलते हैं, बाकी समय अधिकतर झाड़ियों के अन्दर छिपे रहते हैं ।

नर और मादा सुबह-शाम मुर्गों की तरह जोर से बोल उठते हैं बोली इनकी इतनी वृत्त होती है कि करीब एक मील तक सुनाई देती है तथा पहाड़ की घाटी को गुंजा डालती है ।

पौधों की जड़, कीड़े, नाज के दाने तथा वृक्षों के छोटे-छोटे फल इनके आहार हैं ।

ये ग्राम-कुक्कुट की तरह उड़ते हैं तथा उड़ते और दौड़ते समय ये अपनी पूछ के पंखों को फैला लेते हैं ।

नर के सर का तुराँ गहरे वादामी रंग का, बगल के पंखों का गुच्छा एवं समूचा सिर, छोटी, गला तथा गर्दन के पीछे का हिस्सा गहरे चमकीले हरे रंग से मिला हुआ काला, गर्दन के दोनों ओर सफेद घब्रों, वदन का ऊपरी हिस्सा, सर से दुम तक, सफेद-धूसर, हर एक पर काली लकीर, दुम का अंतिम हिस्सा ललछोँह, किनारे पर काली लकीरे, चौच कत्यई—मोटे तौर पर कोकले की यही रूप-रेखा है । मादा के रंग में कुछ फर्क होता है—कत्यईपन ज्यादा है । लाली भी ।

हर एक कोकले का रंग एक-सा नहीं होता । सब में कुछ-न-कुछ फर्क पाया जाता है । यह इस पक्षी की विशेषता है । पूछ लम्बी होती है । नर का वजन सेर सवा सेर तथा मादा का पौन सेर के करीब होता है । देखने में यह अत्यन्त सुन्दर, चित्ताकर्षक पक्षी है ।

नैनीताल, अलमोड़ा, गढ़वाल, शिमला, जम्मू, मरी आदि के पहाड़ी इलाकों में यह बहुतायत से पाया जाता है । ६,००० फुट से लेकर ६,००० फुट की ऊँचाई तक यह अडे देता है । कहीं-कहीं १२,००० फुट की ऊँचाई पर भी इसे अडे देते देखा गया है । इसका लकड़ी के बंद टुकड़ों का बना हुआ घोंसला होता है जो यह झाड़ियों में या पहाड़ के किसी दर्रे में बनाया करता है ताकि मानव-दृष्टि से वह ओझल रहे ।

मई-जून इसके अंडा देने के महीने हैं । यह जोड़ा जीवन भर के लिए बाँधता है और पौनला भी हर साल एक ही स्थान पर बनाते पाया गया है । इसके अंडों की संख्या ६ तक होती है ।

इसकी आवाज मोर की तरह गहरी होती है । बन्दूक की अथवा किसी बड़े दरख्त के गिरने की आवाज सुन कर यह भी कूक उठता है । पर इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जानवरों की भाँति यह खूब खराटे भी लेता है, गहरी नींद सोता है, और सुप्तावस्था में बहुधा शिकारियों के द्वारा इसे बन्दी बनना पड़ता है । शायद ही कोई और पक्षी इस तरह गहरी नींद में सोता हो । नाज के दाने, घास के बीज, वृक्ष के छोटे फल, फूल की कली, कीड़े-मकोड़े इसके आहार हैं ।

करमौर के कोकलों का रंग औरों की अपेक्षा ज्यादा गाढ़ा होता है । मादा के शरीर



## भारत के पक्षी

की लकीरें भी ज्यादा स्पष्ट होती हैं। ये लद्दाख, गिलगित आदि के इलाकों में पाये जाते हैं।

नेपाल के कोकले और भी गाढे रंग के होते हैं, पर कद में औरो से छोटे। ये आसानी से पाले भी जाते हैं।

इस जाति के पक्षियों में कालिज, जिसकी अनेक किस्में हैं, सबसे ज्यादा वनमुर्ग से मिलते हैं। बड़ा कद, मजबूत, गोलाकार छोटे-छोटे पख, सोलह परो की लम्बी पूछ, जिनमें बीच का परो सबसे अधिक लम्बा, नर के दोनो पाव के हिस्से घने उमरे हुए, सर पर एक बड़ा-सा गठीला तुरा, आखो के पास गहरे रंग में रंगा हुआ परो से रहित एक स्थान—कालिज पक्षी की ये मुख्य पहचान है। पहाड़ तथा पर्वत-घाटी इसके निवास-स्थान हैं। इसकी कई उपजातियां हैं और मोटे-तौर पर समानता होते हुए भी इनके रूप-रंग में काफी भिन्नता है। स्वभाव सबका प्रायः एक-सा है। मुख्य किस्में ये हैं—

१ सफेद चोटीदार—इसके सर पर एक लम्बी-सी सफेद अथवा क्षीण कट्यई रंग की चोटी होती है, सर का बाकी हिस्सा चटकदार पीला-नीला मिला हुआ काला, पीठ का ऊपरी हिस्सा नीलापन लिए हुए काला, परो का किनारा सफेद अथवा क्षीण बादामी, जिन पर श्वेत सीधी लकीरें बनी होती हैं, दुम के पर ऊपर चमकदार काले, नीचे बादामी, डैनो तथा पूछ के परो पर हरापन, पेट बादामी, चोंच सफेद, पाव सफेदी लिए हुए बादामी, होते हैं। शरीर का वजन एक सेर से कुछ ज्यादा होता है।

मादा के शरीर पर बादामीपन का अंश नर की अपेक्षा बहुत अधिक होता है, जिस पर तीर की-सी सफेद लकीरे बनी होती हैं। चोंच, पाव आदि समान रंग के होते हैं। दोनो की आखो के चारो ओर गाढे लाल रंग का एक गोलाकार स्थान होता है।

नेपाल, गढ़वाल आदि के पहाड़ों पर ये बहुतायत से पाये जाते हैं। मार्च-अप्रैल से लेकर जून के अंत तक इनका प्रसव-काल है २,००० फुट से लेकर ४,००० फुट तक की ऊंचाई पर ये अंडे देते हैं, पर जब-तब ११,००० फुट तक पर भी ये अंडे देते देखे गये हैं। दरअसल पहाड़ की तलहटी से लेकर हिमालयान्त शिखर तक ये पाये जाते हैं। अतएव यदि ये दस या ग्यारह हजार फुट की ऊंचाई पर भी अंडे देते देखे गये हैं तो हम में कोई आश्चर्य नहीं। इनके अंडों की संख्या ६ से १४ तक होती है। इस जाति के और पक्षियों की तरह इनके भी घोंसले वेढे हुए करते हैं। पर उनकी तरह ये घने जंगलों के प्रेमी नहीं हैं; पहाड़ की खुली जगहों पर विचरना इन्हें अत्यधिक प्रिय है। झुंड बांध कर रहना भी इन्हें प्रिय नहीं, अधिकतर नर-मादा अपनी सतान के साथ विचरण करते हैं, यदि कोई और नर इनके बीच आ गया तो ये मुर्गों की तरह लड़ पड़ते हैं और बेतरह लड़ते हैं, कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ये लड़ते-लड़ते अपनी जान ही दे डालेंगे।

उड़ने में औरो की अपेक्षा ये ज्यादा तेज होते हैं। प्रायः ऊंचे स्वर में कुछ बोलते हुए, दाना चुगते हुए वन में विचरण करते हैं। मनुष्यों को देखकर वनमुर्ग की तरह तुरन्त भाग खड़े नहीं होते बल्कि कभी-कभी मानव-आवास के पास तक दाने की तलाश में आ पहुँचते हैं। नाज के दाने, छोटे पीवें की जड़ें, छोटे-छोटे कीड़े भी इनके आहार हैं।

२. नेपाली कालिज—सफेद चोटीदार के सिवाय, चमकदार नीलाभ काली चोटी वाले कालिज भी काफी प्रमुख हैं, जिन्हें नेपाल-कालिज के नाम से पुकारते हैं और जो

नेपाल के वनों में २,००० फुट से लेकर ६,००० फुट की ऊँचाई तक पाये जाते हैं । नेपाल के समीपवर्ती स्थानों जलपाईगुडी, धनखेता आदि में भी पाये गये हैं । शायद "पर्यटन विविधान् लोकान्"—इधर-उधर घूमते-घामते इन जगहों में भी ये आ जाते हों, पर रहने वाले ये नेपाल के पहाड़ों के ही हैं ।

सिक्किम, भूटान आदि में पाये जाने वाले कालिज की पीठ बिल्कुल काले रंग की होती है । असम तथा दार्जिलिंग के चाय बागानों में भी सँवर करते हुए ये बहुधा नज़र आते रहते हैं । यही नहीं, यदा-कदा यहाँ घोंसले बनाकर चाय के पौधों की झुरमुट में अड़े तक दे डालते हैं—पर ये सिक्किम और भूटान के ही वासी हैं । किन्तु ऊँचे पहाड़ इन्हें पसन्द नहीं । २,००० फुट से ५,००० फुट की ऊँचाई ही इन्हें अधिक प्रिय है ।

ये अधिकतर चुप रहने वाले पक्षी हैं, पर जब गुस्से में आते हैं तो "कूर-कूर" "वाक-वाक" बोलना शुरू कर देते हैं—कहते हैं, इनकी यह ध्वनि युद्ध का आह्वान है ।

कभी-कभी जब ये मौज में आते हैं तो एक प्रकार की दूसरी आवाज़ भी करते हैं जो ढोल के स्वर से मिलती-जुलती है । ग्रामीणों का कहना है कि यह आने वाली वर्षा का पूर्व संकेत है, अर्थात् जब काली पीठवाला कालिज ढोल के स्वर में, आनन्दोत्सास के साथ बोलना आरम्भ करे, तो आप समझ जायें कि वर्षाकाल निकट है ।

३ कालेपेट और काली पूछ वाला एक तीसरे प्रकार का कालिज असम में पाया जाता है । बिहार के मानभूम जिले में भी यह मिलता है पर अधिकांशतः असम और मणिपुर, अराकान आदि के जंगलों में ही पाया जाता है । पता नहीं, मानभूम के जंगल में यह कब और कैसे आया । यही एक जाति है जिसे गर्म जगहें पसंद हैं । सुबह-शाम जंगली रास्तों के दोनों ओर अथवा खेत या सर-सरिताओं के कछार में आप इसे बहुधा दाना चुगते हुए पायेंगे ।

मणिपुर के आस-पास एक और प्रकार का कालिज पाया जाता है जिसके सर का तुरी बिल्कुल स्याह तथा सर, गर्दन, पीठ और डैनें राख के रंग के होते हैं । पूछ काली होती है, परन्तु इस पर सफेद लम्बी धारियां बनी होती हैं । चार हजार फुट से नीचे यह शायद ही उतरता हो । साथ ही, ६,००० फुट से ऊपर का शीत भी इसे पसंद नहीं है । यह मध्यम-भार्य का अनुयायी है ।

उपर्युक्त श्रेणी के चौर, कोकला तथा कालिज पक्षियों के अलावा इसी वंश का एक और पक्षी भी है जिसे कश्मीर में 'नील-मोर', 'जंगली मोर' के नाम से पुकारते हैं तथा कुलू में 'मुनाल', 'करारी' आदि नामों से । कुमाऊ में इसे 'दतिया', नेपाल में 'दाफ्या' कहते हैं । ये तीन प्रकार के होते हैं तथा औरों की अपेक्षा इनकी चोंच अधिक लम्बी एवं घुमी हुई होती है । पूछ छोटी होती है जिसमें १८ पर होते हैं । चोटी हरे रंग की होती है । सर भी हरा होता है—मोर की भाँति—तथा शरीर के अधिकांश स्थानों पर तावा और हरे रंगों का सम्मिश्रण है । पूछ का अंतिम भाग गहरा बादामी, चोंच भूरी, पांव हल्का पीला अथवा बादामी मिला हुआ हरा होता है । दरअसल देखने में इसका रंग बहुत हृद तक मोर जैसा लगता है । कश्मीर, गढ़वाल, नेपाल, चम्पा आदि क्षेत्रों में ये प्राप्य हैं—सिक्किम, भूटान, तिब्बत तो इनका मूल स्थान ही है । शिमला के आसपास ७,००० फुट की ऊँचाई तक भी ये पाये गये हैं । साधारणतः सात-आठ हजार फुट से नीचे ये नहीं उतरते हैं । १४-१५ हजार फुट की ऊँचाई तक ये अड़े देते हुए पाये गये हैं ।

कुलू तथा कांगडा के इलाकों में भी ये काफी सख्या में उपलब्ध है । न्यूजीलण्ड के 'स्वर्ग-पक्षी' की भांति ही इन्हे भी अपनी सुन्दरता के लिए भुगतना पड़ता है । इनके पर बड़े सुन्दर होते हैं तथा देश-देशान्तर में खूब विकते हैं । अतएव पैसे के लोभ में लोग इन्हें जाल में फसा-फसा कर इनके परो को बेचते तथा काफी धन पैदा करते हैं । इसके फलस्वरूप इस जाति के पक्षी सम्य समाज के क्रमशः दूर होते गये हैं—हिमालय के उन प्रदेशों में चले गये हैं जहाँ मनुष्य का पहुँचना आसान नहीं है । फिर भी कुछ तो आज भी शिमला, दार्जिलिंग, सुकेत, चम्पा आदि स्थानों के आसपास जब-तब मिल जाया करते हैं ।

वनमुर्ग और उपर्युक्त पक्षियों में काफी सादृश्य है । यही नहीं, उसके साथ इनकी घनिष्ठ मैत्री भी है । बहुधा आप देखेंगे कि वनमुर्ग के साथ-साथ ही इस जाति के पक्षी भी वनों में विचरण कर रहे हैं । रूप-रंग में भी ये एक-दूसरे से काफी मिलते हैं, फिर भी इनमें भिन्नता है । चौर, कोकला, कालिज, मोनल, न तो वनमुर्ग की तरह तेज ही होते हैं और न तीक्ष्णबुद्धि ही । किसी खतरे के मौजूद होने पर आप देखेंगे कि वन-मुर्ग एक क्षण में ही निर्णय कर लेगा कि उसे क्या करना है, जबकि कालिज आदि मिनटों तक इस सोच-विचार में पड़े रहेंगे कि हम क्या करें । ढिठाई में वनमुर्गों की अपेक्षा ये जरूर ही बड़े-चड़े हैं तथा मनुष्य को देखकर जिस प्रकार वनमुर्ग पल-मात्र में दौड़ कर आख से ओझल हो जाते हैं, ये नहीं होते और न वनमुर्ग की भांति ये शोर ही मचाते हैं । सुबह-शाम बोलते हैं, कूकते हैं, पर उनकी तरह दिन भर बोल-बोल कर पर्वत-घाटियों की शान्ति को भग नहीं करते ।

जरूरत पड़ने पर ये काफी उड़ लेते हैं, पर मुर्ग की तरह पखों की वनिस्वत पाव से काम लेना इन्हे अधिक प्रिय है । ये सर्व-भक्षी होते हैं । इन्हे पालतू बना कर रखना बड़ा कठिन है, बरसों पिंजड़े में रहेंगे, पर जगली बने रहेंगे, सम्य न होंगे । इनके लड़ने का ढंग भी विचित्र है । फर्ज कीजिए, दो नरों में आपस में तकरार हो गयी । वे एक दूसरे से लड़ने के लिए कमर कस कर तैयार हो जाएंगे । दोनों जोर-जोर से धरती पर पाव पटकेंगे, हुकार भरेंगे, ताल ठेंकेंगे, पर अंत में इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि लड़ना फिजूल है और धीरे से धुम दबा कर अन्यत्र चल देंगे या दाना चुगने लगेंगे ।



## वनमुर्ग

पर्वतीय चौर, कोकला, कालिज आदि पक्षियों से इसका घनिष्ठ सादृश्य है (चित्र सख्या ८२) । उनकी ही तरह इसके नर-मादा के परो में काफी अन्तर है, मादा की अपेक्षा नर कद में बड़ा होता है । ऐसे घने वन में, जिसके आस-पास जल आसानी से मिलता हो, ये पाये जाते हैं ।

इन देश में पाये जाने वाले वनमुर्ग के सर पर एक मासयुक्त तुरी होता है तथा गले के दोनों ओर लटकती हुई रंगीली के जैसी दो टोपिया होती हैं । पूछ में १४ पर होते हैं, एक जाति के वनमुर्ग के १६, जिनमें नर के मध्य भाग के पर औरों से अधिक लम्बे होते

हैं। पक्ष गोलाकार तथा गठीले होते हैं। गर्दन तथा पीठ के पर काफी लम्बे तथा पाव मजबूत होते हैं। नर के पाव पर लम्बे तथा कटीले उभड़े हुए स्थल होते हैं, जिनकी मदद से ये दुश्मन पर पूरी तरह आघात-प्रत्याघात करने में समर्थ हो पाते हैं।

इस देश के प्रायः सभी हिस्सों में प्राप्त यह वनमुर्ग रक्तवर्ण होता है जो कि कश्मीर से लेकर असम तक के पहाड़ी प्रदेशों में उपलब्ध है। पूर्व बंगाल, पश्चिम बंगाल का पर्वतीय हिस्सा, छोटा नागपुर, मध्य प्रदेश, गोदावरी से उत्तर उड़ीसा का समस्त भाग, इन सभी स्थानों में भी इसने अपना घर बना रखा है। पर सिन्ध में यह बिल्कुल ही नहीं होता।

सर का तुरा तथा गले से लेकर पीठ तक के बाल चमकीले नारंगी-लालरंग के होते हैं।

अन्य स्थलों के बालों में स्थान-भेद से लाल, हरे, नीले रंगों का सम्मिश्रण होता है। मादा के सर का ऊपरी हिस्सा कालापन लिये हुए बादामी रंग का होता है। दरअसल मादा के सारे बदन पर ललछोह बादामीपन अधिक है।

जोड़ा बाधने के समय तक वनमुर्ग का रंग तेज रहता है पर उसके बाद इसमें मलिनता आ जाती है।

अप्रैल से लेकर जून तक इसके जोड़ा बाधने—अंडा देने—का समय है। किसी ऐसे स्थान में, जो मानव-दृष्टि से ओझल हो, झाड़ियों के बीच, दस-बीस टहनियाँ रखकर मादा अंडे देती है। इनकी संख्या ५ से ७ तक होती है। बीस दिन में अंडों से बच्चे बाहर निकल आते हैं।

ऐसे तो ये ६,००० फुट की ऊँचाई तक पाये जाते हैं, पर अधिकतर पहाड़ के किनारे अथवा घाटियों में रहना ज्यादा पसन्द करते हैं। ये बड़े लडाकू होते हैं, अपने तीक्ष्ण पावों की मदद से दुश्मन या प्रतिद्वन्द्वी की जान तक ले लेते हैं। दिल्ली तथा लखनऊ में मुस्लिम शासन के दिनों में मुर्गों की लड़ाई की बड़ी धूम थी। नवाबों, अमीर-उमरा तथा बादशाहों को इसे देखने का बड़ा शौक था। पता नहीं, उन दिनों में इन वनमुर्गों की पूछ राज-दरवार में थी या नहीं। शायद नहीं, क्योंकि इन्हें पालना कोई आसान काम नहीं है। बरसों इन्हें आप अपने पास रखें, इनकी आव-भगत करें, खिलायें-पिलायें, पर मौका पाते ही ये वन की ओर दौड़ भागेंगे, भूल कर भी आपकी ओर न देखेंगे। यह इनका जाति-गुण है।

दो किस्म के जंगली मुर्ग इस देश में बहुतायत से पाये जाते हैं—एक वह जिसकी ऊपर चर्चा की गई है, दूसरा वह जिसके रंग में भूरापन अधिक है। शरीर पर हल्के पीले अथवा सफेद छोटों की अधिकता भी। पैर पाले अथवा ललछोह, चंगुल स्याह, चाँच में कालापन। मादा के रंग में हल्के ढंग का बादामीपन अधिक है तथा सफेद चित्त भा।

भारत के दक्षिणी तथा पश्चिमी इलाकों में, हर जगह, इनका आस्तित्व है। पूर्वोत्तर तट पर गोदावरी नदी तक, तथा मध्य प्रदेश के बन्धु प्रदेशों में, एवं राजपूताना में आवू पर्वत तक में ये प्राप्य हैं, पर इससे आगे के इलाकों में नहीं। दक्षिण के नालागिर तथा सतपुड़ा की पहाड़ियों में भी आप इन्हें देख सकते हैं।

रक्तवर्ण वनमुर्ग की भाँति ये दल बाध कर नहीं रहते; एकान्त प्रिय हैं तथा अधिकतर नर-मादा ही एक सग रहते हैं, और नहीं। घने जंगलों में ये निवास करते

## भारत के पक्षी

ह, पर सुबह-शाम भोजन की तलाश में झुरमुट से बाहर विचरते हुए भी नजर आते हैं। किसी खतरे की आशंका होते ही उड़ कर फौरन किसी दरख्त की डाल पर जा बैठते हैं। समय के बड़े पाबन्द हैं, आप हर रोज एक ही वक्त पर, और अधिकतर एक ही स्थान पर, इन्हें दाना चुगते हुए पायेंगे।

लाल मुर्गे की तरह ये झगडालू अथवा लडाकू नहीं होते। एकान्तप्रियता के साथ-साथ इनमें शान्तिप्रियता भी काफी मात्रा में है। मादा शायद ही कभी अपनी जुवान खोलती हो, पर नर सुबह-शाम बोलते हैं, हाँ, औरों की तरह ये शोर नहीं मचाते और न इन्हें पालतू बना कर रखना ही उतना दुष्कर है जितना की लाल मुर्गों को।

